

इस्लाम एक दृष्टि में

लेखक
मौलाना सदरुद्दीन इस्लाही

अनुवादक
एस. कौसर लईक

नई दिल्ली - ११०००२

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट प्रकाशन नं.

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

नाम मूल किताब (उर्दू) : इस्लाम एक नज़र में
लेखक : मौलाना सदरुद्दीन इस्लाही
अनुवादक : एस. कौसर लईक
प्रकाशक : मर्कज़ी मक्तबा ईसलामी मद्रक :
संस्करण

प्रथम बार सन् १९९९ में

मूल्य :

विषय- सूची

भूमिका

एक लम्बे समय से इस बात की ज़रूरत महसूस हो रही थी कि एक ऐसी किताब तैयार की जाए, जो इस्लाम का सटीक और सुस्पष्ट परिचय करा दे। उसमें न तो बहस का सुक्ष्म-ज्ञानपरक ढंग अपनाया गया हो, न वार्ता आंशिक विषयों तक फैली हुई हो और न कुछ पहलुओं को ज़्यादा उभारा और कुछ को दबा दिया गया हो बल्कि बहुत ही साफ़ और स्पष्ट शैली में और पूरे सन्तुलन के साथ यह बताया गया हो कि इस्लाम क्या है? उसकी वास्तविकता और उसका उद्देश्य क्या है? उसके मूल तत्व और उसकी मौलिक शिक्षाएँ क्या हैं? समुचित रूप से उसकी क्या रूप-रेखा है? मानव को वह कौन-सा दृष्टिकोण देता, किस चरित्र और आचरण पर उभारता और किस प्रकार का जीवन गुज़ारने का निर्देश देता है?— यह पुस्तक इसी आवश्यकता के एहसास का परिणाम है। प्रयास किया गया है कि यह आवश्यकता इस पुस्तक से पूरी हो जाए तथा जो लोग मुसलमान होने के उपरान्त भी सही रूप से यह नहीं जानते कि इस्लाम वास्तव में है क्या — वे मात्र इसी एक पुस्तक के अध्ययन से मौलिक और आवश्यक सीमा तक, उसे उसके शुद्ध रूप में देख लें। इस प्रयास में व्यावहारतः जितनी सफलता मिल सकी है वह मात्र अल्लाह का फ़ज़ल (कृपा) है और जो भी असफलता लक्षित होती है, वह बन्दे की अल्पज्ञता और चिन्तन की कमी का परिणाम है।

इस पुस्तक में आप संक्षिप्त वर्णन भी पाएँगे और सविस्तार वर्णन भी। इसका कारण मात्र समय की माँग है। 'दीन' (धर्म) की जिन बातों से लोग आम तौर पर परिचित हैं, या जिन पहलुओं पर लिखने और बोलने वाले प्रायः बल दिया करते हैं, उचित यही था कि उन पर विस्तृत बहस न की जाए। किन्तु जिन धार्मिक विचारों और समस्याओं का मामला इसके विपरीत है, जिनसे लोग सामान्यतः बहुत कम परिचित हैं और जिन पर लिखने और बोलनेवाले भी आवश्यक ध्यान नहीं दिया करते, उनके सम्बन्ध में अपेक्षित यही था कि उन पर ज़रा फैल कर विचार किया जाए। इसी प्रकार 'दीन' के वे पहलू जिनके बारे में यही नहीं कि लोग बहुत कम जानते हैं, बल्कि जो जानकारी भी रखते हैं वह सही नहीं है और उनके पूरे महत्व को न तो विचार की दृष्टि से स्वीकार्य किया जाता है और न व्यावहारिक दृष्टि से, उनका यह न भुला सकने वाला हक़ था कि उनके बारे में विस्तार और विवेचना दोनों से कम लिया जाए।

अल्लाह तआला से दुआ है और आप से यह निवेदन है कि आप इस दुआ पर निष्ठा के साथ आमीन कहें कि जिस उद्देश्य से यह किताब लिखी गई है उसे यह पूरा करे, आम लोगों के लिए इसे इस्लाम के ज्ञान का साधन और इस गुनहगार के लिए आखिरत का पाथेय बनाए।

(आमीन)

सदरुद्दीन इस्लाही

रबीउस्सानी, सन् १३८१ हिजरी

अर्थ तथा अभिप्राय

इस्लाम का मौलिक अर्थ

शब्दकोशानुसार “इस्लाम” का अर्थ “आज्ञानुपालन” होता है, किन्तु धर्म की परिभाषा में इस शब्द का अर्थ वह आज्ञानुपालन होता है, जो अल्लाह तआला के लिए हो तथा ‘मुस्लिम’ वह होता है जो अल्लाह तआला के आदेशानुसार जीवन व्यतीत करे और उसके आदेशों से मुँह न मोड़े।

नैसर्गिक इस्लाम

‘अल्लाह के आदेशों’ के सम्बन्ध में हम सभी जानते हैं कि वे दो प्रकार के होते हैं! नैसर्गिक और वैधानिक अर्थात् वे जिनका सम्बन्ध शरीरत या कर्मकाण्ड से होता है।

‘नैसर्गिक आदेश’ उन आदेशों को कहते हैं, जिनका पालन अनिवार्यतः करना ही पड़ता है और जिनका उल्लंघन असम्भव होता है, क्योंकि सृष्टि की प्रत्येक चीज़ पैदा ही इस तरह की गई है कि वह उन आदेशों के पालन करने हेतु विवश है। और उसे पैदाइशी तौर पर इस बात की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं प्राप्त है कि चाहे तो उन पर अमल करे और चाहे तो न करे। उदाहरणार्थ – सूरज को उसके और इस समस्त संसार के स्वामी का आदेश है कि वह एक नियत समय पर उदय हो और एक नियत समय पर अस्त हो जाए। पृथ्वी से एक निश्चित दूरी पर रहे और उसे प्रकाश और ऊष्मा पहुँचाए। सूर्य इन आदेशों के अनुपालन के लिए विवश है। उसे यह शक्ति प्राप्त नहीं कि वह उनके अनुपालन से कभी इनकार कर जाए। इसी प्रकार हवा को इस बात का आदेश है कि वह जीवधारियों को जीवित रखे। पानी को आदेश है कि प्यास बुझाए, अग्नि को आदेश है कि जलाए और मनुष्य को आदेश है कि वह मुख से बोले, कान से सुने नाक से सूँघे। और यह सब के सब इस बात पर बाध्य हैं कि इन आदेशों की पाबन्दी करें। इसके प्रतिकूल कोई मार्ग अपनाना उनके वश में है ही नहीं। इस प्रकार के आदेशों को नैसर्गिक विधान और प्राकृतिक नियम भी कहते हैं। सामान्यतः इस विधान के ये ही नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

“वैधानिक आदेश” अल्लाह तआला के उन आदेशों को कहते हैं, प्राणी जन्मजात जिनकी पैरवी पर बाध्य नहीं होता, बल्कि उनकी पैरवी स्वतन्त्र रूप से स्वेच्छा पूर्वक होती है। लोग इस बात पर स्वतन्त्र होते हैं कि चाहें तो अमल करे, चाहें तो न करें। उदाहरणार्थ मनुष्य को आदेश है कि वह एक ईश्वर की बन्दगी करे, किन्तु वह ऐसा करने के लिए पैदाइशी तौर पर विवश नहीं है, बल्कि उसे इस बात का अधिकार दिया गया है कि चाहे तो उसी एक ईश्वर की बंदगी करे, चाहे तो उसके साथ हजारों को खुदा बना ले और चाहे तो सिरे से खुदा और खुदाई ही से इनकार कर बैठे। इन आदेशों को “संवैधानिक आदेश” या “शरीरत के नियम” भी कहते हैं।

ये दोनों प्रकार के आदेश समान रूप से अल्लाह ही के आदेश हैं। चूँकि अल्लाह तआला के आज्ञानुपालन ही का नाम इस्लाम है, इसलिए उनमें से प्रत्येक का अनुपालन अर्थ की दृष्टि से “इस्लाम” ही होगा। यह एक स्पष्ट और खुली सच्चाई है।

फिर चूँकि जड़ पदार्थों से लेकर मनुष्य और फ़रिश्तों तक सृष्टि में कोई भी ऐसा नहीं है, जो अपने म्रष्टा के अधीन न हो और जिसे नैसर्गिक या संवैधानिक किसी प्रकार के आदेश न दिए गए हों, इसलिए इस्लाम और ‘मुस्लिम’ होने का मसला मात्र इनसानों तक ही सीमित नहीं रह जाता, बल्कि सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त होता है और इस्लाम ईश्वर द्वारा रचित किसी एक रचना का नहीं, बल्कि सारे जगत् के जड़ या चेतन सभी का धर्म ठहरता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि की उन समस्त चीज़ों का धर्म भी ‘इस्लाम’ ही है, जिन्हें संकल्प और अधिकार की स्वतन्त्रता से वंचित रखा गया है और जिनको मात्र नैसर्गिक आदेश दिए गए हैं। इसी तरह चूँकि वे इन हुकमों की पूरी-पूरी पाबन्दी अनिवार्यतः करती हैं, इसलिए वे सब की सब ‘मुस्लिम’ और पूर्ण ‘मुस्लिम’ हैं— यह सूर्य ‘मुस्लिम’ है; क्योंकि वह उसी एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार भ्रमण करता है, उदय और अस्त होता है, गर्मी पहुँचाता और रौशनी फैलाता है, जो उसके लिए नियत कर दिया गया है। ये चाँद और सितारे ‘मुस्लिम’ हैं क्योंकि उन पर जिन नियमों की पाबन्दी अनिवार्य की गई है, वे उनका कभी उल्लंघन नहीं करते। यह वायु ‘मुस्लिम’ है, क्योंकि यह उसी तरह चलती, उसी तरह बादलों को हँकाती उसी प्रकार वनस्पतियों को आहार देती और ताजगी प्रदान करती और उसी प्रकार जीवधारियों को जीवित रखती है, जिस तरह उसे आदेश दिया गया है। यह जल ‘मुस्लिम’ है, क्योंकि यह पृथ्वी को सिंचित करता है। पौधों को उगाता है, प्यास बुझाता, है और ऊष्मा पाकर भाप बन जाता है और यही कुछ उसके सृष्टिकर्ता व स्वामी की ओर से उसका कर्तव्य ठहराया गया है।

यह बात कि उन सभी का समस्त धर्म भी ‘इस्लाम’ है, जिनमें संकल्पशक्ति नहीं पाई जाती, यह बात मात्र बुद्धि और अनुमान के आधार पर नहीं कही जा रही है, बल्कि इसका मूलधार कुरआन की स्पष्ट और खुली व्याख्याएँ हैं। जैसा कि कुरआन में है—

“क्या ये (सत्य का इनकार करनेवाले) अल्लाह के ‘दीन’ (धर्म) से हटकर किसी और धर्म के इच्छुक हैं जबकि वे सब के सब उसी के ‘मुस्लिम’ (आज्ञानुपालक) हैं, जो आकाशों में और पृथ्वी पर हैं।”

— कुरआन, ३:८३

ये शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि आकाशों से लेकर पृथ्वी तक सृष्टि की हर चीज़ —सत्यधर्म के इनकारी इनसानों और जिनों के सिवा— अल्लाह की 'मुस्लिम' है और हरेक का धर्म 'इस्लाम' ही है।

एक और आयत देखें जो इसी यथार्थ को दूसरे शब्दों में बयान कर रही है—

“सातों आसमान और ज़मीन और वह जो उनमें हैं सबके सब अल्लाह की पवित्रता और उच्चता बयान कर रहे हैं। इस जगत् की कोई वस्तु भी ऐसी नहीं जो उसकी महिमा के साथ उसका गुणगान न कर रही हो, किन्तु तुम उनके गुणगान को समझते नहीं।”

— कुरआन, १७:४४

एक तीसरी आयत और देखें—

“क्या तुमने नहीं देखा कि वास्तव में सभी अल्लाह को 'सजदा; कर रहे हैं, वे जो आकाशों में हैं और वे जो ज़मीन में हैं — और सूरज, चौर चाँद और तारे और पहाड़ और पेड़ और चौपाए और बहुत से इनसान।”

— कुरआन

२२:१८

ज्ञात हुआ कि सृष्टि की एक-दो चीज़ नहीं अपितु ये आकाश व ज़मीन, ये चाँद और सूरज, ये सितारे और ग्रह, यह हवा और पानी, ये पेड़ और पौधे, ये नदी और पहाड़, ये और पक्षी ये इनसान और जिन्न — मतलब यह कि कण से लेकर सूरज तक प्रत्येक छोटे-बड़े जीवधारी निर्जीव, बुद्धिवाले और बुद्धिहीन आदि अल्लाह पालनहार का 'गुणगान' कर रहे हैं और उसी के आगे बिछे हुए हैं। इस महिमागान और गुणगान का और इस सजदे का कम से कम इतना अर्थ तो स्पष्ट ही है कि सृष्टि की ये चीज़ें उन आदेशों और नियमों की बाल-बाल पाबंदी करती रहती हैं जो उनके लिए अल्लाह तआला ने नियत किए हैं और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व और गुणों की अपनी मूक भाषा में गवाही देती रहती हैं।

इन आयतों ने यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी कि सृष्टि की वे सारी चीज़ें जो अपने संकल्प और स्वेच्छा से कुछ करने अधिकार नहीं रखती उनका धर्म 'इस्लाम' ही है, किन्तु उन्हें जो आदेश दिए गए हैं वे चूँकि नैसर्गिक प्रकार के हैं, इसलिए उनके इस्लाम का आकार-प्रकार भी “नैसर्गिक या जन्मजात” इस्लाम का होगा और उनको “नैसर्गिक या जन्मजात” मुस्लिम कहा जाएगा।

संवैधानिक और परिभाषिक इस्लाम

अब सृष्टि के उन जीवों लीजिए जिन्हें संकल्प और स्वेच्छा से कुछ करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है उनकी स्वाभाविक स्थिति यह है कि यदि बहुत-सही बातों में वह भी पहले प्रकार की सृष्टि की चीज़ों की ही तरह विवश और अनाधिकार हैं, तो बहुत से मामलों में इस तरह विवश व अधिकारहीन नहीं भी हैं, वरन् जन्म से ही उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त है कि उन मामलों में जो नीति चाहें, अपनाएँ। उदाहरणार्थ — मानव के लिए अल्लाह तआला के कुछ क़ानून ये हैं कि वे आँख से देखने का, कान से सुनने का और ज़बान से बोलने का काम ले और कुछ अन्य विधान ये हैं कि वे आँख से अमुक चीज़ देखे, और अमुक चीज़ न देखे। कान से इस प्रकार की बातें सुने इस प्रकार की न सुने। उसकी ज़बान से इस प्रकार की बातें निकलें, और इस प्रकार की न निकलें। पहले प्रकार के क़ानून का अनुपालन तो वह अनिवार्य रूप से करता है, क्योंकि उन आदेशों में उसे अनुपालन करने व न करने की कोई स्वतंत्रता दी ही नहीं गई है, इसलिए वह विवश है कि उन्हीं क़ानूनों के अनुसार व्यवहार करे, किन्तु दूसरे प्रकार के क़ानून के सम्बन्ध में उसे इस प्रकार की कोई विवशता नहीं है। वह चाहता है, तो उन पर अमल करता है, चाहता है तो नहीं करता। इस सम्बन्ध में उसे आज्ञा अनुपालन और आज्ञा न मानने दोनों की स्वतन्त्रता मिली हुई है। इसलिए जिस प्रकार पहली किस्म के आदेशों की हद तक और जीवन के अनाधिकारिक क्षेत्रों में, सम्पूर्ण मनुष्यों का 'इस्लाम' भी नैसर्गिक और पैदाइशी इस्लाम ही कहा जायेगा, इसी प्रकार जीवन के शेष-अर्थात् अधिकार प्राप्त क्षेत्र में उनके इस्लाम को वैधानिक और ऐच्छिक इस्लाम कहना चाहिए। किन्तु इस्लामी परिभाषा में “शरई अहकाम” (संवैधानिक आदेश) के लिए 'शरई आदेश' या संवैधानिक व ऐच्छिक इस्लाम के लिए 'संवैधानिक व ऐच्छिक इस्लाम' के शब्द प्रयुक्त नहीं किए गए हैं। बल्कि संवैधानिक और ऐच्छिक के बन्धन के बिना मात्र 'अहकामे इलाही' (अर्थात् ईश्वरीय आदेश) और इस्लाम के शब्दों के प्रयोग को पर्याप्त समझा गया है। कारण इसका बिलकुल स्पष्ट है। जो सृष्टि के जीव नैसर्गिक आदेश के साथ-साथ संवैधानिक आदेश की भी पाबन्द हैं। उनकी हद तक अनुपालन और अनुपालनफल के ऐतबार से नैसर्गिक आदेश का कोई महत्व शेष ही नहीं रह जाता और शरई और संवैधानिक आदेश ही सब कुछ बन जाते हैं। इसलिए आम वार्ता में “ईश्वरीय आदेश” और “इस्लाम” का शब्द उचित रूप से मात्र इन शरई व संवैधानिक आदेश के लिए विशिष्ट होकर रह जाना चाहिए था और यही किया गया है।

फिर इसी बात की अपेक्षा यह भी हुई कि जो लोग तशरीई और संवैधानिक आदेशों का न मानें उनके लिए “मुस्लिम” का शब्द बिलकुल ही प्रयोग न किया जाए। हालाँकि वे इस स्थिति में भी नैसर्गिक आदेशों की पूरी तरह पाबन्दी कर रहे होते हैं और अतः उनकी हद तक तो वे अनिवार्य 'मुस्लिम' ही होते हैं, लेकिन चूँकि ऐच्छिक इस्लाम के न होने की स्थिति में अनैच्छिक इस्लाम का कोई मूल्य नहीं रह

जाता। इसलिए इसको कोई महत्व भी नहीं दि या जाता और शरीअत की परिभाषा में किसी व्यक्ति को 'मुस्लिम' केवल उस समय कहा जाता है जब वह "नैसर्गिक आदेशों" के अनैच्छिक अनुपालन से आगे बढ़कर संवैधानिक आदेशों के समक्ष भी स्वेच्छापूर्वक झुक चुका हो।

इस्लाम और इनसान:-

जैसा कि इशारा किया जा चुका, जिन प्राणियों को संकल्प और कुछ करने का अधिकार दिया गया है, इनसान भी उन्हीं में से एक है और न यह कि उन्हीं में से एक है बल्कि इस मामले में उसे एक विशिष्टता भी प्राप्त है। इसलिए स्वाभाविक रूप से उसे शरई (संवैधानिक) आदेश भी दिए गए हैं। कुरआन मजीद कहता है कि जिस वक़्त पहला इनसान इस दुनिया में बसने के लिए भेजा जा रहा था उसी वक़्त अल्लाह तआला ने एलान कर दिया था कि -

“अतः अगर मेरे यहाँ से तुम्हारे निकट कोई हिदायत पहुँचे तो जो लोग मेरी हिदायत की पैरवी करेंगे उनके लिए कोई भय की बात न होगी और न वे शोकाकुल होंगे और जो लोग इनकार के रास्ते पर चलेंगे और हमारी आयतों के झुठलाएँगे, वे दोज़खी होंगे।”

— कुरआन, २:३९

इस ऐलान में “हिदायत” यानी ‘शरई आदेश’ भेजने की बात ज़ाहिर में “अगर” की शर्त के साथ कही गई थी, किन्तु वास्तव में यह शर्त नहीं है, बल्कि बात करने का एक शाहाना अन्दाज़ है और अर्थ यह है कि तुम्हारे पास मेरे आदेश (अहकाम) अनिवार्यतः आएँगे, जिनका अनुपालन करना तुम्हारा अनिवार्य कर्तव्य होगा।

अतएव व्यवहारतः जो कुछ हुआ उसका स्पष्टीकरण कुरआन मजीद के इस फ़रमान से होता है:-

“कोई उम्मत ऐसी नहीं हुई जिसमें कोई सचेत करनेवाला न गुज़रा हो।”

— कुरआन, ३५:२४

इन दोनों आयतों से स्पष्ट हो जाता है कि इस ज़मीन पर इनसान की आबादी और शरई आदेशों का आना— दोनों एक साथ शुरू हुए हैं और उस समय से आज तक यह मानवीय जगत् धर्म तथा शरीअत (ईश-विधान) से कभी खाली नहीं रहा है और कोई उम्मत (समुदाय) नहीं जो अल्लाह तआला की हिदायत व मार्गदर्शन से वंचित और अनभिज्ञ रखी गई हो, जैसाकि मानव के स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त प्राणी हाने को अपेक्षित था।

प्रत्येक समुदाय का धर्म इस्लाम था

चूँकि शरई आदेश के वे सारे ग्रन्थ जो पहले दिन से आज तक आए हैं, सबके सब अल्लाह तआला ही के भेजे हुए थे, इसलिए उनमें से हर एक का अनुपालन अल्लाह तआला ही का आज्ञानुपालन था और इस आधार पर उनमें का प्रत्येक आदेश-संग्रह अर्थात् प्रत्येक धर्म वास्तव में इस्लाम ही था, और उनके माननेवाले सब-के-सब वास्तव में मुस्लिम ही थे। यह एक ऐसी बात है जिस पर अक्ल का फ़ैसला और कुरआन मजीद की गवाही दोनों एकमत हैं। हज़रत इबाराहीम (अलै.) के बारे में आदेश होता है:-

“इबाराहीम न यहूदी था न ईसाई, वरन् ऐसा मुस्लिम था, जो हर तरफ़ से कटकर अल्लाह ही के लिए एकाग्र हो चुका था।

— कुरआन, ३:६७

एक और जगह हज़रत इबाराहीम (अलै.) और उनकी औलाद - हज़रत इसमाईल, हज़रत इसहाक़, हज़रत याकूब, हज़रत यूसुफ़ (अलै.) आदि - सभी के बारे में फ़रमाया गया है कि -

“याद करो उस समय को जबकि इबाराहीम से उसके पालनहार ने कहा था कि ‘मुस्लिम’ (अर्थात् आज्ञाकारी) बन जा, तो उसने जवाब दिया था कि मैं सारे लोकों के स्वामी का ‘मुस्लिम’ बन गया। फिर इसी बात की वसीयत की थी इबाराहीम ने अपनी सन्तान को और याकूब ने अपनी सन्तान को कि ऐ मेरे बेटो! अल्लाह ने तुम्हारे लिए यह दीन (धर्म) चुना है। इसलिए देखना अन्तिम श्वास तक ‘मुस्लिम’ रहना उन्होंने जवाब में कहा था कि हम बन्दगी करेंगे आपके पूज्य की और हम उसी के मुस्लिम (आज्ञापालक) हैं।

— कुरआन, २:१३१-१३३

कुरआन मजीद में इसी प्रकार के सविस्तार विवरण हज़रत लूत, हज़रत मूसा, हज़रत सुलैमान और हज़रत ईसा (अलै.) आदि नबियों के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत किया गया है और स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वे और उनके अनुयायी सब-के-सब ‘मुस्लिम’ थे औ सबका धर्म ‘इस्लाम’ ही था।

‘इस्लाम’ केवल अंतिम धर्म का नाम है

इस वास्तविकता की मौजूदगी में जिसका अभी उल्लेख किया गया है, किसी भी ईश्वरीय धर्म को दूसरे धर्मों के मुकाबले में नाम और अभिव्यंजना की दृष्टि से कोई विशिष्टता प्राप्त न होनी चाहिए आश्र चाहे कुरआनी शरीअत (कुरआन-विधान) हो चाहे तौराती, हज़रत आदम (अलै.) का लाया हुआ धर्म हो या हज़रत नूह (अलै.) का, हज़रत इबाराहीम (अलै.) पर नाज़िल होनेवाली हिदायत (मार्गदर्शन)

हो या हज़रत ईसा (अलै.) पर – नाम भी सभी का एक समान रूप में ‘इस्लाम’ और उनके अनुयायियों का मुस्लिम ही होना चाहिए, जिस प्रकार कि अपनी असल और हक़ीक़त की दृष्टि से ये सारी शरीअतें एक समान रूप से ‘इस्लाम’ ही थीं और उन सभी के अनुयायी ‘मुस्लिम’ ही थे। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है, बल्कि इससे भिन्न है! और वह यह कि कुरआन की विशेष परिभाषा में ‘इस्लाम’ मात्र उसी एक धर्म का नाम है जिसे वह स्वयं प्रस्तुत करता है और जिसको आख़िरी नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) पर उतारा गया था। इसी प्रकार ‘मुस्लिम’ का नाम भी मात्र उन्हीं लोगों के लिए विशिष्ट है जो इसी आख़िरी धर्म के माननेवाले हैं। अतः वह जब “अल-इस्लाम” का शब्द प्रयोग करता है, तो उस समय उससे अभिप्रेत ‘इस्लाम’ का सामान्य अर्थ नहीं होता, बल्कि इससे अभिप्रेत खास वही एक धर्म और ईश्वरीय आदेशों का संकलन होता है। उदाहरणार्थ – “मुसलमानों! आज मैंने तुम्हारे लिए तुम्हारे धर्म को परिपूर्ण कर दिया और तुम पर धर्मके रूप में केवल ‘इस्लाम’ को पसन्द किया।

– कुरआन ५:३

“निस्सन्देह, अल्लाह के निकट प्रिय एवं स्वीकृति धर्म ही इस्लाम है।”

– कुरआन ३:१९

इन आयतों में “अल-इस्लाम” स्पष्टतः खास उसी एक धर्म को कहा गया है, जो कुरआन और हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का लाया हुआ धर्म है।

जहाँ तक ‘मुस्लिम’ नाम का सम्बन्ध है, तो इसका मामला उससे भी अधिक स्पष्ट है। कुरआन मजीद का यह आदेश सुनिए:-

“..... उसी ने तुम्हारा नाम पहले ही से और इसी चीज़ को देखते हुए ‘मुस्लिम’ रखा है।”

– कुरआन,

२२:७८

ये शब्द अपने आशय में बिलकुल साफ़ और स्पष्ट हैं। यह निर्णायक ढंग में कहते हैं कि भावत्मक दृष्टि से और गुणधर्म के आधार पर यद्यपि वे तमाम लोग भी ‘मुस्लिम’ ही थे, जो पिछले ज़मानों में किसी नबी पर ईमान लाए थे, किन्तु यह इम्तियाज़ी शान मात्र उसी आख़िरी दीन के माननेवालों को प्राप्त है कि भावात्मक दृष्टि से मुस्लिम होने के साथ-साथ जाहिरी नाम व उपाधि भी उनकी “मुस्लिम” ही है। उनके सिवा ईमानवालों का और कोई गिरोह नहीं जिसका नाम भी मुस्लिम रखा गया हो। यदि ऐसा होता कि दूसरों का नाम भी मुस्लिम होता तो यह कहे जाने का कोई अवसर न होता कि उसने तुम्हारा नाम मुस्लिम रखा है, क्योंकि जब ईमानवालों के दूसरे तमाम गिरोह भी नाम की दृष्टि से मुस्लिम ही थे तो किसी एक गिरोह के बारे में यह स्पष्टीकरण व्यर्थ होता कि उसका नाम मुस्लिम रखा गया है। इसलिए कुरआन करीम में जब भी किसी और समुदाय या गिरोह को मुस्लिम कहते सुना जायेगा (जैसा कि प्रायः कहा गया है) तो यह वास्तव में इसके भावात्मक दृष्टिकोण की सूचना मात्र होगी या इस प्रकार कहिए कि उसका गुणवाचक नाम होगा, पारिभाषिक नाम और उपाधि न होगी।

विशिष्टता का कारण

प्रश्न किया जा सकता है कि यह विशिष्टता क्यों है? जब कि दूसरे नबियों के लाए हुए दीन (धर्म) भी उसी तरह अल्लाह ही के भेजे हुए थे। जिस तरह कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का लाया हुआ दीन (धर्म) है। और उनके अनुयायी भी उसी प्रकार अल्लाह तआला के मुस्लिम और आज्ञापालक थे जिस प्रकार कि इस धर्म के अनुयायी हैं, तो “इस्लाम” नाम सिर्फ़ इसी एक धर्म का और मुस्लिम नाम मात्र इसी एक धर्म के अनुयायियों का क्यों हुआ? अगर वास्तव में सभी धर्म “इस्लाम” ही थे और अन्य सभी नबियों के मानने वाले भी “मुस्लिम” ही थे तो उन सबका नाम व उपाधि भी “इस्लाम” और “मुस्लिम” क्यों न ठहराया गया? इसका उत्तर यह है कि नाम रखे जाने के एक सुपरिचित और महत्वपूर्ण नियम के आधार पर ऐसा हुआ है, अकारण नहीं हुआ है। नियम यह है कि एक विशेषता यदि बहुत से लोगों में पाई जाती हो तो इस बात का हक़दार कि वह विशेषता उसका नाम और उसकी उपाधि भी बन जाय केवल वही व्यक्ति होता है। जिसमें विशेषता दूसरे प्रत्येक व्यक्ति की तुलना में बढ़ी हुई होती है, क्योंकि किसी विशेषता का किसी व्यक्ति का नाम पड़ जाना वास्तव में इस दावे को प्रकट करना होता है कि इस व्यक्ति के अन्दर यह विशेषता अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई है। और दूसरों में भी यद्यपि पाई जाती है लेकिन इस सीमा तक नहीं पायी जाती तथा इस सम्बन्ध में वे इससे इतने पीछे हैं कि इस सूरज के सामने उन सितारों की रौशनी मानो कि शेष ही नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ— ‘सिद्दीक्रियत (सत्यवान होना) एक विशेषता है, जो कितने ही अल्लाह कितने ही अल्लाह के बन्दों को प्रदान हो चुकी है। किन्तु पिसिदीक़ शब्द उपाधि स्वरूप केवल हज़रत अबूबक्र (रज़ि.) के लिए खास है। इसका यह अर्थ तो किसी प्रकार नहीं हो सकता कि सिद्दीक्रियत के मक़ाम पर सिर्फ़ आप (रज़ि.) ही सुशोभित थे। और दूसरे तमाम सहाबा (रज़ि.) इससे वंचित थे। जबकि उन महानुभावों में ऐसे लोग भी मौजूद है जिनके बारे में नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि यदि नुबूत ख़त्म न हो गई होती तो वे नबी होते। इसलिए यकीन के साथ कहा जा सकता है कि इस पवित्र समुदाय में एक-दो नहीं अनगिनत “सिद्दीक़” थे। फिर क्या कारण है कि “सिद्दीक़” की उपाधि से सुसज्जित होने का सौभाग्य सिर्फ़ हज़रत अबूबक्र (रज़ि.) के हिस्से में आया? स्पष्ट है, इसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि वे ‘सिद्दीक्रियत’ के गुण में सबसे बड़े हुए थे। जैसा कि इस्लामी इतिहास की पुस्तकें, इस्लामी

महानुभावों के जीवन पृतान्त और हदीसों की पुस्तकें गवाह हैं।

इस सिद्धांत को सामने रखकर आप हुजूर (सल्ल.) के लिए हुए दीन (धर्म) और दूसरे नबियों के लिए हुए धर्मों के विषय पर विचार कीजिए। मानना पड़ेगा कि यद्यपि सारे धर्म (दीन) अर्थ की दृष्टि से इस्लाम ही थे किन्तु वह धर्म जो कुरआन के रूप में और नुबूत के समापक के द्वारा आया, वही इस बात का हकदार था कि उसका नाम भी इस्लाम हो, क्योंकि उसकी “इस्लामियत” (आज्ञापालन का गुण) दूसरे सारे धर्मों की “इस्लामियत” से कहीं बढ़ी हुई है और वह उनकी तुलना में कतई तौर पर एक सबसे ऊँची हैसियत का मालिक है। दूसरे अन्य धर्मों का हाल यह है कि उसके आदेशों का संग्रह भी अपेक्षाकृत संक्षिप्त और सीमित था। उनका सम्बोधन-क्षेत्र भी सीमित था और उनके लागू होने की अवधि भी सीमित थी। जबकि इस धर्म का आदेश-संग्रह भी विस्तृत और व्यापक है, इसका सम्बोधित-क्षेत्र भी असीम है और इसके लागू होने की अवधि भी कभी समाप्त होनेवाली नहीं है। यह सदा के लिए है। इसका सम्बोधन सारे जगत् से है। इसका शार्ई स्वभाव मानव स्वभाव के अनुकूल है, इसकी शिक्षाएँ सारे इनसानों के लिए एक पूर्ण और उत्तम जीवन-व्यवस्था पर आधारित हैं और आदम (अलै.) के समय से अल्लाह ताआला की जिस हिदायत और नेमत का अवतरित होना शुरू हुआ था, यही धर्म उसका चरम बिन्दु है। जब वस्तुस्थिति यह थी तो नामकरण के सामान्य नियम का तक्राजा यही था कि “इस्लाम”, केवल इसी कारण अन्तिम, सर्व व्यापक तथा सबसे पूर्ण धर्म का नाम होता।

इसी प्रकार और समुदायों को छोड़कर सिर्फ हजरत मुहम्मद (सल्ल.) ही के अनुयायियों को “मुस्लिम” का नाम व उपाधि इसलिए मिली कि उनकी “मुस्लिमाना” हैसियत दूसरों के मुक़ाबले में बहुत बढ़ी हुई थी। वे एक ऐसे धर्म के ध्वजावाहक थे जो अपनी पूर्णता और अपने उद्देश्य की व्यापकता और उच्चता में अद्वितीय है। उन पर क्रियामत तक के लिए यह भारी ज़िम्मेदारी डाली गयी है कि एक-एक क्रौम तक अल्लाह का पैग़ाम पहुँचाएँ, सारी दुनिया के सामने इस्लाम की गवाही देंगे और इस ज़मीन के चप्पे-चप्पे पर सत्य धर्म स्थापित कर चुकने से पहले चैन न लेंगे। जबकि दूसरे किसी समुदाय के ऊपर ऐसी बड़ी ज़िम्मेदारी नहीं डाली गयी थी। इसलिए उचित यही था कि वही “खैरुल उमम” अर्थात् उत्तम समुदाय कहे जाएँ और मुस्लिम का नाम इन्हीं के लिए विशिष्ट किया जाए।

इन विवरण से ज्ञात हुआ कि यद्यपि और नैसर्गिक रूप से तो सारा संसार ही मुस्लिम रहने को बाध्य है और शरीअत के तौर पर भी वे सभी लोग मुस्लिम ही थे जो अल्लाह के भेजे हुए किसी “दीन” के अनुयायी थे। इसी तरह अल्लाह ताआला की ओर से आनेवाला प्रत्येक धर्म “इस्लाम” ही था, किन्तु “इस्लाम” और “मुस्लिम” के शब्द जब उर्फ़ और नाम के तौर पर बोले जाते हैं तो “इस्लाम” से अभिप्रेत केवल वह धर्म होता है। जिसे अल्लाह के आखिरी नबी हजरत मुहम्मद (सल्ल.) लेकर आये थे और “मुस्लिम” से अभिप्रेत केवल वे लोग होते हैं जो उस धर्म को सच्चे दिल से मानकर उसका अनुसरण करें।

मौलिक धारणाएँ

इस्लाम जिन शिक्षाओं पर सम्मिलित है, सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों है सियतों से उनके महत्त्व की श्रेणियाँ अलग-अलग हैं और उनमें एक स्वाभाविक क्रम भी पाया जाता है। उनमें से कुछ की स्थिति नींव की-सी है। कुछ की दीवारों और स्तम्भों की-सी है। कुछ की छत की-सी है और कुछ की बाह्य साज-सज्जा की-सी। इस्लाम को ठीक तौर से समझने के लिए आवश्यक है कि उसका इसी क्रम से अध्ययन किया जाए। इसलिए सबसे पहले हम उसकी उन शिक्षाओं पर विचार करते हैं जिनकी हैसियत आधारशिला की है और जिन्हें इस्लामी परिभाषा में “ईमानियात” या “अक्काइद” अर्थात् विश्वास या आस्था कहा जाता है।

विश्वास या आस्था (ईमानियात या अक्काइद) का धर्म का आधार होना एक ऐसी स्पष्ट वास्तविकता है जिस पर किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। सभी जानते हैं कि विश्वास “ज्ञान” हैं और शेष सारी चीजें “कर्म” (अमल) हैं और ज्ञान को कर्म पर प्रधानता प्राप्त होती है। “कर्म” की स्थिति एक पेड़ की-सी है और “ज्ञान” की स्थिति ‘बीज’ की-सी। जिस प्रकार बीज के बिना पेड़ का अस्तित्व सम्भव नहीं, ठीक उसी प्रकार ज्ञान के बिना कर्म भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। इसलिए जब तक विश्वास और आस्था अस्तित्व में न आ जाएँ, उस समय तक शेष ‘इस्लाम’ के अस्तित्व में आने की कोई सम्भावना नहीं। कुरआन में है:-

“..... बल्कि भलाई केवल व्यक्ति की भलाई है, जो विश्वास रखता है अल्लाह पर, अंतिम दिन पर, फ़रिश्तों पर, अल्लाह की किताब पर और नबियों पर”
— कुरआन २:१७७

इससे मालूम हुआ कि विश्वास और आस्था के बिना नेकी और अच्छे कर्म की कोई संभावना ही नहीं पाई जाती।

इस्लाम की ये ईमान और आस्थाएँ क्या हैं? कुरआन की पवित्र आयत ने यह बात भी बता दी है। इस आयत की, और इसी प्रकार की दूसरी बहुत-सी आयतों के अनुसार ये आस्थाएँ पाँच हैं:-

- (१) अल्लाह पर विश्वास
- (२) आख़िरत (परलोक) पर विश्वास
- (३) नबियों पर विश्वास
- (४) अल्लाह की अवतरित किताबों पर विश्वास
- (५) फ़रिश्तों पर विश्वास।

किन्तु हदीसों से ज्ञात होता है कि इनके अतिरिक्त एक और चीज़ भी है जो आस्था में सम्मिलित है और वह है — भाग्य (तक्दीर) पर विश्वास जिबराईल (अलै.) की हदीस में है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल.) से उन्होंने पूछा, “ईमान (आस्था) क्या है?” तो आपने उत्तर दिया — “ईमान यह है कि तुम विश्वास रखो अल्लाह पर, उसके फ़रिश्तों पर, उसकी किताबों पर, उसके रसूलों पर, आख़िरी दिन (महाप्रलय) पर और दृढ़ विश्वास रखो भाग्य की भलाई और बुराई पर।”

कुरआन और हदीस के उल्लेखों में यह किसी मतभेद की बात नहीं है, बल्कि केवल संक्षिप्त और विस्तृत विवरण का अंतर है। क्योंकि भाग्य पर विश्वास वास्तव में अल्लाह पर विश्वास ही का एक अंश है। इसलिए कुरआन करीम ने इसका अलग से कोई उल्लेख नहीं किया, जब कि हदीस में कुछ मस्लहतों की वजह से इसका नाम लेकर अलग से उल्लेख कर दिया गया है। बहरहाल यह एक हक़ीक़त है कि भाग्य पर विश्वास रखना आवश्यक है। जिस प्रकार कि अल्लाह तआला के दूसरे समस्त गुणों पर और उनकी समस्त अपेक्षाओं पर विश्वास रखना अनिवार्य है।

ये हैं इस्लाम की वह ६ आस्थाएँ जिनसे पूर्ण व्यवस्थित शरीअत अस्तित्व में आई है।

किन्तु अध्ययन से मालूम होता है कि इन आस्थाओं में भी सभी का महत्त्व एक समान नहीं है, बल्कि कुछ का अधिक है और कुछ का कम। यदि मोटे तौर पर विभाजन किया जाए तो ज्ञात होगा कि आरंभ की तीन आस्थाओं का मौलिक महत्त्व है और शेष वास्तव में इन्हीं तीनों की अनिवार्य अपेक्षाओं या शाखाओं की हैसियत रखती हैं, इसलिए यदि मात्र इन्हीं तीनों को थोड़ा विस्तार से समझ लिया जाए तो यह पूरी बात समझ लेने के लिए पर्याप्त होगी।

१- अल्लाह पर ईमान

अल्लाह पर ईमान लाने का अर्थ

अल्लाह पर ईमान लाने का अर्थ यह है कि —

(१) उसके अस्तित्व को स्वीकार किया जाए

(२) उसे उन समस्त विशेषताओं और गुणों से, जिनकी व्याख्या कुरआन और कुरआन के प्रदाता अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने की है, पूरी तरह परिभूषित माना जाए।

(३) उन अधिकारों को उसी के लिए विशिष्ट माना जाए, जो उन विशेषताओं की अनिवार्य अपेक्षाओं की हैसियत रखती हैं।

(४) उन अधिकारों को भी केवल उसी का अधिकार माना जाए, जो उन गुणों से स्वाभाविक रूप से जुड़े हुए हैं और जिनको माने बिना उन गुणों का मानना निरर्थक हो जाता है।

जहाँ तक इनमें से पहली चीज़ की बात है, वह तो स्वयं ही स्पष्ट है, इसलिए उसके बारे में व्याख्या व विस्तार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता जब तक कोई व्यक्ति अल्लाह तआला के अस्तित्व ही को नहीं मानता, तो वह उस पर आस्था ही क्या रखेगा !

हाँ शेष चीज़ें इस तरह स्पष्ट नहीं हैं, और वह अवश्य ही स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती हैं। इसलिए आवश्यकता है कि उनके षिवय में थोड़ी विस्तार से चर्चा की जाए और यह बताया जाए कि अल्लाह तआला के गुण क्या-क्या हैं ? और उन गुणों की अपेक्षाएँ क्या हैं ? लेकिन चूँकि अल्लाह के सभी गुण भी समान हैसियत नहीं रखते, बल्कि उनमें प्रधानता की हैसियत मात्र चंद ही (बल्कि वास्तव में एक ही) को प्राप्त है, शेष गुण वास्तव में उन्हीं मौलिक गुणों की अपेक्षाएँ या शाखाएँ हैं। यदि मौलिक गुणों को आवश्यक हद तक स्पष्ट कर दिया जाए तो शेष गुणों की व्याख्या की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह सकती और इससे यह बात समझ में आ जाएगी कि अल्लाह पर ईमान रखने के लिए उसे किस प्रकार के गुणों का स्वामी मानना चाहिए। यहाँ केवल उन्हीं कुछ मौलिक गुणों का और उनकी आवश्यक अपेक्षाओं का उल्लेख किया जाता है।

अल्लाह तआला के मौलिक और महत्वपूर्ण गुण ये हैं:-

(१) वह अनादि और शाश्वत और स्वयंभू है। इसका अर्थ यह है कि वह हमेशा से है, हमेशा रहेगा। उसे किसी ने पैदा नहीं किया है, बल्कि वह आपसे आप मौजूद है।

(२) वह स्रष्टा है — अर्थात् यह कि वह चीज़ों को पैदा करता है और अनास्तित्व से अस्तित्व में लाता है।

(३) वह रब है — अर्थात् वह आजीविका देता और पालन-पोषण करता है।

(४) वह स्वामी और शासक है और सृष्टि प्रणियों में एक-एक उसकी मिल्कियत और उसके वशीभूत है।

(५) वह सर्वज्ञ है — अर्थात् वह हर बात, हर काम और प्रत्येक गतिविधियों को जानता है। क्या हुआ, क्या हो रहा है, क्या होगा — सब उसके ज्ञान में हैं। कोई चीज़ उसके ज्ञान से बाहर नहीं है।

(६) वह तत्त्वदर्शी है — उसका कोई काम तत्त्वदीशता से रहित निरुद्देश्य और निष्फल नहीं होता, बल्कि प्रत्येक कार्य के पीछे उच्चतम समझ उच्चतम तत्त्वदर्शिता और उच्चतम उद्देश्यमयता काम कर रही होती है।

(७) वह शक्तिशाली (अज़ीज़) है— वह प्रत्येक कर्म की शक्ति व सामर्थ्य रखता है। उसके किसी इरादे को व्यावहारिक रूप देने से रोका नहीं जा सकता। उसका कोई फ़ैसला रद्द नहीं किया जा सकता, उसके किसी हुक्म को चुनौती नहीं दी जा सकती।

(८) वह न्यायकारी है— उसका प्रत्येक कर्म न्याय व इनसाफ़ पर आधारित होता है। उसके नैसर्गिक आदेश भी पूरी तरह न्यायपूर्ण होते हैं और उसके वैधानिक आदेश भी और उसी तरह उसके सारे फ़ैसले भी ठीक-ठीक न्यायानुकूल होते हैं।

(९) वह मुजाज़ी (बदला देनेवाला) है— अर्थात् वह कर्मों का बदला देता है, बुरे कर्म का बुरा बदला और अच्छे कर्म का अच्छा बदला।

(१०) वह आराध्य है— यह उसका हक़ है कि उसकी अराधना व पूजा की जाए, सिर उसी के आगे झुके और दुआएँ और प्रार्थनाएँ उसी से की जाएँ।

(११) वह अकेला है: अर्थात् उसके जितने गुण हैं, उनमें से किसी गुण में भी उसका कोई साज़ी और प्रतिद्वन्द्वी नहीं। यही नहीं कि वह आदि और अनन्त, स्रष्टा और पालनहार, स्वामी और शासक, सर्वज्ञ और तत्त्ववेत्ता शक्तिवान और न्यायकर्ता, बदला देनेवाला और पूज्य है, बल्कि ऐसा केवल वही है।

अल्लाह तआला के इन मौलिक गुणों में से आखिरी विशेषता, जिसे तौहीद का गुण कहते हैं — इसे एक विशिष्ट हैसियत प्राप्त है। जिस प्रकार पूरे इस्लाम की जान उसकी धारणाएँ हैं, उसी प्रकार उन धारणाओं की जान तौहीद की धारणा है। यदि ग़ौर से देखिए तो ज्ञात होगा कि ये गुण वस्तुतः अन्य समस्त गुणों का चरम बिन्दु है। इस लिए केवल यही एक गुण वास्तव में सारे गुणों का प्रतीक बन जाता है। जिसने पूरी चेतना और विश्वास के साथ कह दिया कि अल्लाह ही पूज्य है, उसने वास्तव में अल्लाह के समस्त गुणों पर आस्था रखने की उद्घोषणा कर दी। अल्लाह के एक होने की इस विशिष्ट और व्यापक हैसियत को अगर सामने रखा जाए तो इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि उसके समस्त गुणों की अपेक्षाएँ बयान की जाएँ और न इसकी आवश्यकता रह जाती है कि उनमें से प्रत्येक के विषय में पृथक-पृथक वार्ता की जाए बल्कि केवल उन्हीं चीज़ों का सामने आ जाना पर्याप्त होगा, जो इसलिए यहाँ वार्ता उन्हीं अपेक्षाओं तक सीमित रहेगी।

कुरआन हकीम और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के आदेश बताते हैं कि 'तौहीद' की आस्था की महत्वपूर्ण और मौलिक अपेक्षाएँ ये

हैं:-

(१) 'अल्लाह' के अतिरिक्त और कोई हस्ती नहीं जो स्वयंभू हो, बल्कि प्रत्येक वस्तु उसी की बनाई हुई है और अल्लाह ही की पैदा की हुई है^१, उसी की मिल्कियत है। प्रत्येक वस्तु उसी की मुहताज है, उसी के अधीन है। कोई भी चीज़ ऐसी नहीं जिसका अपना गुण अप्रदत्त हो। जो भी गुण किसी में पाया जाता है वह अल्लाह तआला का दिया हुआ है और उसी समय तक उसके पास रह सकता है, जब तक वह चाहे।

(२) अल्लाह तआला की सत्ता मौलिक रूप से समस्त चीज़ों से भिन्न है और किसी प्रकार भी कोई चीज़ उसकी सजातीय नहीं।^१ किसी बड़ी से बड़ी हस्ती पर भी उसको क्रयास नहीं कर सकते^२, न वह किसी का बाप है न किसी का बेटा, न वह किसी और हस्ती के साथ जुड़ कर एक होता है, न उसके अन्दर प्रविष्ट करता है, वह शरीर नहीं रखता और उसके गुण शारीरिक हैं।

(३) केवल अल्लाह ही है जिसकी प्रसन्नता की तलाश की इन्सान को चिंता करनी चाहिए। यही उसके सारे कामों का वास्तविक प्रेरक होना चाहिए और वास्तविक उद्देश्य भी।

(४) हमारे सारे कर्म और गतिविधियाँ केवल अल्लाह ही के लिए होनी चाहिए, जो अपनी वास्तविकता और अपने बाह्य रूप की दृष्टि से पूजा या आराधना के अंतर्गत आती हों। सजदा केवल उसी को किया जा सकता है, नज़्र उसी के नाम की मानी जा सकती है, दुआ केवल उसी से की जा सकती है, अगोचर शरण केवल उसी की ढूँढ़ी जा सकती है, ग़ैबी सहायता के लिए केवल उसी को पुकारा जा सकता है।

(५) वे सारे भाव और मानसिक प्रवृत्तियाँ भी अल्लाह ही के लिए खास कर देनी चाहिए, जिनमें भक्ति-भाव पाया जाता हो। भरोसा केवल उसी पर किया जाए, आशाएँ केवल उसी से जोड़ी जाएँ, संयम मात्र उसी का अपनाया जाए, भय केवल उसी का रखा जाए, वास्तविक प्रेम मात्र उसी से किया जाए।

(६) इस पूरे विश्व का, जिसका हमारी यह दुनिया भी एक छोटा सा भाग है, सर्वोच्च शासक अल्लाह ही है। आदेश देने, रोकने और अपनी इच्छा पूरी कराने का अधिकारी केवल वही है। वास्तव में विधान और क़ानून रचयिता भी वही है। किसी प्राणी की ज़िन्दगी का अनिवार्य कर्तव्य निश्चित करने, उसके मामले का फ़ैसला करने, उसे क्षमा करने या दण्ड देने का अधिकार भी पूरे का पूरा उसी के हाथ में है।

(७) अल्लाह तआला के सिवा और कोई नहीं जिसमें उपास्यता होने की गरिमा पाई जाती हो, जो पूजे जाने के योग्य हो, जिसकी प्रसन्नता चाही जाए। कोई और नहीं जो इस योग्य हो कि जिसके आगे सिर झुकें हों नज़्रें पेश की जाएँ, आभार प्रकट किया जाए। कोई और नहीं जिसे 'संरक्षक' और कार्य साधक, ज़रूरतें पूरी करनेवाला और संकट मोचक समझा जाए, जिससे प्रार्थना की जाए, जिसे आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पुकारा जाए और जिसे पुकारा जाए कि परोक्ष रूप से सहायक हो। और कोई नहीं जिस पर भरोसा किया जाए, दिल में जिसका डर और भय रखा जाए, जिससे आशाएँ जोड़ी जाएँ, जिससे वास्तव में प्यार किया जाए। कोई और नहीं जिसके हाथ में लेशमात्र वास्तविक प्रभुत्व हो, जो तनिक भी किसी को लाभ या हानि पहुँचा सकता हो, जो किसी के लिए क़ानून बनाने और अपना हुक़्म चलाने का अधिकार रखता हो और मूलतः जिसका आज्ञापालन वैध हो।

तौहीद की ये मौलिक अपेक्षाएँ इतना महत्त्व रखती हैं कि इनमें से एक का भी इनकार अल्लाह पर आस्था (ईमान) रखने के दावे को निरर्थक करके रख देता है। इसका अर्थ यह है कि ये सारी बातें तौहीद की धारणा के वास्तविक अर्थ में सम्मिलित हैं और कोई व्यक्ति सही अर्थों में मुसलमान हो ही नहीं सकता जब तक ये धारणा अपने पूरे भाव के साथ उसके दिल में न उतर चुकी हों।

बहुदेववाद (शिरक)

जेहनों में कोई बात स्पष्ट उसी वक्रत हो पाती है जब उसका विपरीत बात का भी साथ-साथ उल्लेख कर दिया जाए। इसी लिए महत्वपूर्ण नियम व दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के समय सामान्यतः इस बात का आयोजन अनिवार्यतः किया जाता है कि उनके विरोधी नियमों और दृष्टिकोणों को भी उनके सम्मुख रख दिया जाए। एकेश्वरवाद (तौहीद) की धारणा से अधिक महत्त्व किस दृष्टिकोण और आस्था को प्राप्त हो सकता है, इसलिए इसे अच्छी तरह समझ लेने के लिए अनिवार्य है कि उसके विरोधी धारणा – अर्थात् 'शिरक' (बहुदेवाद) को भी समझ लिया जाए। अतएव, कुरआन मजीद ने अपनी वर्णन-शैली से इस विषय में भी हमारा मार्गदर्शन किया है। उसने एकेश्वरवाद की शिक्षा देते हुए बात केवल इतने ही पर समाप्त नहीं कर दी है कि एकेश्वरवाद इसे कहते हैं और इसके तर्क और लाभ व परिणाम ये होते हैं। बल्कि सविस्तार यह बताना भी अनिवार्य समझा है कि अनेकेश्वरवाद (शिरक) क्या है? उसके कर्म क्या हैं? उसके लक्षण क्या हैं? उसकी हानियाँ क्या हैं, और वह क्यों नितांत अवास्तविक और असत्य धारणा है? हद यह है कि स्वयं एकेश्वरवाद की अवधारणा की शिक्षा देने के लिए उसने विधिवत रूप से जो वाक्य प्रयोग किया है, उसमें एकेश्वरवाद की पुष्टि और बहुदेववाद का खण्डन, दोनों साथ-साथ पाए जाते हैं। अर्थात् उसने बात यँ नहीं कही है कि — "अल्लाह तआला अकेला प्रभु है" वरन यँ कहा है कि — "नहीं है

कोई प्रभु-पूज्य, अतिरिक्त अल्लाह के” (ला इला-ह इल्लाल्लाहु) इस प्रस्तुति शैली से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एकेश्वरवाद की विशुद्ध अवधारणा उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक कि अनेकेश्वरवाद का पूरी तरह खण्डन भी न कर दिया जाए और जब अनेकेश्वरवाद का खण्डन अनिवार्य है तो उसका समझ लेना भी निश्चित रूप से ज़रूरी होगा।

बहुदेववाद’ के लिए अरबी में “शिरक” शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसके मानी — साझेपन” के हैं और इस्लाम धर्म की परिभाषा में “शिरक” अर्थात् अनेकेश्वरवाद नाम है इस बात का कि अल्लाह के व्यक्तित्व में या उसके गुणों व विशेषताओं में या इन गुणों की अनिवार्य अपेक्षाओं में किसी को उसका साझी ठहराया जाए। मानो अनेकेश्वरवाद के तीन प्रकार हैं:-

एक वह अनेकेश्वरवाद— जिसका सम्बन्ध अल्लाह तआला के व्यक्तित्व से होता है।

दूसरा वह अनेकेश्वरवाद — जिसका सम्बन्ध उसके गुणों व विशेषताओं से होता है।

तीसरा वह अनेकेश्वरवाद — जिसका सम्बन्ध उसके गुणों व विशेषताओं की अनिवार्यताओं से होता है। पहले प्रकार के अनेकेश्वरवाद के व्यावहारिक रूप ये हैं: — पहला, यह कि किसी को अल्लाह तआला के समान ठहराया जाए। दूसरा, उसे उसका बाप या उसकी सन्तान समझ लिया जाए। तीसरा, यह कि यह मान लिया जाए कि वह किसी और शक्ति के साथ मिलकर उससे संगठित हो सकता है। चौथी, यह अवधारणण हृदयस्थ कर ली जाए कि वह किसी प्राणी की शकल धारण करके प्रकट हुआ करता है। अर्थात् कोई प्राणी उसका अवतार हो सकता है। उदाहरणार्थ अरबवाले फ़रिश्तों को अल्लाह तआला की बेटियाँ और जिन्नों को उसकी जाति-बिरादरी समझते थे। इसी प्रकार ईसाई लोग हज़रत ईसा (अलै.) को अल्लाह तआला का इकलौता बेटा और उसका अवतार ठहराते थे। यह सभी उसके व्यक्तित्व में साझीदार ठहराना और अनेकेश्वरवाद है।

दूसरे प्रकार के अनेकेश्वरवाद का व्यावहारिक रू यह है कि अल्लाह तआला जिन गुणों से अभिभूषित है, उस प्रकार का कोई गुण किसी और के अन्दर भी विद्यमान मान लिया जाए और उसी अर्थ और भाव में विद्यमान मान लिया जाए जिस अर्थ व भाव में वह अल्लाह तआला के अन्दर पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ — “ज्ञान,” अल्लाह तआला का एक गुण है, जिसका अर्थ यह है कि वह खुली और छिपी हर बात को जानता है। उसके लिए अप्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष है और बीता हुआ या आनेवाला काल भी वर्तमानकाल है। अब यदि कोई यह समझ बैठे कि अमुक प्राणी भी उसी प्रकार हर बात को जानता है तो यह उसके व्यक्तित्व में साझीदार ठहराना होगा। इसी प्रकार लाभ या हानि पहुँचाना अल्लाह तआला का एक गुण है, जिसका अर्थ यह है कि वह जिसको चाहता है खुशी और आराम के साधन प्रदान करता है और जिसको चाहता है वंचित रखता है। अब यदि कोई व्यक्ति यह आस्था रखे कि अमुक फ़रिश्ता या जिन या बुजुर्ग इनसान भी उसी की तरह हमारी बिगड़ी बना सकता है या हमें तकलीफ़ और नुक़सान पहुँचा सकता है तो यह अल्लाह तआला के एक गुण में उसे साझीदार ठहराना होगा और उसके इस काम को अल्लाह तआला के गुणों में साझीदार ठहराना अर्थात् “शिरक फ़िस्सिक्रात” कहा जाएगा।

तीसरे प्रकार के अनेकेश्वरवाद (शिरक) की स्थिति यह है कि अल्लाह के गुणों की जो अनिवार्य अपेक्षाएँ हैं उन्हें अल्लाह ही के लिए विशिष्ट न माना जाए, बल्कि उन्हें या उनमें से किसी को अन्य दूसरी हस्तियों के लिए भी प्रमाणित और विद्यमान मान लिया जाए। उदाहरणार्थ, अल्लाह के गुणों की एक अपेक्षा यह है कि वस्तुतः अनुपालन और प्यार मात्र अल्लाह का हक़ है। अब यदि कोई व्यक्ति किसी और से भी ऐसा ही प्यार और आस्था रखे या उसी प्रकार का आज्ञानुपालन का उसे पात्र ठहरा ले, तो यह अल्लाह के गुणों की अपेक्षाओं में अल्लाह के अलावा दूसरों को साझीदार ठहराना होगा। इसी प्रकार इन गुणों की एक अपेक्षा यह भी है कि सर्वोच्च सत्ता मात्र अल्लाह के हाथ में है और आदेश देने और क़ानून बनाने का अधिकार वस्तुतः उसी को पहुँचता है। इसलिए यदि किसी और को भी यह हैसियत दे दी जाए चाहे वह कोई एक व्यक्ति हो या बहुत से लोगों का समूह तो यह अल्लाह के अधिकार में साझेदारी ठहराना होगा।

इन तीनों प्रकारों में से चाहे जिस प्रकार का भी शिरक (अनेकेश्वरवाद) हो इसकी भौजूदगी में तौहीद (एकेश्वरवाद) की इस्लामी आस्था विद्यमान नहीं पाइम जा सकती और जहाँ एकेश्वरवाद न हो वहाँ कुरआन का अपेक्षित ‘ईमान’ भी विद्यमान नहीं हो सकता। और जहाँ ईमान विद्यमान न हो वहाँ इस्लाम का अस्तित्व भी सम्भावना से बाहर ही होगा। इसी लिए शिरक को कुरआन ने “सबसे बड़ा जुल्म” (३१:१३) ठहराया है और फ़रमाया है कि — अल्लाह के यहाँ प्रत्येक अपराध को क्षमा कर देने की सम्भावना है, किन्तु अल्लाह का साझीदार ठहराने (अनेकेश्वरवाद अपनाने) के अपराध की क्षमा सम्भव नहीं।”

(कुरआन, ४:४८)

मानना पड़ेगा कि इससे अधिक सत्य और न्याय की बात और कोई नहीं हो सकती। यह ऐसी ही पक्की बात है, जैसे यह कहा जाए कि इलाज से वह मरीज़ भी अच्छा हो सकता है जो यक्ष्मा के तीसरे दरजे में पहुँच गया हो, किंतु वह व्यक्ति अच्छा नहीं हो सकता जिसका हृदय गति करने की क्षमता ही खो बैठा हो। आख़िर जहाँ बीज ही न हो वहाँ पेड़ कैसे अस्तित्व में आ सकता है?

(२) आखिरत पर ईमान

आखिरत पर ईमान लाने का अर्थ

आखिरत पर ईमान लाने का अर्थ यह है कि निम्नलिखित तथ्यों को सच्चे दिल से स्वीकार किया जाए—

१. इनसान की पैदाइश एक उच्च और निश्चित उद्देश्य के लिए हुई है। वह एक जिम्मेदार प्राणी है। उसके पैदा करनेवाले ने उसे जीवन व्यतीत करने का एक पूर्ण मार्गदर्शन देकर पैदा किया है। उसे व्यवहार में लाना ही वास्तव में सत्यकर्म और नेकी है और उसे छोड़कर मनमाने रास्ते पर चलना पथभ्रष्टता और अधम कर्म है।

२. मानव-जीवन मृत्यु के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, वरन् उसके बाद भी निरन्तर शेष रहता है। इस सांसारिक जीवन में वह जो कुछ करता है, अपने भौतिक परिणाम की दृष्टि से यद्यपि वह इसी जगह समाप्त हो जाता है, किन्तु अपने नैतिक परिणामों की दृष्टि से पूर्णतः शेष रहता है। एक दिन ऐसा आएगा जब अल्लाह ताआला की तत्त्वदर्शिता और ज़मीन व आसमान का यह सारा कारखाना उथल-पुथल कर दिया जाएगा। और इस ज़मीन पर एक जीवधारी भी जीवित न रहेगा। सभी मौत की नींद सुला दिए जाएँगे। कुरआन की परिभाषा में इसे “क्रियामत” (महाप्रलय) कहते हैं।

३. क्रियामत के बाद, वे समस्त जीवधारी जो दुनिया के आरम्भ से आज तक पैदा होकर मर चुके हैं और अभी उस दिन के आने तक पैदा होकर मिट जानेवाले हैं, पुनः शरीर व प्राण के साथ जीवित करके उठा खड़े किए जाएँगे। इसे— “हश्र” कहते हैं।

४. “हश्र” के बाद से हमारे जीवन का दूसरा चरण आरम्भ होगा। इस चरण का आरम्भ इस बात से होगा कि हम सभी अल्लाह तआला की अदालत में पेश किए जाएँगे और वह हम सब से हमारे जीवन के पहले चरण का हिसाब लेगा। उस समय हमारी हर छोटी-से-छोटी नेकी और बदी (बुराई) तक का सच्चा रिकार्ड हमारे सामने रख दिया जाएगा। न्याय-तुला स्थापित होगी प्रत्येक व्यक्ति के कर्म काँटे की तौल तुलेंगे। जिस सौभाग्यशाली का कर्म भारी सिद्ध होगा और कर्म-पत्र भलाइयों का कर्म-पत्र सिद्ध होगा, उसको जीवन का यह दूसरा दौर व्यतीत करने के लिए नेमतों भरा स्थान प्रदान की जाएगा। ये नेमतें असीमित और अगणित होंगी। कभी समाप्त न होंगी, और ऐसी होंगी जिनकी इस संसार में रहते हुए कल्पना भी नहीं की जा सकती है और जिनके बाद मानव किसी और वस्तु की कामना तक न करेगा— उस स्थान का नाम “जन्नत” है।

और जिस अभागे का मामला इसके विपरीत होगा, जिसका कर्म-पत्र दुष्कर्मों का कर्म-पत्र होगा, जो अपने जीवन का पहला चरण गफलत और सत्य से अनभिज्ञ रहकर व्यतीत करके अल्लाह के समक्ष उपस्थित होगा, उसे जीवन का यह दूसरा दौर व्यतीत करने के लिए एक ऐसा स्थान दिया जाएगा, जहाँ ऐसी तकलीफ़ें और यातनाएँ होंगी जिन्हें शब्दों भी बयान करना असम्भव है। ऐसी तकलीफ़ों और यातनाओं का स्थान जो कभी समाप्त होनेवाला न होगा। उस स्थान का नाम — जहन्नम (नरक) है।

५. इस हिसाब-किताब और फ़ैसले के बाद हमारे जीवन का दूसरा चरण अपने पूरे भाव के साथ अस्तित्व में आ जाएगा और यह चरण ऐसा होगा जिसकी कोई अन्त न होगा। यह जीवन शाश्वत जीवन होगा। यहाँ मौत तो क्या, मौत का नाम तक बाक़ी न रह जाएगा।

यह है वह चीज़ जिसे “आखिरत (परलोक) कहा जाता है और यह है उस ‘आखिरत’ पर ईमान लाने का मतलब।

आखिरत पर ईमान लाने का महत्व

सच्चा मुसलमान (मोमिन) होने के लिए बिल्कुल अनिवार्य है कि जिस प्रकार अल्लाह पर ईमान लाया जाए, उसी प्रकार आखिरत पर भी ईमान लाया जाए। उसके बिना आदमी एक सच्चा मुसलमान व मोमिन नहीं हो सकता और इसके बिना अल्लाह पर ईमान लाना भी अर्थमय व लाभदायक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि आखिरत का होना भी अल्लाह ही के कुछ गुणों की ननिवार्य अपेक्षा है। उदाहरणार्थ उसके गुण न्याय, तत्त्वदर्शिता, दयालुता, गुणग्राहकता और प्रभुता को अपेक्षित है कि आखिरत का दिन आए। क्रियामत के न आने और मानव-कर्म का बदला न मिलने की स्थिति में यह बात केवल एक निरर्थक दावा बन कर रह जाएगी कि इस संसार का पैदा करनेवाला न्यायशील और ज्ञानवान है, दयावान और गुणग्राहक है, प्रभु और शासक है। क्योंकि कर्मों के नैतिक परिणाम वर्तमान संसार में तो अपेक्षित रूप में दिखाई नहीं देते। अत्याचारी फूलता-फलता है, तो सत्यवादी मुसीबतें उठाता रहता है। इसलिए इस जीवन के बाद यदि हर व्यक्ति को अपने किए का बदला मिलनेवाला न हो तो यह एक आश्चर्यजनक स्थिति होगी, ऐसी स्थिति जो अल्लाह तआला के न्याय, ज्ञान और उसकी दयालुता और प्रभुता के प्रतिकूल होगी। इसलिए अल्लाह पर ईमान और कर्मों के प्रतिफल का इनकार इन दोनों बातों का कभी भी एक साथ निर्वाह नहीं हो सकता।

सिफ़ारिश की बहुदेववादी धारणा

आखिरत में इस बात का फ़ैसला करना सर्वथा अल्लाह ही के हाथ में होगा कि संसार में किस व्यक्ति ने कर्तव्यपरायण दास की हैसियत से जीवन व्यतीत किया है, अतः उसे जन्नत में जगह मिलनी चाहिए — सभी कुछ अल्लाह ही के हाथ में होगा:-

“शासन उस दिन अल्लाह का होगा वह लोगों के बीच न्याय करेगा।”

—कुरआन २२:५६

बुद्धि भी जिस पहलू से देखती है, हकीकत उसे यही नज़र आती है। उदाहरणार्थ —

१. अल्लाह ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासक और प्रभु है। इसलिए कोई कारण नहीं कि न्याय का अधिकार किसी दूसरे के हाथ में हो।

२. वह सर्वज्ञाता है— आदि से लेकर अन्त तक की हर बात से वह प्रत्यक्षतः परिचित है। किसने संसार में क्या किया है? उसके हाथों ने क्या कमाया है? उसके दिल के क्या इरादे रहे हैं? उसका सीना किन भावनाओं को पालता रहा है? रात की सुनसान अंधेरियाँ और दिन की व्यस्त घड़ियाँ उसने किस प्रकार और किन कामों में गुजारी हैं?— ये सब कुछ उसके समक्ष ऐसा ही रौशन होगा, जिस प्रकार हमारी निगाहों के सामने दोपहर का सूरज रौशन होता है। इस यथार्थ के कारण सही फ़ैसलों तक पहुँचने के लिए वह किसी भी दशा में किसी की मदद का मुहताज नहीं हो सकता, न किसी और की राय या सलाह या गवाही की उसे कोई ज़रूरत पेश आ सकती है। विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि यह “कोई और” ऐसा हरगिज़ नहीं हो सकता कि उसे स्वयं अपने ही भूत और भविष्य का कोई यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो। फिर एक बहुत कम जाननेवाला बल्कि वस्तुतः कुछ न जाननेवाला सब कुछ जाननेवाले को वस्तुस्थिति तक पहुँचने में क्या सहायता कर सकता है?

३. वह न्यायशील है — इसलिए यह भी नहीं हो सकता कि किसी सिफ़ारिश पर उन लोगों को भी क्षमा कर दे जो अपने ईमान और कर्म की दृष्टि से नियमानुसार क्षमा किए जाने के योग्य न हों, क्योंकि यह न्याय की बात न होगी।

सारांश यह कि जिस पहलू से भी देखिए, ऐसी किसी खुशगुमानी की थोड़ी भी गुंजाइश नज़र नहीं आती कि आखिरत की सफलता ईमान व सुकर्म के अतिरिक्त कुछ बुजुर्ग हस्तियों की प्रसन्नता पर भी निर्भर है। वहाँ के हिसाब — किताब में उन्हीं कि सिफ़ारिश से काम बन जाएँगे और वह अल्लाह तआला के फ़ैसले पर अपना प्रभाव डालकर लोगों को अनिवार्यतः नण्ड पाने से बचा लेंगे। चाहे वह उसके प्रतिफल प्रदान करने के नियमानुसार क्षमा किए जाने के तनिक भी योग्य न ठहरते हों। कुरआन मजीद इस प्रकार के विचार को बिलकुल निराधार ठहराता है और खुलकर कहता है कि इस प्रकार की कोई सिफ़ारिश वहाँ काम न आ सकेगी। काम न आ सकने की बात तो अलग रही, सिरे से ऐसी कोई सिफ़ारिश की ही न जा सकेगी।

“..... उस दिन के आने से पहले जिस दिन कि न कोई लेन-देन होगा, न कोई, दोस्ती होगी और न कोई सिफ़ारिश होगी।”

— कुरआन २: २५४

सिर्फ़ यही नहीं कि इस प्रकार की सिफ़ारिश का विचार एक निराधार और व्यर्थ का विचार है, बल्कि थोड़ा ग़ौर कीजिए तो वह सरासर एक बहुदेववादी विचार प्रतीत होगा। क्योंकि यह धारणा उसी वक्त स्वीकार की जा सकती है जब पहले यह मान लिया जाए कि अल्लाह तआला न अपनी सल्तनत का अकेला शासक है और न ऐसा है कि उसे अपनी प्रजा के सम्बन्ध में फ़ैसला करने में किसी हस्तक्षेप का भय न हो, न हर बात उसके ज्ञान की परिधि में है और न वह न्यायनिष्ठ है। स्पष्ट है कि अल्लाह तआला के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पनाएँ एक बहुदेववादी ही की हो सकती हैं, मोमिन की नहीं हो सकतीं।

सिफ़ारिश की इस्लामी अवधारण

किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि आखिरत में किसी प्रकार की कोई सिफ़ारिश होगी ही नहीं। इसके विपरीत सच्चाई यह है कि जहाँ कुरआन और हदीस में इस सिफ़ारिश की बहुदेववादी अवधारण का बार-बार खण्डन किया गया है, वही एक विशिष्ट प्रकार के सिफ़ारिश का उनसे सबूत भी मिलता है। अतः, यह बात इस्लाम की विस्तृत धारणाओं में सम्मिलित है कि क्रियामत के दिन कुछ लोग कुछ लोगों की सिफ़ारिश करेंगे।

यह सिफ़ारिश जिस प्रकार की होगी, उसका बहुत कुछ अन्दाज़ा अपनी बुद्धि से भी लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ:- इतनी बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि सिफ़ारिश उपरोक्त सिफ़ारिश जैसी और उसकी धारणा के अनुरूप न होगी, बल्कि उससे मूलतः भिन्न होगी। यह

सिफ़ारिश एसी होगी जिससे अल्लाह तआला के किसी गुण का या उस गुण की किसी अनिवार्य अपेक्षा का इनकार न होता हो और जो इस तथ्य से किसी प्रकार भी टकराती न होगी कि अल्लाह तआला ही इस पूरे ब्रह्माण्ड का स्वामी व शासक है, वह सब कुछ जानता है, उसका प्रत्येक कार्य और प्रत्येक निर्णय न्याय व इनसाफ़ के तराजू में तुला होता है। फिर अगर ये बातें बिलकुल स्पष्ट और खुली हुई हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यह सिफ़ारिश सामान्य और निर्बद्ध न होगी, बल्कि विशिष्ट और सीमित होगी, कुछ शर्तों के साथ होगी, किसी नियम और सिद्धान्त के अधीन होगी।

कुरआन मजीद न केवल यह कि इसको ठीक बताता है, बल्कि उसने इस नियम और सिद्धान्त का पूरा विवरण भी प्रस्तुत कर दिया है, जिसके अन्तर्गत यह सिफ़ारिश होगी। और वह इस प्रकार है:-

१. सिफ़ारिश का मामला पूरे का पूरा अल्लाह तआला के हाथ में होगा और जो कुछ होगा, उसकी मर्जी के अधीन ही होगा।

“कहो, सिफ़ारिश तो सब की सब अल्लाह के लिए है।”

— कुरआन ३९:४४

२. सिफ़ारिश के लिए ज़बान सिर्फ़ वही व्यक्ति खोल सकेगा, जिसे अल्लाह तआला की अनुज्ञा प्राप्त होगी।

“कौन है जो उसके सामने बिना उसकी अनुज्ञा के सिफ़ारिश कर सके?”

— कुरआन २:२५५

३. सिफ़ारिश करनेवाला सिफ़ारिश मात्र उसी व्यक्ति के बारे में कर सकेगा, जिसके पक्ष में सिफ़ारिश करने की उसे अल्लाह तआला की अनुमति और स्वीकृति मिल चुकी होगी।

“और वे किसी की सिफ़ारिश नहीं करते सिवाय उसके जिससे वह (अल्लाह) राज़ी हो।”

— कुरआन २१:२८

४. इस सिफ़ारिश में वह केवल ऐसी ही बात कहेगा जो हर पहलू से ठीक और सत्य होगी।

“बोलेंगे नहीं, सिवाय उस व्यक्ति के जिसे रहमान (कृपाशील अल्लाह) अनुज्ञा दे दे और वह बात भी ठीक कहे।”

— कुरआन, ७८:३८

इन सीमाओं के अन्दर जो सिफ़ारिश होगी वह कैसी होगी? यह कुछ ढकी-छुपी बात नहीं रह जाती। वह निश्चय ही दासतापूर्ण विनय-निवेदन और प्रार्थना व क्षमा याचना से बाल बराबर भी भिन्न कोई चीज़ नहीं हो सकती। सिफ़ारिश करनेवाला न तो किसी व्यक्ति के ईमान (आस्था) और कर्म के सम्बन्ध में अल्लाह की जानकारी बढ़ाएगा, न उसके क्षमायोग्य होने की बात मुँह से निकाल सकेगा और न किसी पहलू से अल्लाह तआला के निर्णय पर प्रभाव डालने का विचार तक मन में ला सकेगा। बल्कि मात्र यह करेगा कि जगत् सम्राट के समक्ष, और वह भी उसकी अनुमति मिलने के पश्चात् विनम्रतापूर्ण निवेदन करेगा, दया-कृपा की मिक्षा माँगेगा। कहेगा— “प्रभु! अपने अमुक बन्दे के गुनाहों को क्षमा कर दे। उसकी कोताहियों पर उसे न सकड़ उस पर दया कर और उसे क्षमा कर दे।” इस प्रकार सच्ची बात यही हो सकती है कि जिस प्रकार उस सिफ़ारिश का स्वीकार करनेवाला अल्लाह तआला होगा, उसी प्रकार यह सिफ़ारिश करनेवाला या सिफ़ारिश करानेवाला भी वास्तव में वही होगा। अतएव कुछ स्थानों पर कुरआन मजीद ने यह स्पष्टीकरण किया भी है। उदाहरणार्थ:-

“उनके लिए इसके सिवा कोई कारसाज़ होगा न कोई सिफ़ारिश करनेवाला।”

— कुरआन ६:५१

यह सिफ़ारिश करनेवाले कौन लोग होंगे और जिनके पक्ष में सिफ़ारिश की जाएगी वे कौन और कैसे लोग होंगे? इस सम्बन्ध में हदीस यह बताती है कि सिफ़ारिश करनेवाले अल्लाह के भले और समीपवर्ती बन्दे होंगे और जिनके पक्ष में सिफ़ारिश की जाएगी वे ऐसे लोग होंगे जिनका ईमान व अमल हिसाब-किताब के समय कुछ ऐसा कम वज़न होगा कि अल्लाह तआला के सामान्य क्षमा कर देने की नीति के अन्तर्गत वे क्षमा कर दिए जाने के पात्र न होंगे और इस पात्रता में कुछ कमी रह गई होगी। यही कमी वह चीज़ होगी जिससे दरगुज़र कराने के लिए सिफ़ारिश की जाएगी।

यहाँ मन में एक और प्रश्न उठता है और वह यह कि इस सिफ़ारिश की वास्तव में क्या सार्थकता होगी? वह वस्तुतः किस उद्देश्य के लिए होगी? यदि सिफ़ारिश करनेवाला सिफ़ारिश करने के विषय में इतना अविवश है जितना कि उपरोक्त आयतों से स्पष्ट है तो इसका खुला अर्थ यह है कि सिफ़ारिश के बाद जिन लोगों की क्षमा की घोषणा की जाएगी उनकी क्षमा का निर्णय अल्लाह तआला अपने तौर पर पहले ही कर चुका होगा। फिर इस सिफ़ारिश को बीच में लाने का उद्देश्य क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि इस सिफ़ारिश की असल ग़रज़ अल्लाह की ओर से उसके उन विशिष्ट बन्दों को सम्मानित करना होगा, जिनको वे अपने दरबार में ज़बान खोलने और निवेदन करने की अनुमति देगा। ‘हश्र’ के भरे मैदान में जहाँ सब खामोश, सहमे, सिर झुकाए खड़े होंगे और किसी को दम मारने तक का साहस न होगा। उन लोगों के लिए निस्सन्देह बड़ी ही इज़्ज़त औ सौभाग्य की बात होगी, जिन्हें बात करने की अनुमति मिल जाए और बात भी इतनी बड़ी कि निवेदन के लिए कि, “ऐ खुदा! अमुक-अमुक बन्दो को, जो अमल करने में कोताही कर गए हैं, क्षमा कर दे। इसके बाद समस्त

ब्रह्माण्ड के सत्ताधारी अल्लाह की ओर से इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिए जाने और उन बन्दों को क्षमा कर दिए जाने की उद्घोषणा भी हो जाएगी।

इस सम्पूर्ण व्याख्या से यह वास्तविकता पूरी तरह स्पष्ट हो गई कि सिफ़ारिश वास्तव में अल्लाह की एक ऐसी विशिष्ट क्षमा-नीति का नाम है जो क्षमा करने के आम कानून से कुछ भिन्न है। उसको हम क्षमा करने की रियायती नीति कह सकते हैं। किन्तु यह भी बहरहाल एक विधान ही, जो अल्लाह तआला के एकत्व गुण, न्यायप्रियता, सर्वप्रिभुत्व गुण, और ज्ञान और तत्वदर्शिता जैसे गुणों की अपेक्षाओं के अनुकूल ही है और जिससे मूल प्रतिदान एवं दण्ड विधान की सार्थकता को तनिक भी हानि नहीं पहुँचेगी।

निस्सन्देह कुरआन व हदीस से यही स्पष्ट होता है कि आखिरत में किसी की भी बख्शिश अल्लाह तआला की करुणा और कृपा के बिना न हो सकेगी। यह इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ही का फ़रमान है कि कोई व्यक्ति भी मात्र अपने कर्म के बल पर मुक्ति न पा सकेगा। (हदीस-मुस्लिम)। किन्तु जिस प्रकार यह बात अपनी जगह सच है, उसी प्रकार यह वास्तविकता भी कुछ कम सच नहीं कि अल्लाह तआला की यह “करुणा और कृपा” भी बहरहाल अपनी एक न्यायिक विधान रखती होगी और वह केवल उन्हीं लोगों को अपनी छत्रछाया में लोगा, जो अपने ईमान और कर्म की दृष्टि से उसके पात्र होंगे जो व्यक्ति जितना ही अधिक अच्छा ईमान (आस्था) व कर्म लेकर उपस्थित होगा, वह उस करुणा व कृपा का उतना ही अधिक हक़दार साबित होगा। जिसके पास यह पूँजी जितनी ही कम होगी वह उस अनुग्रह के लिए उतना ही अयोग्य समझा जाएगा, यहाँ तक कि कितने ही ऐसे भी होंगे जो इस कृपा के बिलकुल ही पात्र न ठहरेंगे। सारांश यह कि व्यवहारतः क्षमा का आधार मनुष्य का अपना ईमान और अमल (आस्था तथा कर्म) ही होगा और इस सम्बन्ध में प्रारम्भ से अन्त तक सभी निर्णय केवल अल्लाह ही के हाथ में होंगे।

यह है इस्लाम में सिफ़ारिश की सही धारणा। आखिरत पर ईमान लाने और रखने का दावा बिलकुल निरर्थक है जब तक सिफ़ारिश के बारे में सही इस्लामी अवधारणा को अपना कर उस असत्य धारणा से अपने मन को पूर्ण रूप से मुक्त न कर लिया गया हो, जिसका उल्लेख अभी ऊपर हो चुका है। क्योंकि इस असत्य धारणा के होते हुए एकेश्वरवाद (तौहीद) और आखिरत पर विश्वास रखने का उद्देश्य ही शेष नहीं रह जाता है। अल्लाह पर और आखिरत पर ठीक-ठीक ईमान रखने का उद्देश्य यही तो है कि मानव को यथार्थ का सही ज्ञान हो ताकि वह अपनी ज़िन्दगी में कर्म का सही तरीक़ा अपना सके तथा इस संसार में अल्लाह का “बन्दा” और उसका “मुस्लिम” (आज्ञाकारी) बन कर रहे। क्या सिफ़ारिश का यह दृष्टिकोण इनसान को विशुद्ध यथार्थ का ज्ञाता और सही कर्तव्यनिष्ठता पर अग्रसर रहने दे सकता है? नहीं, कभी नहीं। क्योंकि वह तो उसे भ्रम में लिप्त कर देता है कि आखिरत की पूछगच्छ में सफलता का मूलाधार ईमान व कर्म नहीं, वरन् कुछ बुजुर्ग हस्तियों की प्रसन्नता और सिफ़ारिश है। और उन हस्तियों की प्रसन्नता और सिफ़ारिश के सौभाग्य होने का आधार मात्र इस बात पर है कि उनके मठों पर श्रद्धापूर्वक चढ़ावे चढ़ाए जाते रहें। सोचिए इस दृष्टिकोण के साथ आखिरत का सच्चा चिंतन और अल्लाह तआला का सही आज्ञानुपालन का एहसास क्योंकर शेष रह सकता है? खुले तौर पर यह एक पूरे-की-पूरा विक्षिप्त सोच है तथा इस सोच के साथ आखिरत का मानना न मानने के बराबर ही रह जाता है। इसलिए आखिरत की इस्लामी आस्था को उसकी अपनी सही शकल में ठीक-ठीक समझ लेने के लिए अनिवार्य है कि सिफ़ारिश के बारे में ज़ेहन अच्छी तरह साफ़ हो गया हो।

३. रिसालत पर ईमान

‘रिसालत’ और उसकी आवश्यकता

इस्लाम की तीसरा अनिवार्य मौलिक धारणा “रिसालत” है। रिसालत का शाब्दिक अर्थ “दूतत्व” या “पैगम्बरी” के हैं। शरीअत की परिभाषा में रिसालत उस दूतत्व को कहते हैं जिसे अल्लाह तआला ने इनसानों तक अपनी शरीअत के आदेश पहुँचाने और उन्हें अपनी मर्जी की राह बताने के लिए नियुक्त किया है। इसका दूसरा नाम नुबूवत (ईशदूतत्व) है।

रिसालत का सिलसिला क्यों क्रायम किया गया है? इसकी आवश्यकता किस लिए हुई? और इस पर ईमान लाना क्यों अनिवार्य है? इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए हमें थोड़ा दूर से चलना होगा। अर्थात् पहले यह देखना होगा कि इनसान जिस उद्देश्य से पैदा किया गया है उसके पूर्ण होने का व्यावहारिक रूप क्या हो सकता था?

इस्लाम ने इनसान के पैदा किए जाने का जो उद्देश्य तथा उसके जीवन का जो अनिवार्य कर्तव्य बताया है, वह अल्लाह तआला की दासता और आज्ञानुपालन है। और यही वह चीज़ है जिस पर आखिरत की सफलता निर्भर करती है। अल्लाह की दासता और आज्ञानुपालन, का नाम आते ही स्वाभाविक रूप से अल्लाह के आदेशों और इच्छाओं का प्रश्न सामने आ खड़ा होता है। क्योंकि पालन तो आदेशों ही का किया जाएगा और आदेश के बिना आज्ञापालन की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिए एक इनसान जिस समय अपने पालनहार का दास और आज्ञानुपालक बनकर रहने का निर्णय करेगा वह तत्काल यह जानना चाहेगा कि उसके मालिक के वे आदेश क्या हैं जिनका उसे पालन करना है? वह किन बातों को पसन्द करता है और किन बातों को नापसन्द? क्या करे कि वह उसका वफ़ादार कहलाने लगे और क्या करने से बचे कि उसकी अवज्ञा के दण्ड से सुरक्षित रहे? इसके ज्ञान के बिना वह दासता (बन्दगी) और उसके आज्ञानुपालन के मार्ग में एक क़दम भी नहीं चल सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि अल्लाह तआला के आदेशों व इच्छाओं के जानने का साधन क्या है? इनसान यह कैसे मालूम कर सकता है कि अल्लाह ने अमुक बातों के करने का आदेश दिया है और अमुक कामों से रोका है?

इसके प्रत्युत्तर में जिन साधनों का नाम लिया जा सकता है उनमें से एक तो हर व्यक्ति की अपनी बुद्धि है, किन्तु हर व्यक्ति तो क्या कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं हो सकता, जो अपने तौर पर अपनी बुद्धि से यह ज्ञात कर ले कि उसके जीवन की और इस विश्व की वास्तविक सच्चाइयाँ क्या हैं? उसका पैदा करनेवाला पालनहार किन गुणों से सुशोभित है? हम इनसानों से उसके उन गुणों की अपेक्षाएँ क्या हैं? और हमारे लिए उसके आदेश क्या हैं? सारांश यह कि इस क्रम में बुद्धि की असफलता बिलकुल स्पष्ट है।

दूसरी चीज़ इनसान का अपना विवेक और उसकी आंतरिक शक्ति है, लेकिन इस शक्ति का मामला भी बुद्धि से कुछ अधिक भिन्न नहीं। तप और तपस्या का बड़े से-बड़ा प्रयास भी यहाँ कुछ भी काम नहीं आ सकता। क्योंकि इनसान अपने अन्तःकरण को मांजकर चाहे कैसा ही दर्पण क्यों न बना ले, उसमें अल्लाह तआला के आदेश और इच्छाओं का प्रतिबिम्ब आप से आप कभी भी दिखाई नहीं दे सकता। दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब बनने के लिए यही तो पर्याप्त नहीं है कि वह स्वच्छ और चमकदार हो, वरन् यह भी अनिवार्य है कि वह अनावरण-स्थिति में उसके समक्ष हो और निकट मौजूद हो। इसलिए अल्लाह जब तक स्वयं ही अपने आदेश निर्धारित करके उन्हें अस्तित्व में न ला

दे और अस्तित्व में लाकर मानव-हृदय के सामने रख न दे, लाख साफ़ और चमकदार होने के बावजूद भी उसके अन्दर उनकी प्रतिछाया नहीं पड़ सकती। लेकिन आज तक यह दावा नहीं किया जा सका है कि अल्लाह ने ऐसा किया है। इसलिए अल्लाह के आदेशों को जानने का यह साधन भी अत्यन्त असफल साधन है।

तीसरी चीज़ व्यक्ति – व्यक्ति के बजाए बहुत से लोगों का सामूहिक चिंतनमनन है। किन्तु जिस प्रकार हज़ारों और लाखों अंधे मिलकर एक आँखोंवाले व्यक्ति का पद ग्रहण नहीं कर सकते, उसी प्रकार लोगों की बड़ी से बड़ी संख्या भी अल्लाह के आदेशों के अन्वेषण में सफल नहीं हो सकती। आखिर “बहुत से लोगों” का यह समूह भी तो ऐसे ही लोगों से मिलकर बना होगा, जिन में का कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं जो अपनी बुद्धि से अल्लाह के आदेशों का ज्ञान प्राप्त कर लेने का स्वप्न भी देख सके। अतः यह साधन भी उतना ही असफल साधन है जितना कि पहला।

तार्तर्य यह कि इन तीनों ही साधनों में से कोई एक भी ऐसा नहीं जो मानव-जीवन की इस सबसे महत्वपूर्ण और असाधारण आवश्यकता की पूर्ति कर सके।

यह सत्य है कि बहुत से काम ऐसे हैं जिनके बुरे या भले होने हमें स्वयं ही आभास हो जाता है और उनकी बुराई या भलाई का निर्णय

हम अपनी प्रकृति या अपनी बुद्धि या अपने विवेक से स्वयं भी कर सकते हैं। दूसरी ओर यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि ईश्वरीय मार्गदर्शन भी बुरे और भले कामों के निर्धारण ही का दूसरा नाम है। किन्तु मात्र इतनी-सी बात से यह विचार कर बैठना उचित न होगा कि मानव अपने तौर पर अल्लाह तआला के समस्त आदेशों और इच्छाओं का आकलन कर सकता है। क्योंकि “कुछ” कामों के बुरे या भले होने का ज्ञान व अनुमान “समस्त” कामों के विषय में ज्ञान का बदल नहीं हो सकता।

निगाहें फैलाकर अपनी दुनिया को देखिए, आखिर वह कितनी मान्यताओं के विषय में एक मत है? कितने काम हैं जिनके भले होने पर और कितने काम हैं जिनके बुरे होने पर सम्पूर्ण मानवजाति सहमत है? बड़ी रियायत के बाद भी आप ऐसे कामों और ऐसी मान्यताओं की कोई गणनीय संख्या नहीं समने ला सकते, जिनकी भलाई और बुराई पर सभी लोग सहमत हों और जिन थोड़ी-सी बातों पर सहमति होगी भी, विस्तार में जाने के बाद उनके बारे में भी यह सहमति ज्यों की त्यों शेष न रहेगी। स्पष्ट है कि इतनी निर्मूल-सी बुनियाद पर इतने बड़े दावे का भवन किसी प्रकार नहीं निर्मित किया जा सकता। कुछ थोड़े से कामों के बुरे या भले होने का निर्णय मानवजाति अगर स्वयं कर सकती है तो यह बात भलाई और बुराई की पूरी समस्या को हल कर लेने का दायित्व नहीं निभा सकती। निस्सन्देह यह तो नहीं कहा जाएगा कि दीपक की रौशनी रौशनी नहीं, लेकिन यह जरूर कहा जाएगा कि एक दुनिया को प्रकाशमान करने के लिए जिस सूरज की आवश्यकता है, यह दीपक उसकी जगह कभी भी नहीं ले सकता।

ज्ञात हुआ कि इस विषय में मानव शक्ति की बेबसती एक अकाट्य तथ्य है, जिसके विरुद्ध न बुद्धि कुछ कह सकती है, न अनुभव और न निरीक्षण। इस वस्तुस्थिति की अपेक्षा यही थी कि ऊपर से मानव का मार्गदर्शन किया जाए, क्योंकि उसके चिंतन और विवेक शक्तियों में यदि यह क्षमता थी कि वह अल्लाह की इच्छाओं को मालूम कर सके, यद्यपि उनकी आवश्यकता आहार और जल की तरह थी, तो अब उसकी इस आवश्यकता के पूरा होने का उपाय इसके अतिरिक्त और कोई रह ही नहीं जाता कि उसकी अल्लाह तआला ही की ओर से कोई बाह्य व्यवस्था हो।

एक ओर तो यह वस्तुस्थिति और मानव की यह सबसे बड़ी मौलिक आवश्यकता थी, दूसरी ओर अल्लाह तआला की पालन शक्ति थी, उसकी दयालुता थी, उसका न्याय था, उसकी तत्त्वदर्शिता थी और इनमें से प्रत्येक गुण को यह अपेक्षित था कि मानव को यूँ ही विवशता के अँधेरे में न छोड़ा जाए, वरन् उसकी सहायता की जाए और उसको उन आदेशों से साफ़ और खुले शब्दों में अवगत करा दिया जाए, जिनको जाने बगैर वह बन्दगी और आज्ञापालन का मार्ग अपना ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में सम्भव न था कि जगत् का पालनहार अल्लाह तआला अपने आदेशों व इच्छाओं से इनसानों को परिचित कराने का कोई बाह्य और ऊपरी प्रबन्ध न करता, इस सम्बन्ध में एक दिन की भी विलम्ब किया जाता और जानव जाति के आरम्भ के साथ ही इसकी व्यवस्था भी न कर दी जाती। जिस पालनहार (प्रभु) ने आदम की सन्तान की भौतिक आवश्यकताओं की सामग्री प्राप्त करने के लिए ज़मीन पर इतना बड़ा प्रबन्ध कर रखा था, उसके पोषक गुण के बिलकुल विरुद्ध था कि वह उसकी नैतिक और धार्मिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान न देता। जिस प्रभु ने इनसान पर यह भारी ज़िम्मेदारी डाली थी कि वह उसकी पसन्द की हुई राह पर चले, उसकी करुणा, उसकी कृपा और उसके न्याय को यह कैसे पसन्द होता कि वह उसे उस राह से सूचित करने का ज़रूरी प्रबन्धन करे। अतएव उसने यह व्यवस्था की और परिपूर्ण ढंग से कीया और यही वह प्रबन्ध है जिसे इस्लाम की परिभाषा में रिसालत” (ईशदूतत्व) कहा जाता है और जिस माध्यम के द्वारा यह व्यवस्था की जाती है उसे “रसूल” (पैगम्बर या सन्देशवाहक) कहते हैं।

जहाँ यह बात प्रकाशमान दिन की तरह विदित है कि बिना रिसालत का इनसान अल्लाह तआला के आदेशों और इच्छाओं को नहीं जान सकता, वहाँ इस तथ्य को भी सुव्यक्त ही समझता चाहिए कि रिसालत पर ईमान लाना मोमिन और मुस्लिम बनने के लिए हर हाल में अनिवार्य तथा आवश्यक है। यह ठीक उसी प्रकार आवश्यक है, जिस तरह देखने के लिए आँखों की पुतली में नेत्रज्योती ज़रूरी होती है। स्पष्ट है जो चीज़ किसी मंज़िल तक पहुँचने का एकमात्र साधन हो, जब तक उसको न अपना लिया जाए, मंज़िल तक पहुँचने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होगा।

फिर बात इतने ही पर खत्म नहीं हो जाती। अगर ग़ौर कीजिए तो ज्ञात होगा कि रिसालत का व्यावहारिक महत्व इससे भी बढ़कर है। अर्थात् वस्तुस्थिति मात्र यही नहीं है कि इसके बिना अल्लाह के आदेशों को नहीं जाना जा सकता, वरन् यह भी है कि इसके बिना स्वयं अल्लाह और आखिरत को भी नहीं जाना-पहचाना जा सकता। रिसालत ही वह एक मात्र साधन है जो अल्लाह तआला का सही ज्ञान और आखिरत का सही ज्ञान प्रदान करता है बल्कि स्पष्ट शब्दों में रिसालत के बिना अल्लाह और आखिरत पर ईमान भी जैसा चाहिए नहीं लाया जा सकता। इसलिए रिसालत पर ईमान रखना भी अगर इस्लाम की मौलिक धारणाओं में सम्मिलित है तो इसे सम्मिलित होना ही चाहिए था।

मूलतः जब यह बात ज्ञात हो चुकी कि रिसालत, आहार और जल की तरह इनसान की एक अवश्यंभावी आवश्यकता है और इस्लाम की मौलिक धारणाओं में सम्मिलित है तो अब इस धारणा के आवश्यक विवरण का अवलोकन कर लेना चाहिए —

कुरआन मजीद ने रिसालत के बारे में जिन महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है वे ये हैं—

१- रसूल इनसान ही थे

अल्लाह ने इनसानों तक अपने आदेश पहुँचाने का माध्यम इनसानों ही को बनाया है अर्थात् अल्लाह के ये रसूल न फ़रिश्तों, में से होते थे, न जिनों में से न किसी और प्राणी वर्ग में से और न ऐसा है कि अपने आदेशों से अवगत कराने के लिए अल्लाह स्वयं ही किसी इनसानी या ग़ैर-इनसानी रूप में यहाँ आता रहा हो। इसके विरुद्ध सत्य यह है कि जब भी कोई रसूल भेजा गया मानव-जगत् ही में से भेजा गया। अल्लाह का फ़रमान है —

“ऐ नबी ! हमने तुमसे पहले भी (रसूल बनाकर) केवल आदमियों ही को भेजा था, जिन पर हम अपनी ‘वह्य’ अवतरित करते थे।”

—कुरआन १२:१०९

कुरआन मजीद ने पिछली क्रौमों और हक़ की ओर बुलाने के वृत्तांत बयान किए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि अल्लाह के रसूलों को लोगों ने सदैव लगभग यही कर ठुकराया कि, “तुम भी तो हमारे ही जैसे मनुष्य हो, फिर अल्लाह के दूत और संदेशवाहक (रसूल) होने का दावा किस प्रकार करते हो ?” (कुरआन १४:१०) और इस आपत्ति के उत्तर में उन लोगों ने कभी यह नहीं कहा कि नहीं, तुम ग़लत कह रहे हो कि हम भी तुम्हारे ही जैसे मनुष्य हैं; वरन् सब ने यही कहा कि निस्संदेह हम मनुष्य हैं और तुम्हारे ही जैसे मनुष्य हैं। (कुरआन १४:११) इसलिए यह एक जानी-मानी सच्चाई है कि रिसालत के लिए हमेशा इनसानों ही की नियुक्ति हुई ठीक हमारे और आप जैसे इनसानों की। हमारी ही तरह वे शरीर व प्राण रखते, क्षमताएँ और इच्छाएँ रखते, पत्नी-सन्तान रखते नैसर्गिक नियम के अनुसार जन्म लेते, पलते-बढ़ते, खाते-पीते, सोते-जागते, दुख-सुख का अनुभव करते हँसते और रोते, स्वस्थ रहते, बीमार पड़ते तथा मृत्यु को प्राप्त होते। मतलब यह कि वे हर दृष्टि से मनुष्य ही होने और मनुष्य होने की एक-एक अनिवार्य चीज़ और गुण उनके अन्दर मौजूद होता। तथ्य का यह विवरण “हम तुम्हारे ही जैसे मनुष्य हैं” जैसी आयतों ही से समझ में नहीं आती, बल्कि कुरआन मजीद ने जगह-जगह इसको स्पष्ट भी किया है—

“..... निस्संदेह ये रसूल खाना खाते और सौदा खरीदते के लिए) बाज़ारों में चलते-फिरते।”

— कुरआन

२५:२०

“हमने उनके लिए बीबी-बच्चे बनाए थे।” — कुरआन १३:३८

जिस कारण हेतु ‘रिसालत’ के लिए मनुष्यों ही की नियुक्ति हुई उसकी ओर भी कुरआन मजीद ने संकेत कर दिया है। जब लोगों ने नबी (सल्ल.) की नुबूत के विरुद्ध यह ‘तर्क’ दिया कि यदि अल्लाह को हमारे पास अपना कोई रसूल भेजना होता तो किसी फ़रिश्ते को भेजता न कि हमारे ही जैसे एक इनसान को, तो इसके जवाब में अल्लाह तआला ने फ़रमाया:—

“ऐ नबी ! उनसे कह दो कि अगर ज़मीन में फ़रिश्ते चलते-फिरते और आबाद होते, तो हम अवश्य उन पर आसमान से किसी फ़रिश्ते (ही) को रसूल बनाकर भेजते।

— कुरआन १७:९५

यह आयत रिसालत (ईशदूतत्व) के बारे में अल्लाह तआला का एक निश्चित किया हुआ नियम बता रही है और वह यह है कि ‘रसूल’ को उसी जाति और उसी प्राणी-वर्ग में से होना चाहिए, जिसके पास जाकर उसे रिसालत का कर्तव्य निभाना है। देखने यह यद्यपि मात्र एक बात है किन्तु वास्तव में यह एक ऐ हिकमत भरा वाक्य है, जो सद्बुद्धि रखनेवालों को पूरी बात समा देता है। इससे यह तथ्य आप से आप खुलकर सामने आ जाता है कि इनसानों तक अल्लाह के आदेश पहुँचानेवाले रसूलों का इनसान ही होना ज़रूरी था, अन्यथा रिसालत का उद्देश्य पूरा ही न हो पाता। क्योंकि रसूल यद्यपि लोगों तक ईश्वरीय आदेश पहुँचाने का माध्यम होता है, लेकिन मात्र माध्यम नहीं होता कि वह केवल डाकिया हो और उसकी हैसियत इसके अतिरिक्त और कुछ न हो कि वह बस फ़ोन और टेलीग्राम के तारों की तरह अल्लाह तआला के आदेश उसके बन्दों तक पहुँचा दे —

बल्कि, वह इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ होता है। वह अल्लाह तआला के आदेशों का पहुँचाने वाला अवश्य होता है, किन्तु इसी के साथ-साथ उन आदेशों का आवाहक भी होता है, मार्गदर्शक भी होता है शिक्षक भी होता है, व्याख्याकार भी होता है, उनके अनुसार लोगों को ज्ञान और व्यवहार की दृष्टि से पूर्ण भी बनाता है और सबसे पहले स्वयं ईश्वरीय आदेशों पर चलकर दूसरों के समक्ष एक उच्च आदर्श (उस्वए हसना) भी प्रस्तुत करता है। ये सब बातें उसके कर्तव्यों में सम्मिलित होती हैं। दूसरे शब्दों में यह कि जब तक यह सब

कुछ न हो, उस उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव नहीं जिसके लिए ईशदूतत्व (रिसालत) श्रृंखलाबद्ध हुआ है। गौर कीजिए कि क्या कोई दूसरा प्राणी इन सारे कामों को पूरा कर सकता है? जाहिर है इसका केवल एक ही उत्तर होगा और वह यह कि दूसरा कोई प्राणी इन कामों में से कुछ को पूरा कर दे, किन्तु सबको किसी भी दशा में पूरा नहीं कर सकेगा। उदाहरणतः फ़रिश्तों ही को ले लीजिए जिनकी ओर इस सम्बन्ध में सबसे पहले निगाह उठ सकती है। यदि फ़रिश्ते को रसूल बनाकर इनसानों के पास भेजा जाता तो सोचिए कि स्थिति क्या होती? यह तो सत्य है कि वह अल्लाह के आदेश लोगों तक ज्यों का त्यों अवश्य पहुँचा देता, किन्तु फ़रिश्ता होते हुए वह उनमें उन आदेशों पर आखिर खुद कैसे पालन (व्यवहार) कर पाता जिनका सम्बन्ध नितांत रूप से मानवीय भावनाओं, अपेक्षाओं, विशिष्ट मानवीय समस्याओं और मामलों से है? जब वह इन पर अमल कर ही न पाता तो उनके विषय में अपने अनुयायियों के लिए “उत्तम आदर्श” कैसे पेश कर सकता? इस प्रकार वह उन मानवीय भावनाओं और अपेक्षाओं से अनभिज्ञ होते हुए उनसे सम्बन्ध रखनेवाले मामलों में लोगों का तत्काल मार्गदर्शन कैसे कर पाता? उनकी समस्याओं को कैसे हल करता? उनके लिए अल्लाह की किताब में वार्णित की हुई पूरी जीवन-प्रणाली को मौलिक रूपरेखा में विस्तृत रंग कैसे भरता? वह जानता ही नहीं कि मानव-मन की प्रवृत्तियाँ क्या रुख अपनाती रहती हैं, फिर वह उसको विकसित किस प्रकार करता?

कुरआन मजीद का बयान है कि हर नबी उसी क्रौम के अन्दर से होता था जिसके पास उसे नबी बनाकर भेजा जाता था। इसी प्रकार उसपर उतरनेवाला अल्लाह का कलाम (ईशवाणी) भी उसी ज़बान में होता था जो ज़बान कि उसकी क्रौम बोलती थी। (कुरआन १४:४) ताकि वह अल्लाह का संदेश क्रौम पर अच्छी तरह स्पष्ट कर दे। (कुरआन १४:४) कुरआन मजीद के इस बयान से अदाज़ा लगाइए कि अल्लाह तआला ने लोगों पर अपने पैग़ाम को प्रकाशमान दिन की तरह स्पष्ट कर देने का कैसी बहुआयामी और पूर्ण व्यवस्था कर रखी है और इस बात को कितना महत्व दिया है कि कोई वास्तविक कठिनाई या कारण उसकी भेजी हुई जीवन-प्रणाली (दीन) के समझ पाने के मार्ग में आड़े न आ सके और लोगों के समक्ष उसका तर्कयुक्त प्रमाण हर प्रकार से आ जाए। स्पष्ट है कि इस उद्देश्य-प्रति के लिए यदि नबी का सहजाति होना और ईश्वरीय संदेश का उसी क्रौम की भाषा में होना अनिवार्य था, तो कोई संदेह नहीं कि नबी का इनसान होना उससे कई गुना ज़्यादा ज़रूरी था।

२. ‘रिसालत’ के पद का स्वरूप

रिसालत को कोई अर्जनात्मक वस्तु नहीं है कि उसे प्रयास करके प्राप्त किया जा सके, बल्कि वह एक ‘वहबी’ (अल्लाह की ओर से प्रदान की जानेवाली) वस्तु और अल्लाह का विशेष उपहार है और उसी को मिलती है जिस की वह प्रदान करता है। उसके मिलने में मानवीय प्रयास और इरादे की कोई मूमिका नहीं होती।

अल्लाह तआला इस पद या ज़िम्मेदारी के लिए व्यक्तियों का “चुनाव” स्वयं करता रहा है, जिसे कुरआन की भाषा में “इस्तिफ़ा” कहते हैं। ‘इस्तिफ़ा’ का अर्थ है— बहुत-सी चीज़ों में से सबसे अच्छी चीज़ को चुन लेना। यह शब्द बताता है कि रिसालत के लिए चुनाव ऐसे ही व्यक्तियों का होता रहा है, जो अपनी विविध क्षमताओं और शक्तियों की दृष्टि से इस महान और पवित्र पद के लिए सबसे अधिक योग्य होते थे। यह बात बुद्धि की दृष्टि से भी अनिवार्यतः ज्ञात होती है और कुरआन मजीद के कतिपय सकेतों से भी इसका स्पष्टीकरण होता है। नबी (सल्ल.) के विरोधियों ने जब आप (सल्ल.) के नबी बनाए जाने के दावे पर आपत्ति की और अपने लिए भी बराबर की पात्रता की बातें कीं तो इसके जवाब में अल्लाह ने फ़रमाया—

“अल्लाह बेहतर जानता है कि उसे पैग़म्बरी (सदेशवाहक) किसको समर्पित करनी चाहिए थी।”

— कुरआन

६:१२४

न केवल यह कि ‘रिसालत’ सीखने और कोशिश करने से प्राप्त नहीं हो सकती, बल्कि दूसरे लोग तो इसकी वास्तविकता को समझ भी नहीं सकते। जैसाकि कुरआन मजीद कहता है—

“ये लोग वह्य के बारे में तुमसे पूछते हैं कि वह क्या है? उनसे कह दो कि वह्य मेरे पालनहार के (विशिष्ट) मामलों में से है और (जहाँ तक तुम आम इनसानों का सम्बन्ध है) तुम्हें बहुत कम ज्ञान दिया गया है।”

अर्थात् स्वाभाविक रूप से तुम्हारे ज्ञान व बुद्धि की पहुँच इतनी है ही नहीं कि तुम “वह्य” को समझ सको और उसकी हक़ीकत को पा सको। वह्य का न समझ पाना वास्तव में नुबूत की वास्तविकता का न समझ पाना है। क्योंकि यही वह्य नुबूत की खास बुनियाद है, इसी के मिलने से एक व्यक्ति नबी बनता है।

३. रिसालत की व्यापकता

नबी प्रत्येक समुदाय में भेजे गए हैं—

“कोई भी समुदाय नहीं, जिसमें कोई सचेत करनेवाला (रसूल न आया हो।”

— कुरआन, ३५:२४

और स्पष्ट है कि ऐसा होना ही चाहिए था। क्योंकि इनसान-इनसान सब बराबर हैं, चाहे उनका सम्बन्ध किसी जाति या भू-खण्ड से हो। सब एक ही उद्देश्य के लिए पैदा हुए हैं। अल्लाह की बन्दगी को सभी का जीवन-कर्तव्य ठहराया गया है। और आखिरत में इस कर्तव्य के सम्बन्ध में जो पूछगच्छ होगी वह सभी से होगी। फिर ऐसा क्यों होता कि कुछ लोगों को तो अल्लाह तआला उनका यह कर्तव्य याद दिलाता और कुछ को बेखबर छोड़ देता? कुछ गिरोहों को अपने आदेशों का ज्ञान दे देता, कुछ को इससे वंचित रखता? जबकि वह समान रूप से सभी का रचयिता, सभी का स्वामी, सभी का पालनहार और सभी का पूज्य-प्रभु है। उसकी रहमत सबके लिए आम है और उसका न्याय पक्षपात से पूरी तरह पाक है।

स्पष्ट रहे कि प्रत्येक “समुदाय” में रसूल के आने का मतलब यह है कि कम से कम उसकी किसी एक पुश्त (पीढ़ी) में कोई रसूल अवश्य भेजा गया है।

४. रसूल की शिक्षाओं की हैसियत

रसूल— धार्मिक जीवन-शैली व धर्मविधान (शरीअत) के नाम पर लोगों को जो कुछ भी बताता है, वह सब अल्लाह की ओर से होता है। कोई बात भी उसके अपने मन की उपज नहीं होती।

“नबी (धर्म के मामले में) अपनी इच्छा से कोई बात नहीं कहता। वह जो कुछ कहता है, वह मात्र वह वह्य होती है, जो उस पर अवतरित की जाती है।”

—कुरआन, ५३:३,४

नबी की सारी शिक्षाओं का अल्लाह की ओर से होने का अर्थ थोड़ा विस्तृत है और उसकी दो क्रिस्में होती हैं—

१. पहली यह कि अल्लाह तआला ने अपने आदेश व मार्गदर्शन निश्चित शब्दों में स्वयं सीधे या फ़रिश्तों के द्वारा नबी को सिखा दिए हों।

२. दूसरी यह कि अल्लाह तआला की ओर से नबी को जो आदेश सिखाए और बताए गए हों नबी ने उन्हें सामने रखकर उसमें चिंतन किया हो और अल्लाह की इच्छाओं को स्पष्ट करते हुए उनसे स्वयं तदधिक आदेश निर्धारित किए हों।

इन दो प्रकारों में पहले प्रकार की शिक्षाएँ मूलतः सीधे अल्लाह की ओर से होती हैं और दूसरे प्रकार की शिक्षाएँ नबी के चिंतन एवं प्रयास के माध्यम से ईश्वर की ओर से होती हैं।

५. नबियों की निर्दोषता

नबी निर्दोष (मासूम) होता है। वह विचारों में और न चिंतन एवं प्रयास से आदेशों के निर्धारण में ग़लती करता है न कर्म और नैतिक व्यवहार में उससे कोई भूल होती है। उसकी भावनाएँ, उसका शील-स्वभाव, विचार एवं कर्म में मनेच्छा और शैतान का प्रवेश बिलकुल नहीं होता। उससे यदि कभी भूल हो भी सकती है, तो केवल ऐसे सोच-विचार और अनुमान में हो सकती है, जिसका सम्बन्ध ऐहिक उपायों और ग़ैर शरई मामलों से होता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की त्रुटियों और अनुमान की ग़लती से नबी की निर्दोषता में कोई अन्तर नहीं आ सकता। क्योंकि नबी के निर्दोष होने का अर्थ केवल यह है कि नबी अल्लाह के आदेशों को समझने और उनसे तदधिक आदेश निर्धारित करने में ग़लती नहीं करता और न अल्लाह की इच्छाओं का व्यवहारतः पालन करने में उससे कोई कोताही होती है। इसलिए अन्य मामलों में सोच और अनुमान की ग़लती का नबी के निर्दोष होने के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं।

नबी निर्दोष (मासूम) इसलिए नहीं होता कि स्वाभाविक रूप से उसकी सोच में या अमल में कोई ग़लती हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत सत्य वास्तव में यह है कि दूसरों की भाँति नबियों (अलै.) से भी ग़लती की सम्भावना अवश्य होती है। किन्तु होता यह है कि यह सम्भावना मात्र सम्भावना ही रहती है। यह साधारणतया व्यावहारिक रूप धारण नहीं करती। यदि कभी अन्जाने में नबी से कोई भूल हो ही जाती है तो वह अपनी इस ग़लती पर क़ायम नहीं रहता, अल्लाह उसे उसकी अपनी ग़लती से अवगत करा देता है और फिर नबी का फ़ैसला बदल जाता है। नबी के विचार करने की क्षमता अत्यंत पूर्ण होती है और उसकी नैतिक शक्ति भी अत्यंत बढ़ी हुई होती है। एक ओर तो उसे उत्तम क्षमताएँ एवं योग्यताएँ प्राप्त होती हैं, जिससे वह ईश्वरीय आदेश के आशय को भली-भाँति समझ लेता है और अपने इज्तिहाद (गुढ़ जिन्तन) के द्वारा तदधिक आदेश निर्धारित कर लेता है। दूसरी ओर उसे अपनी मन की इच्छा पर पूरा-पूरा नियन्त्रण प्राप्त होता है और उसकी नैतिक चेतना, उसका ईश्वरीय भय और उसका पारलौकिक डर इतना बढ़ा हुआ होता है कि गुनाह के समस्त उत्प्रेरक तत्त्व सिर उठा ही नहीं पाते।

किन्तु फिर भी वास्तव में नबियों के निर्दोष होने के समस्त कारणों में केवल यही कारण नहीं हैं बल्कि एक और चीज़ भी है जो उन्हें इस

“प्रशंस्य स्थान” तक पहुँचा देती है और वह है अल्लाह तआला की विशिष्ट निगरानी और रक्षा। यही ‘निगरानी’ है जो उन्हें नैतिकता और कर्म की त्रुटियों से भी बचाती है और विचार व इज्तिहाद की गलतियों से भी बचाए रखती है। अतः वास्तविक तथ्य यह नहीं है कि नबी से कोई राय क्रायम करने में चूक हो ही नहीं सकती, वरन् यह है कि इससे यह चूक हो सकती है। किन्तु ज्यों ही ऐसा होता है उसे अल्लाह की ओर से तुरन्त सचेत कर दिया जाता है और इससे पूर्व कि नबी की कोई राय शरीअत (धर्म-विधान) का आदेश बनकर उसके अनुयायियों तक पहुँचे, अल्लाह तआला अपने ‘इलहाम’ या वहय के द्वारा उसका संशोधन कर देता है। इसी प्रकार बुराई की रुचियाँ सिर उठाना चाहती हैं और नबी की अपनी ईमानी और नैतिक शक्ति उन्हें कुचल डालने के लिए आगे बढ़ती है तो वह अकेला नहीं होता, बल्कि अल्लाह की खास मदद भी उसके साथ होती है। जिसके बाद सम्भावना ही नहीं रह जाती कि रुचियाँ जीवित शेष रह जाएँ।

गौर कीजिए तो साफ़ एहसास होगा कि नबी का निर्दोष होना उस उद्देश्य के लिए नितांत अवश्यभावी था, जिसके लिए ‘रिसालत’ का सिलसिला स्थापित किया गया है। एक ऐसे व्यक्ति पर, जिससे इस बात का सन्देह हो कि मिसाल के तौर पर “वह झूठ बोल सकता है, धोखा-धड़ी कर सकता है, गलत इच्छाओं का शिकार हो सकता है, अल्लाह की मंशा का गलत अर्थ प्रस्तुत कर सकता है।” लोग यह विश्वास किस प्रकार कर सकते हैं कि वह अपनी नुबूत के दावे में सच्चा है और किसी झूठ से काम नहीं ले रहा है? अल्लाह के नाम पर हमें जो हिदायतें दे रहा है वे सब की सब वस्तुतः अल्लाह ही की ओर से हैं और उसने उनमें अपनी ओर से कोई कमी-बेशी नहीं की है फिर ऐसा व्यक्ति लोगों के लिए आचार-विचार व कर्म करने का अच्छा आदर्श भी प्रस्तुत नहीं कर सकता। क्योंकि जिसका स्वयं अपना दामन दाग-धब्बों से पवित्र न हो वह दूसरों को क्या दिखा कर हिदायत कर सकता है कि तुम्हें अपने दामनों को इस प्रकार पवित्र व पाक रखना चाहिए। यद्यपि नुबूत का काम पूर्ण हो ही नहीं सकता, जब तक कि नबी अपने अनुयायियों के सामने परिपूर्ण “इस्लाम” और “अल्लाह के आदेश” के परिपूर्ण अनुपालन का व्यावहारिक नमूना भी प्रस्तुत न करता रहे।

न केवल यह कि नबी निर्दोष और मासूम होता है, बल्कि मासूम और निर्दोष सिर्फ़ नबी ही होता है। सोच और इज्तिहाद की गलतियों और चरित्र व आचरण के विचलनों से पाक होना अल्लाह के सिर्फ़ इन्हीं खास बन्दों की विशेषता है। दूसरे लोग धर्म की समझ और सूझ-बूझ और नेकी और ईशपरायणता के चाहे कितनी ही सर्वोच्च शिखर तक पहुँच जाएँ किन्तु उस अंतिम चोटी तक, जिसका नाम “मासूमियत” है, कभी भी नहीं पहुँच सकते। फिर शायद यह तो सम्भव हो कि किसी का चरित्र और कर्म मासूमियत की सीमाओं के निकट पहुँच जाए, किन्तु यह किसी तरह सम्भव नहीं कि उसके चिंतन और इज्तिहाद की शक्तियाँ गलतियों से मुक्त हो जाएँ और वह जो कुछ सोचे वह अनिवार्यतः धर्म और ईश्वरीय अभिप्राय की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति हो।

इस वार्तालाप का यह अंतिम बिन्दु एक विशेष महत्व रखता है, क्योंकि जब तक यह तथ्य मन में गहराई के साथ उतर न जाए कि गौर-नबी मासूम नहीं होता, तब तक नबी की मुहब्बत और अनुकरण का हक़ पूरी तरह अदा नहीं हो सकता और यह असंभव है कि इनसान किसी-न-किसी हद तक नुबूत में शिर्क की गुमराही में पड़ जाए।

६. नबियों की हैसियत

नबी की पूरी पैरवी ज़रूरी होती है और ऐसा समझना ईमान की शर्त है। धर्म और शरीअत’ की परिधि में नबी जो कुछ भी कहता है, एक मोमिन का अनिवार्य कर्तव्य है कि उसके अनुपालन में नानुकुर न करे। उसके आदेश में निहित हितु समझ में आए या न आए प्रत्येक स्थिति में विश्वास यही रखे कि वह भलाई ही भलाई है और परिपूर्णतः सत्य ही है। — नबी की यह हैसियत स्वयं अल्लाह तआला की नियत की हुई है। उसने कुरआन में कहा है—

“हमने जिस रसूल को भी भेजा इसी लिए भो कि अल्लाह के आदेशानुसार उसका आज्ञानुपालन किया जाए।” —

४:६४

फिर यह अनुपालन भी मात्र बाह्य रूप में ही नहीं होना चाहिए, बल्कि हार्दिक इच्छा के साथ होना चाहिए। अपने एक नबी (अर्थात् आखिरी नबी हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा सल्ल.) की वस्तुतः आज्ञानुपालन का उल्लेख करते हुए अल्लाह ने फ़रमाया है—

अतः नहीं, (ऐ नबी) तुम्हारा पालनकर्ता गवाह है कि ये लोग ईमानवाले नहीं हो सकते जब तक वे अपने आपस के झगड़ों में तुम्हें निर्णय करने वाला न बनाएँ और फिर तुम जो कुछ निर्णय करो उस पर अपने दिलों में कोई तंगी भी न पाएँ, बल्कि उसे पूरे तौर पर स्वीकार कर लें।

— कुरआन, ४:६५

और ऐसा होना हर हाल में ज़रूरी भी था। बुद्धि इसके अतिरिक्त एक नबी के लिए किसी और हैसियत की कल्पना ही नहीं कर सकती इनसान यदि अल्लाह की उपासना और उसके आदेशों के अनुपालन के लिए पैदा किया गया है और यदि इस बन्दगी का ढंग मालूम करने और उन आदेशों के जानने का एक मात्र साधन नबी ही है, तो नबी के पूर्ण आज्ञानुपालन और अनुवर्तन के बिना अल्लाह के आज्ञानुपालन

और दासता की कोई सूरत सम्भव ही नहीं रह जाती। अगर रास्ता चले बिना आप मंज़िल तक नहीं पहुँच सकते और उड़ान-यंत्रों का प्रयोग किए बिना वायुयात्रा नहीं कर सकते, तो नबी की समस्त बातों के स्वीकार करने और उसके पीछे चले बिना अल्लाह की बन्दगी भी नहीं कर सकते। यही कारण है जो आप कुरआन मजीद में देखते हैं कि प्रत्येक नबी अपनी नुबूत की उद्घोषणा करते हुए कहता है कि “अल्लाह का डर रखो और मेरा अनुसरण करो।” (कुरआन २६:१२६) यह वास्तव में उसकी ओर से इसी सच्चाई की उद्घोषणा होती है कि अल्लाह का डर व संयम और बन्दगी का मार्ग तुम्हें केवल मेरे अनुकरण के द्वारा मिल सकता है। मैं ही बता सकता हूँ कि तुम्हारे पालनकर्ता के आदेश क्या हैं और उन आदेशों को व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाए और उन पर किस प्रकार चला जाए? यही कारण है कि कुरआन मजीद में अल्लाह तआला ने केवल अपनी ही आज्ञा का पालन कर देने पर बस नहीं किया, बल्कि जगह-जगह “अल्लाह का आज्ञापालन करो” के साथ “रसूल का आज्ञापालन करो” का आदेश भी दिया है। (कुरआन, ४:५९)

फिर यह बात कि नबी ‘दीन’ (धर्म) व शरीअत की परिधि में जो कुछ कहता है वह सब का सब अल्लाह ही की ओर से होता है, नबी की इस हैसियत को और अधिक स्वीकार्य और आवश्यक बना देती है। क्योंकि इस सच्चाई के अन्तर्गत नबी का आज्ञापालन वस्तुतः अल्लाह का आज्ञापालन बन जाता है। जैसा कि कहा भी गया है—

“जो (अल्लाह के) रसूल की आज्ञा का पालन करता है वास्तव में वह अल्लाह का आज्ञापालन करता है।” —

कुरआन, ४:८०

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसका आज्ञा-पालन वास्तव में अल्लाह का आज्ञापालन हो उसकी हैसियत ऐसे व्यक्ति की है जिसकी पूर्णतः और बिना शर्त के आज्ञापालन किया जाना चाहिए।

मतलब यह कि रिसालत पर ईमान लाने का यह एक खुला हुआ बड़ा बुनियादी तक्राज़ा है कि रसूल का पूर्णरूप से आज्ञापालन किया जाए, ऐसा आज्ञापालन जिसमें न कोई बन्दिश तथा शर्त हो, न कोई बेदिली। जो व्यक्ति नबी का मक़ाम इससे नीचे समझता है, वह सही अर्थों में उस पर ईमान ही नहीं रखता और नहीं जानता कि नुबूत किसे कहते हैं।

७. एक नबी का इनकार भी कुफ़्र है

रिसालत पर ईमान उस समय तक कुछ नहीं, जब तक कि सारे नबियों की रिसालतों पर ईमान न लाया जाए। कुरआन उन लोगों को मोमिन स्वीकार नहीं करता, जो कुछ नबियों को तो अल्लाह का रसूल मानते हों और कुछ को न मानते हों—

“जो लोग अल्लाह का और उसके रसूलों का इनकार करते हैं और चाहते हैं कि अल्लाह और उसके रसूलों के बीच अन्तर करें और कहते हैं कि हम (रसूलों में से) कुछ को मानेंगे और कुछ को न मानेंगे और (इस प्रकार) चाहते हैं कि इनकार और ईमान के बीच की एक राह निकाल लें निस्सन्देह वे पक्के अधर्मी हैं।”

— कुरआन, ४:१५०, १५१

इन शब्दों पर स्थिर होकर चिंतन कीजिए ये स्पष्टतः परिघोषणा करते हैं कि किसी एक रसूल का भी इनकार परले दर्जे का इनकारी और अधर्मी बना देता है और इस एक इनकार की मौजूदगी में शेष सभी नबियों का स्वीकार करना भी कोई अर्थ व मूल्य नहीं रखता। बाह्य रूप में यह एक कठोर निर्णय ज्ञात होता है, किन्तु सच्चाई की अपेक्षा यही थी कि निर्णय इसके अतिरिक्त कुछ और न हो, और एक नबी के इनकार को भी इससे निम्न श्रेणी का अपराध न ठहराया जाए। जब यह ज्ञात है कि चाहे कोई भी रसूल हो वह अल्लाह ही की ओर से आता है और उसी के आदेश लोगों को सुनाता है। दूसरे शब्दों में यह कि वह समस्त ब्रह्माण्ड के वास्तविक सत्ताधारी ही की ओर से नियुक्त किया हुआ प्राधिकृत हाकिम और शासक होता है, तो उसका इनकार वास्तव में उसका इनकार नहीं है बल्कि समस्त ब्रह्माण्ड के शासक की अवज्ञा और नाफ़रमानी है। उसके विरुद्ध बग़ावत का एलान है और उसका इनकार व बग़ावत के एलान की मौजूदगी में दूसरे नबियों का स्वीकार करना बिलकुल ऐसा ही है जैसे किसी हुकूमत के नियुक्त किए हुए बहुत से अधिकारियों को तो उसका प्राधिकृत हाकिम स्वीकार कर लिया जाए मगर फिर उसी हुकूमत के किसी एक अधिकारी को उसका प्रतिनिधि और प्राधिकृत हाकिम मानने से इनकार कर दिया जाए। यह शासन का आज्ञानुपालन तो न हुआ बल्कि अपने मत और इच्छा का आज्ञानुपालन हुआ। इसका अर्थ तो यह होगा कि जिन अधिकारियों को हुकूमत का प्रतिनिधि और प्राधिकृत हाकिम स्वीकार किया गया है उनका यह स्वीकार करना भी वास्तव में शासन के प्रति कर्तव्यानुपालन के अन्तर्गत नहीं, बल्कि अपने मन की इच्छा के कारण से है, इसलिए इस स्वीकृति का वास्तव में कोई मूल्य भी नहीं। अतः, अल्लाह तआला ने उन लोगों को जो किसी एक रसूल का इनकार करते हों सारे रसूलों का इनकार करनेवाला घोषित किया है। उदाहरणार्थ — नूह (अलै.) की क्रौम के सम्बन्ध में उसने कहा कि “जब उन्होंने हमारे रसूलों को झुठलाया तो हमने भी उन्हें डुबो दिया।” (कुरआन, २५:३७) यद्यपि घटना की वस्तुस्थिति के अनुसार उन्होंने केवल एक रसूल हज़रत नूह (अलै.) का इनकार किया था, शेष

रसूलों की तो उनके समक्ष कोई समस्या ही न थी।

हमें अभी ज्ञात हो चुका कि “जो रसूल भी आता है इसी लिए आता है कि अल्लाह के आदेशानुसार उसका आज्ञानुपालन किया जाए।” तथा यह कि “जो अल्लाह के रसूल का अनुपालन करता है वह अल्लाह का वास्तव में आज्ञानुपालन करता है।” जब वस्तुस्थिति यह है तो क्या इसका खुला हुआ अर्थ यह नहीं कि किसी रसूल को तस्लीम न करना वास्तव में “अल्लाह की आज्ञा” को ठुकराना और “अल्लाह के आज्ञापालन का इनकार है? ऐसी स्थिति में एक रसूल का इनकार भी अधर्म व विद्रोह की आत्यांतिक क्यों न होगी। और अल्लाह के एक-एक रसूल को सत्यनिष्ठ माने बिना ईमान का प्रमाण-पत्र (सनद) मिल जाना, नियम और न्याय की बात कैसे हो सकती है?

हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत

रिसालत का सम्बन्ध में जो भी विवरण ऊपर की पंक्तियों में आ चुके हैं, उसमें रिसालत की धारणा का केवल सामान्य और मौलिक तथा सैद्धांतिक स्पष्टीकरण हुआ है न कि पूर्ण स्पष्टीकरण इसलिए इस्लाम में रिसालत की धारणा का यही पूर्ण अर्थ नहीं होता और न केवल इन्हीं बातों का स्वीकार कर लेना इस्लामी रिसालत की धारणा को मान लेना है। इस्लामी रिसालत की धारणा अभिप्राय का अर्थ जिस बात से पूरा होता है और अपने पूर्ण और स्पष्ट रूप में सामने आता है, वह यह है कि आखिरी रसूल हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का अनुसरण और आप की लाई हुई शरीअत का अनुसरण दोनों को अनिवार्यतः स्वीकार किया जाए। अर्थात् सिद्धांत के अनुसार तो आप (सल्ल.) को भी उसी तरह अल्लाह का रसूल माना जाए जिस तरह दूसरे रसूलों को माना जाता है और दूसरे रसूलों को भी इसी तरह अल्लाह के रसूल माना जाए जिस प्रकार कि आप (सल्ल.) को माना जाता है। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक अनुपालन का मामला है इसके लिए आप (सल्ल.) ही को नमूना बनाना चाहिए और इस विश्वास के साथ बनाना चाहिए कि अब आप (सल्ल.) ही का अनुसरण ज़रूरी है। दूसरे समस्त रसूल, अल्लाह के रसूल थे और आप (सल्ल.) भी अल्लाह के रसूल हैं। जब कोई व्यक्ति रिसालत की उपरोक्त धारणा को सामान्य और मौलिक तथ्यों के साथ इस विशिष्ट सत्य को भी स्वीकार कर लेता है, तब जाकर वह रिसालत की इस्लामी धारणा पर ईमान लानेवाला कहलाता है।^१

मौलिक कर्म (इस्लाम के आधारस्तम्भ)

धारणाओं के बाद स्वाभाविक तौर पर कर्म की बहस आती है। इसलिए इस्लाम की धारणाओं को जान लेने के पश्चात् अब हमारी बुद्धि स्वयं ही इसके व्यावहारिक भाग की ओर मुड़ेगी और पूछेगी कि इन धारणाओं के बाद वे कर्म कौन-से हैं जिनके करने का इस्लाम आदेश देता है? बाह्य रूप से यह एक बड़ा विस्तृत विषय है और इसके लिए जो बहस अपेक्षित है उसके पूरे फैलाव के सामने सहस्रों पृष्ठ भी कोई हैसियत नहीं रखते किन्तु जहाँ तक इस्लाम के सामान्य परिचय का सम्बन्ध है उसके लिए इतने लम्बे विस्तार में जाना कुछ ज़रूरी नहीं बल्कि इतनी बात पर्याप्त है कि महत्वपूर्ण और स्पष्ट शरीअत के आदेशों का अवलोकन कर लिया जाए। इस्लाम के ये महत्वपूर्ण और स्पष्ट आदेश मौलिक रूप से दो प्रकार के हैं—

(१) एक वे जिनका महत्व अधिक आधारभूत कोटि का है और जिनका स्थान इस्लामी शिक्षाओं के अन्दर धारणाओं के ठीक बाद ही आता है।

(२) दूसरे वे जिनकी हैसियत इस कोटि की नहीं है और जिनका स्थान बाद में आता है स्वभावतः पहले उन्हीं आदेशों का अवलोकन किया जाना चाहिए जिनका महत्व अधिक और बुनियादी क्रिस्म का है।

ऐसे कर्म कौन से हो सकते हैं? इस सम्बन्ध में हमें अनुमान और अंदाज़े से काम लेने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि नबी (सल्ल.) ने ऐसी चीज़ों की ओर स्वयं संकेत कर दिया है। आप (सल्ल.) का सुप्रसिद्ध कथन है—

“इस्लाम का निर्माण पाँच चीज़ों पर हुआ है, इस बात की गवाही देना कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई पूज्य नहीं है और यह कि मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं, नमाज़ का आयोजन करना, ज़कात देना, हज करना, रमज़ान के रोज़े रखना।” — हदीस : बुखारी,

एक और रिवायत से ज्ञात होता है कि आप (सल्ल.) ने “इस्लाम का निर्माण पाँच चीज़ों पर हुआ है” के बाद यह फ़रमाया — “इस्लाम का निर्माण आधार स्तम्भों पर हुआ है।”

भवन के आधार स्तम्भ न तो पूर्ण भवन होते हैं, न भवन से अलग कोई चीज़ होते हैं। बल्कि दूसरे हिस्सों के और उन आधार स्तम्भों के बीच एक बड़ा अंतर होता है। अर्थात्, दूसरे की तुलना में उन्हें एक विशिष्टता प्राप्त होती है और वह यह कि ये भी यद्यपि स्वयं पूर्ण भवन होने के बजाए उसके एक भाग हिस्सा ही होते हैं, मगर ऐसे भाग होते हैं जिन पर शेष भागों का अस्तित्व और उनकी स्थिरता निर्भर होती है। इसलिए तौहीद व रिसालत की गवाही, नमाज़, ज़कात, हज और रोज़े के इस्लाम के आधार स्तम्भ होने का अर्थ यह है कि—

(१) जिस प्रकार किसी भवन के स्तम्भों को बना लेने से पूर्व आप कोई तदधिक निर्माण नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार इन पाँचों को पूरा किए बग़ैर इस्लाम धर्म की अन्य शिक्षाओं पर अमल नहीं किया जा सकता और अगर कोई अमल किया जाएगा, तो वह वास्तव में अमल का केवल नाम होगा, वस्तुतः अमल न होगा।

(२) अगर ये पाँचों स्तम्भ ठीक तौर से स्थापित हो जाते हैं तो शेष कर्मों का पूर्ण हो पाना बिलकुल संभावित है, बल्कि लगभग अनिवार्य और ज़रूरी होगा। यही कारण है कि एक दूसरी हदीस में केवल इन्हीं चीज़ों को “इस्लाम” कहा गया है। फ़रमाया —

“इस्लाम यह है कि — तुम गवाही दो कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई आराध्य नहीं और मुहम्मद (सल्ल.) अल्लाह के रसूल हैं, नमाज़ क़ायम करो, ज़कात दो, रमज़ान के रोज़े रखो, और काबा तक की यात्रा की सामर्थ्य रखने की स्थिति में उसका हज करो।”

— हदीस : मुस्लिम

यद्यपि पिछली हदीस में इन्हें “इस्लाम” नहीं बल्कि “इस्लाम के स्तम्भ” कहा गया था। इसलिए अब इन्हें “इस्लाम” कहे जाने का स्पष्टतः अर्थ यह होगा कि ये पाँचों कर्म धर्म के ऐसे मौलिक कर्म हैं कि इनका अस्तित्व में आ जाना वास्तव में पूरे इस्लाम के अस्तित्व में आ सकने की ज़मानत है। इस प्रकार वे इस्लाम का केवल एक अंश होते हुए भी मानो पूरा इस्लाम हैं।

यह बात कि ये कर्म इस्लाम के स्तम्भ और लाक्षणिक अर्थ में पूरा इस्लाम क्यों और किस प्रकार हैं, इनके विवरण पर ग़ौर करने से स्वयं स्पष्ट हो जाएगी, जो विवरण आगे आ रहा है —

इन कर्तव्यों (कर्मों) के नियत हो जाने के बाद जिनको शरीअत के सारे कर्मों में प्राथमिकता और सबसे अधिक मौलिक महत्व प्राप्त है, उनके सम्बन्ध में कुरआन और हदीस के विस्तृत वक्तव्य सुनिए —

१. तौहीद और रिसालत को मानना और एलान करना

जहाँ तक तौहीद, हुज़ूर (सल्ल.) की रिसालत की गवाही और उसके मानने का सम्बन्ध है, यह एक ऐसा कर्म है, जो केवल ज़बान से पूरा हो जाता है। देखने में यद्यपि यह गवाही केवल तौहीद और हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की गवाही है, किन्तु वास्तव में यह पूरे रिसालत के सिलसिले की, समस्त आसमानी किताबों की, फ़रिशतों की, आखिरत की और तक्रदीर की अर्थात् समस्त उन चीज़ों — जिन पर ईमान लाना अनिवार्य है — की गवाही है। क्योंकि जो व्यक्ति मुहम्मद (सल्ल.) के नबी होने की गवाही देगा वह आप से आप उन समस्त अनदेखी सच्चाइयों को सत्य माननेवाला समझा जाएगा — जिनकी आप (सल्ल.) ने सूचना दी है।

अल्लाह की तौहीद और आप (सल्ल.) की रिसालत पर दिल से विश्वास करना एक बात है, और इस विश्वास के अनुसार इन धारणाओं को ज़बान से भी सत्य कहना अन्य बात है। उपरोक्त हदीसों बताती हैं और विद्वानों ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि मुस्लिम तथा मोमिन होने के लिए केवल दिल की तस्-दीक़ काफ़ी नहीं है, वरन् ज़बान की तस्दीक़ भी अनिवार्य है। इसके बिना किसी का इस्लाम विश्वासनीय न होगा। ज़बान से स्वीकार करने और अभिव्यक्त करने का महत्व इतना ज़्यादा इसलिए है कि इस्लाम — जैसा कि आगे चलकर सुस्पष्ट होगा — कोई ऐसा 'दीन' नहीं है जो कानों में बातें करता हो और जिसकी अपेक्षाएँ कानों में पूरी हो जाती हों, बल्कि ऐसा धर्म है जो मानव को उँचाइयों से सम्बोधित करता है और उसे जीवन के कोलाहलों के ठीक बीच में ला खड़ा करता है। सत्य व असत्य के निरन्तर संघर्ष में डाले रखता है और अधर्म तथा अवज्ञा के विरुद्ध एक कभी समाप्त न होने वाले मोर्चे पर उसकी नियुक्ति करता है। जब वस्तुस्थिति यह थी, तो बिलकुल अनिवार्य था कि वह अपने अनुयायियों से अपनी हैसियत की उच्च स्वर में उद्घोषणा कर देने की माँग करे और उन्हें पहले दिन से ही पूरे संसार को यह साफ़-साफ़ बता देने का आदेश दे कि हम इस दल के सदस्य और इस मोर्चे के सैनिक हैं और वही कुछ करने का दृढसंकल्प लेकर जीवन के मैदान में उतर रहे हैं, जिसकी हमारी ये धारणाएँ की अपेक्षाएँ करती हैं। इस पहलू से गौर कीजिए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि इस्लामी धारणाओं का स्पष्टतः इक्रार और उद्घोषणा भी स्वयं अपनी जगह बड़ी महत्व रखती है।

सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से देखिए तो इस इक्रार और उद्घोषणा का एक और भी बड़ा महत्व दिखाई देगा जो व्यक्ति अपनी ज़बान से — “ला इला-ह इल्लल्लाहु, मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह” कहता है, वह चाहे इसकी व्यावहारिक अपेक्षाओं को पूरा न करता हो, यहाँ तक कि दिल में इस पर विश्वास भी न रखता हो, फिर भी वह मुस्लिम समाज का एक व्यक्ति व सदस्य समझा जाएगा, और राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से उसे वही अधिकार प्राप्त होंगे जो एक मुसलमान को प्राप्त हुआ करते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति ज़बान से यह स्वीकार व उद्घोषणा नहीं करता तो चाहे दिल में इस पर कितना ही गहरा यक़ीन क्यों न रखता हो वह मुसलमान न माना जाएगा। बल्कि उसकी गणना ग़ैर मुस्लिमों में होगी। राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से उसके साथ वही नीति अपनाई जाएगी, जो एक ग़ैर-मुस्लिम के साथ अपनायी चाहिए, न कि वह नीति जो एक मुसलमान के साथ अपनायी जाती है।

जिस व्यक्ति ने इस्लामी धारणाओं (आस्थाओं) को दिल से सच्चा मान लिया, उसने इस्लाम की बुनियाद जमा ली और फिर जब उसने अपने दिल की यह बात ज़बान से भी कह दी और दुनिया के समक्ष इसके यथार्थ होने की गवाही दे दी तो अब उसने अपने धर्म (दीन) का पहला स्तम्भ तैयार कर लिया।

२. नमाज़

इस्लाम-धर्म में नमाज़ का महत्व

इस्लाम का दूसरा स्तम्भ नमाज़ है। यह व्यावहारिक स्तम्भों में सर्वप्रथम है और धर्म में इसको जो स्थान प्राप्त है, वह किसी भी दूसरे कर्म को प्राप्त नहीं है। एक सच्चे मुसलमान का प्रत्येक कार्य अल्लाह की बन्दगी (आज्ञानुपालन) का काम होता है, किन्तु नमाज़ जैसी बन्दगी की शान किसी काम में नहीं पाई जाती। नमाज़ का अंतर ही नहीं उसका बाह्य रूप भी सर्वथा बन्दगी होता है। नमाज़ की मुद्राओं को देखिए और उसकी दुआओं (प्रार्थनाओं) तस्बीहों (अल्लाह के गुणगान) और कुरआन पाठ पर ग़ौर कीजिए। विनम्रता और प्रणिपात (नमन) के प्रदर्शन का कोई सम्भावित रूप नहीं जो नमाज़ के बाह्य या उसके अन्तर अंतर में मौजूद न हो। यह सीने पर हाथ बाँधे और आँखें झुकाए आदरपूर्वक खड़ा होना, यह पीठ के बल झुक जाना यह ज़मीन पर अपना मस्तक रख देना, यह मुख से अल्लाह की स्तुति के, महिमा के, महानता के, एकत्व शब्दों का निरन्तर उच्चारित रहना और यह दिल का अल्लाह के भय, ग़ौरव और प्रेम के भाव से परिपूर्ण रहना — क्या कुछ नहीं है। आखिर बन्दगी की कौन-सी अदा है जिससे यह नमाज़ खाली हो। कुरआन व हदीस का अध्ययन कीजिए तो नमाज़ के महत्व और उसके उत्तम गुणों से उनके पृष्ठ भरे नज़र आएँगे। उनमें की कुछ स्पष्ट चीज़ ये हैं—

१. नमाज़ ही ईमान का सबसे पहला व्यावहारिक प्रतीक है। अभी उपरोक्त हदीसों में आपने देखा कि ईमान की गवाही देने के बाद सबसे पहले जिस चीज़ का उल्लेख किया गया है वह यही नमाज़ है। यह मानो इस बात का संकेत है कि यदि मानव के अन्दर ईमान विद्यमान हो और अल्लाह के ईश्वरत्व और अपनी दासता पर उसे विश्वास हो तो यह विश्वास सबसे पहले नमाज़ की शकल अपनाता है।

यह बात केवल इन्हीं दो हदीसों में नहीं पाई जाती बल्कि लगभग प्रत्येक उस हदीस में दिखाई देती है जिसमें धर्म के आधारभूत कर्म गिनाए गए हैं।

इसी प्रकार कुरआन मजीद को देखिए तो वह भी जगह-जगह ईमान के बाद सबसे पहले नमाज़ ही का नाम लेता नज़र आएगा।
उदाहरणार्थ —

“और वे लोग जो ईमान लाए और जिन्होंने अच्छे कर्म किए और नमाज़ क़ायम की।” — कुरआन,

२:२७७

“और वे लोग जिन्होंने अल्लाह की किताब को मज़बूती से पकड़ लिया और नमाज़ क़ायम की।” — कुरआन,

४:१७०

“तो वह न ईमान लाया और न उसने नमाज़ पढ़ी।”

इस वर्णनशैली से कुरआन वास्तव में यही बताना चाहता है कि दिल में अगर ईमान का बीज पड़ चुका हो तो उससे कर्म (अमल) का जो पहला पौधा निकलेगा, वह नमाज़ का पौधा होगा।

२. केवल यही नहीं कि नमाज़ ईमान का सबसे पहला प्रतीक है, वरन् वह ईमान का अपरिहार्य प्रतीक भी होती है। यह सम्भव नहीं कि दिल में ईमान तो हो किन्तु सिर में रूकूअ और सजदे की तड़प न हो। ईमान हृदय के भाव का नाम है, यही भाव है जो प्रत्यक्ष में नमाज़ का रूप धारण कर लेता है। इसलिए जहाँ ईमान हो वहाँ नमाज़ होगी। ठीक उसी तरह जिस तरह कि जहाँ सूरज निकला हुआ होता है वहाँ प्रकाश और ताप अनिवार्यतः होता है। यह बात कि नमाज़ ईमान का अनिवार्य अंग है, यह नबी (सल्ल.) के कथित स्पष्ट शब्दों से सिद्ध होती है, कोई कल्पना नहीं है। आप (सल्ल.) फ़रमाते हैं:—

“जिसने जान-बूझकर कोई फ़र्ज़ नमाज़ छोड़ दी अल्लाह पर उसकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है।” — हदीस : मुसनद

अहमद

नामज़ त्यागने से इनसान और शिर्क कुफ़्र के बीच कोई अंतराल नहीं रह जाता।

— हदीस : मुस्लिम

जिहाद* के सफ़र के सिलसिले में आप (सल्ल.) का नियम और आप (सल्ल.) का आदेश यह था कि जिस बस्ती से अज़ान की आवाज़ आए उसे मुस्लिम आबादी समझा जाए और उस पर हमला न किया जाए और जिस बस्ती से अज़ान की आवाज़ न आए उसे विधर्मियों की बस्ती समझा जाए और उस पर हमला किया जाए। यह आदेश भी इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि नमाज़ ही वह चीज़ है जो सामान्य स्थिति में ईमान का निर्णायक लक्षण बनता है और इसी से पहली दृष्टि ही में किसी के मुसलमान होने या न होने का आभास हो जाता है।

इसी प्रकार कुरआन मजीद में आया है कि क्रियामत के दिन दोज़ख (नरक) वालों से फ़रिश्ते जब यह पूछेंगे कि “तुम्हें जहननुम में किस चीज़ ने डाला है?” (कुरआन ७४:४२) तो उनके उत्तर के आरम्भिक शब्द ये होंगे — “हम नमाज़ियों में से न थे।” (कुरआन, ७४:४३) इससे ज्ञात हुआ कि नमाज़ी होना और एक ख़ुदा का उपासक होना मानो एक बात है। क्योंकि यह एक जानी-बूझी हक़ीक़त है कि जन्मती और दोज़खी होना ईमान और कुफ़्र (इनकार) पर निर्भर करता है। अब अगर दोज़खी अपने दुष्परिणाम से दो-चार हो जाने के बाद यह कहते हैं कि हम नमाज़ न पढ़ने के कारण नरक में डाले गए हैं, तो यह इस बात की दलील है कि क्रियामत के दिन ईमान और नमाज़ एक दूसरे के पूरे होने की हैसियत से प्रकट होंगे। तभी तो वह उत्तर में “हम मोमिन न थे” के बजाए “हम नमाज़ी न थे” के शब्दों से अपनी बात आरम्भ करेंगे।

यही कुरआन और हदीस की सुस्पष्ट बातें हैं, जिनके आधार पर कुछ इस्लामी विद्वानों ने तो उस व्यक्ति को जो जानबूझ कर नमाज़ छोड़ दे और न पढ़ने पर अड़ा रहे, सर क़लम कर देने का पात्र ठहराया है, जिस प्रकार कि इस्लाम धर्म छोड़ देने के बाद बशावत करनेवाले का सर क़लम किया जाता है।

३- नमाज़ का एक और बड़ा महत्व कुरआन और हदीस से यह भी साबित होता है कि वह पूरे इस्लाम-विधान का अनुकरण करने की भावना का मुख्य स्रोत भी है और उसकी संरक्षक भी। वह अगर अदा होगी, तो शरीअत के शेष आदेशों का भी निर्वाह हो सकेगा। किन्तु यदि उसका हक़ अदा न हुआ तो शेष शरीअत (इस्लामी विधान) भी ग़फ़लत की भेंट चढ़ जाने से न बच सकेगी। यूँ समझिए कि शरीअत के समस्त आदेशों में नमाज़ को वही स्थान प्राप्त है जो मानव-शरीर में हृदय का स्थान होता है। हृदय में यदि कंपन और ताप और जीवन विद्यमान हो तो शरीर के अन्य सभी अंगों तक रक्त-संचार होता रहता है तथा वे जीवित रहते हैं। जिस समय यह हृदय अपनी गति और जीवन खो देता है, उस समय दूसरे अंग भी ठण्डे और निर्जीव होकर रह जाते हैं। नमाज़ की इस हैसियत के सम्बन्ध में कुरआन मजीद ने कई

जगह संकेत किए हैं और नबी (सल्ल.) ने भी स्पष्ट किया है। अतएव, उपरोक्त हदीस में जहाँ आप (सल्ल.) को यह कहते सुना जा चुका है कि, “इस्लाम का निर्माण पाँच स्तम्भों पर हुआ है।” वहीं आप (सल्ल.) के ये शब्द भी विद्यमान हैं कि “दीन (इस्लाम धर्म) का स्तम्भ मात्र नमाज़ है।”

“ धर्म का मूल सार, इस्लाम (अर्थात् तौहीद, रिसालत और आखिरत का स्वीकार करना) है और उसका स्तम्भ नमाज़ है।”

— हदीस : तिरमिज़ी

यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि नमाज़ ही की तरह दीन के स्तम्भ यद्यपि ज़कात और हज़ और रोज़ा भी हैं और उनके बिना इस्लाम की इमारत बन नहीं सकती, किन्तु इस पर भी नमाज़ को एक ऐसा विशिष्ट और अनुपम स्पष्ट महत्व भी प्राप्त है जिसके कारण वह एकमात्र भी धर्म का स्तम्भ कही जा सकती है। अगर वह है तो मानो पूरा धर्म विद्यमान है, वह अगर नहीं है तो पूरे धर्म का लोप हो गया।

हज़रत उमर (रज़ि.) अपने शासन के कर्मचारियों को एक लिखित निर्देश देते हुए कहते हैं —

“निस्सन्देह मेरी दृष्टि में समस्त समस्याओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या नमाज़ की है। जिसने अपनी नमाज़ की रक्षा की और उसका पूरा-पूरा हक़ अदा किया उसने अपने पूरे धर्म को सुरक्षित कर लिया और जिसने अपनी नमाज़ को विनष्ट कर दिया वह शेष और चीज़ों को और अधिक विनष्ट करके रहेगा।”

— हदीस : मुवत्ता, इमाम मालिक

नमाज़ को यह महत्व क्यों प्राप्त है ?

इसमें कोई संदेह नहीं कि कुरआन व हदीस के जो साक्ष्य अभी हमारे सामने आए हैं, उनसे नमाज़ का स्थान यही साबित होता है। इस क्रम में बुद्धि स्वाभाविक रूप से यह सवाल कर सकती है कि आखिर नमाज़ को यह स्थान क्यों प्राप्त है ? क्या बात है कि वह शरीअत का एक अंश होते हुए भी मानो पूरी शरीअत है तथा एक कर्म होते हुए भी मानो असल ईमान है ? इस सवाल का जवाब एक और सवाल के जवाब से मिल सकेगा और वह यह कि खुद यह नमाज़ क्या चीज़ है और इसकी वास्तविकता क्या है ? कुरआन मजीद बताता है कि नमाज़ अल्लाह की याद का नाम है।

“मेरी याद के लिए नमाज़ क़ायम करो।” — कुरआन, २०:१४

और यह कि नमाज़ बंदे को अपने पालनकर्ता से निकट कर देती है — “सजदा करो और निकट हो जाओ “ (९६:१९) नमाज़ मानव को अपने प्रभु से इतना निकट कर देती है कि इतना सामीप्य किसी भी दूसरे कर्म के द्वारा और किसी भी दूसरी स्थिति में उसे प्राप्त नहीं हो सकता।

“ बंदा सबसे अधिक अपने अपने रब से करीब उस समय होता है, जबकि वह सजदे में होता है।”

— हदीस :

मुस्लिम

यहाँ तक कि वह उस समय अल्लाह के सिवा हर एक से कटकर अपने स्वामी के समक्ष जा पहुँचता है और उससे वार्तालाप करने में व्यस्त होता है।

“तुम में से कोई जब नमाज़ में खड़ा होता है, तो वास्तव में वह अपने ‘रब’ से चुपके चुपके बातें करता है।”

— हदीस

: बुखारी

अल्लाह की याद, उसका सामीप्य अपने रब के समक्ष उसकी उपस्थिति और उससे वार्तालाप — क्या धर्म की आत्मा और बन्दगी का उत्कर्ष इन चीज़ों के अतिरिक्त और भी कुछ हो सकता है ? स्पष्ट है कि नहीं, और कदापि नहीं। ईशपरायण कर्म, ईमान ही का फल होता है और ईमान की जड़ों को नमी और ताज़गी सिर्फ़ अल्लाह की याद से ही मिलती है, जैसा कि फ़रमाया गया है कि — “ला इला-ह इल्लल्लाह” के जाप से अपने ईमान को ताज़ा करते रहो।

— हदीस : मुस्नद, अहमद

जिस पेड़ की जड़ों को नमी और ताज़गी न पहुँचती हो वह सूखने लगता है और फूलना-फलना बन्द कर देता है। इसलिए जिस व्यक्ति का दिल अल्लाह की याद से ग़ाफ़िल हो, उसका ईमान अनिवार्यतः मुरझा कर रह जाएगा, तथा जिसका ईमान मुरझा गया हो उसका कर्म नेकी और ईश-भय (खुदा के डर) का कर्म नहीं हो सकता। ऐसा कर्म अगर हो सकता है तो मात्र ऐसे ही व्यक्ति का हो सकता है, जिसके अन्दर ईमान की ताज़गी विद्यमान हो, और ईमान उसी व्यक्ति का ताज़ा रह सकता है, जिसके दिल में अल्लाह की याद घर किए हो। नमाज़ न मात्र यह कि अल्लाह की याद है, वरन् उसकी याद का सब से बेहतर, सबसे पूर्ण और सबसे अधिक प्रभावकारी रूप है। इसलिए नेकी और खुदापरस्ती की धारणा को नमाज़ पर निर्भर होना ही चाहिए।

इस वस्तुस्थिति को एक उदाहरण से समझिए — बादशाह का जो दरबारी उसके सामने हिदायत के उपरांत भी उपस्थित नहीं होता और अगर उपस्थित होता भी है तो हार्दिक सम्मान और श्रद्धा के साथ नहीं होता, उससे यह आशा रखना निरर्थक होगा कि वह शाही आदेशों का पालन करेगा और उसका वफ़ादार रहे। यह आशा अगर रखी जा सकती है तो उसी व्यक्ति से रखी जा सकती है जो, शाही दरबार में हाज़िर होने, सलामियाँ देने और आदाब बजा लाने से बेपरवाह न रहता हो। ज़ाहिर बात है, जो व्यक्ति आपके सामने आकर आपसे प्यार और वफ़ादारी का प्रदर्शन भी नहीं कर पाता वह आपके आदेशों और इच्छाओं की खातिर अपना खून तो क्या, पसीना भी न बहा सकेगा। नमाज़ स्पष्टतः अल्लाह के दरबार की हाज़िरी, सलामी और वफ़ादारी की प्रतिज्ञा है। जो व्यक्ति इस हाज़िरी और सलामी के लिए भी दिल से तत्पर न रहता हो, वह जीवन के विस्तृत मैदान में पग-पग पर उसके कठिन आदेशों की क्या पैरवी कर सकेगा ?

नमाज़ के कुछ गौण उद्देश्य:-

नमाज़ का असल महत्व और उसका वास्तविक महानता तो वही है जो ऊपर की वार्ता में ज्ञात हो चुकी किन्तु वह अपने दामन में बहुत-सी कल्याणकारी गौण उपलब्धियाँ भी रखती है। ये कल्याणकारी उपलब्धियाँ नमाज़ के मूलोद्देश्य की अपेक्षा तो निश्चय ही गौण हैं किन्तु इसके होते हुए भी वह अपने आप में अत्यंत महत्वपूर्ण और मूल्यवान हैं और मानव को सही इस्लामी मानसिकता और अपेक्षित इस्लामी जीवन प्रदान करने करने में उत्कृष्ट स्थान रखती हैं। इसलिए उनका जान लेना भी अनिवार्य है। नमाज़ की इन “कल्याणकारी गौण उपलब्धियों को उसके “गौण उद्देश्य” कहना अधिक उचित होगा। उनमें से कुछ ये हैं:-

१. इस्लाम अपने अनुयायियों को हिदायत करता है कि उन सभी के अन्दर एक ही मिशन के ध्वजावाहक होने की गहरी चेतना पाई जानी चाहिए और इस उद्देश्य के लिए अनिवार्य है कि वे एक सुव्यवस्थित सामूहिक जीवन व्यतीत करें। उनका एक अमीर (अध्यक्ष) हो, जो शरीयत के आदेशों का स्वयं पालन करे और पूरे समाज को उसका पालन कराए। शरीयत पर आधारित व्यवस्था स्थापित करे। लोग एक सुव्यवस्थित और प्रशिक्षण प्राप्त सेना की तरह हों और यह उनका सेनापति हो। वह उन्हें जब गतिशील होने को कहे तो गति शील हो जाएँ और जब ठहरने को कहे तो ठहर जाएँ। नमाज़ अनुशासन और आज्ञापालन का ठीक ऐसी ही परिपक्व स्वभाव पैदा करती है। अज्ञान होते ही लोग अपने घरों, दुकानों और खेतों से चल खड़े होते हैं। सभी का रुख मसजिद की ओर हो जाता है। यहाँ आकर सब के सब एक इमाम के पीछे तीर के समान पंक्तिबद्ध हो जाते हैं। इमाम के साथ-साथ और इशारों पर सबके सब एक साथ उठते, एक साथ बैठते और एक साथ झुकते हैं। मजाल नहीं कि कोई व्यक्ति इमाम के इस अनुसरण के प्रति मन या व्यवहार में तनिक भी बेपरवाही दिखाए। और यह सब कुछ मात्र अल्लाह का आदेश, धर्म का अनिवार्य कर्तव्य और आखिरत का कर्म समझकर किया जाता है। क्या सुव्यवस्था और अनुशासन और आज्ञानुपालन का इससे अच्छा और किसी प्रकार मानसिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण हो सकता है, जो नमाज़ के द्वारा होता है ?

२. इसी प्रकार इस्लाम अपने अनुयायियों में आत्यांतिक प्यार और बन्धुत्व देखना चाहता है। वह सच्चा मोमिन होने की पहचान यह बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मुस्लिम भाई के लिए भी वही पसन्द करे जो वह स्वयं अपने लिए पसन्द करता है। नमाज़ प्यार और बन्धुत्व की इस भावना को पूरी शक्ति से पैदा करती और उसे बरा-बर आहार प्रदान करती रहती है। मुहल्ले और बस्ती भर के मुसलमान जब अपने पालनकर्ता के दरबार में उपस्थित होते हैं तो उनके केवल क़दम और कंधे ही परस्पर मिले हुए नहीं होते बल्कि एक प्रकार से उनके दिल भी आपस में मिले हुए होते हैं। वह अपने परवरदिगार से मात्र अपने ही व्यक्तित्व के लिए दुआएँ और पार्थनाएँ करते बल्कि सभी के लिए करते हैं सभी के लिए हिदायत माँगते हैं, सभी के लिए मग़फ़िरत (क्षमा) चाहते हैं, सभी के लिए मदद माँगते हैं। क्या अन्य खुदा के बन्दों से बन्धुत्व और प्रेम का हक़ अदा करने की कोई इससे भी उच्चतर रीति हो सकती है कि इनसान अपने स्वामी से कृपादृष्टि की विनय-भाव से प्रार्थनाएँ करते समय भी उन्हें न भूले और उन विशिष्ट घड़ियों में भी बराबर पुकारता रहे कि “ हे खुदा ! हम सबको सीधी राह दिखा। ” (कुरआन १:५) “हम सब पर और अल्लाह के समस्त नेक बन्दों पर सलामती हो।” “हम सबको दुनिया में भी भलाई प्रदान कर और आखिरत में भी।” (कुरआन २:२०१) दुनिया ने आपस के अत्यन्त बढ़े हुए प्रेम का जो ऊँचे से ऊँचा मापदण्ड सोचा होगा, विश्वास रखना चाहिए कि वह इस मापदण्ड से बहरहाल नीचा ही होगा।

(३) इस्लाम समस्त मानवजाति को एक ही स्वामी के गुलाम और एक ही माता-पिता की सन्तान बताता है और हिदायत करता है कि तुम सब अपने को ऐसा ही समझी।

“ऐ अल्लाह के बन्दों! आपस में भाई-भाई बनकर रहो।”

— हदीस : मुस्लिम

कोई किसी को नीच और तुच्छ न समझे। वर्ण, जन्मभूमि, वंश और धन-सम्पत्ति के आधार पर कोई उच्च और कोई अधम नहीं हुआ करता। उच्चता यदि किसी को मिल सकती है तो मात्र सत्कर्मों और ईशभय (खुदा के डर) ही के आधार पर मिल सकती है।

“बस धर्म और ईशभय के आधार पर” – हदीस : अहमद, बैह की

नमाज़ इस सत्य बोध को अपने बाह्य रूप से भी जाग्रत करती रहती है और अपने अन्तर से भी। बाह्य में इस तरह कि नमाज़ में न कोई बन्दा (दास) रह जाता है और न कोई बन्दा नवाज़ (स्वामी)। फ़ारूफ़े आज़म¹ और एक हब्शी गुलाम दोनों कंधे-से-कंधा मिलाकर एक ही पंक्ति में खड़े होते हैं। एक ही प्रार्थना-स्थली होती है, जिस पर सब की पेशानियाँ पड़ी होती हैं। अन्तः करण से इस प्रकार कि नमाज़ के अंदर सभी के दिलों में बलंदी व पस्ती की एक ही धारणा बनी रहती है और वह यह कि समस्त बड़ाइयों का मालिक सिर्फ़ अल्लाह है और कोई नहीं जिसे वास्तविक बड़ाई का कोई लघु अंश भी प्राप्त हो। हम में से प्रत्येक की हैसियत अगर कुछ है तो मात्र दास और गुलाम होने की है। जिस व्यक्ति को उस की नमाज़ उसकी हैसियत का यह एहसास दिलाती रहेगी वह वंश वर्ण या धन-संपत्ति की मरीचिका से कभी धोखा नहीं खा सकता, न दूसरों के मुक़ाबले में अपने को ऊँचा समझ सकता है।

अभीष्ट नमाज़

जिस नमाज़ के ये मौलिक और ये गौण उद्देश्य व लाभ हैं और जिस नमाज़ का इस्लाम ने आदेश दिया है उसे भी भली प्रकार जान लेना चाहिए। क्योंकि हर नमाज़ ‘नमाज़’ नहीं होती, जिस तरह कि हर इन्सान ‘इन्सान’ नहीं होता। जिस नमाज़ का अल्लाह ने हुक्म दिया है और जो नमाज़ धर्म (दीन) का स्तम्भ ही नहीं बल्कि महा स्तम्भ है, वह अस्तित्व में आती ही नहीं जब तक कि उसे ठीक तौर से अदा न किया जाए। – “ठीक तौर से अदा करने” के लिए कुरान और हदीस ने एक विशेष शब्द प्रयोग किया है और वह है — “इक्रामत” अर्थात् नमाज़ क़ायम करने का शब्द। जैसा कि ऊपर उल्लिखित हदीसों में आप अभी देख आए हैं और जैसा कि कुरआन मजीद में जगह-जगह इस शब्द को प्रयुक्त होते देखा जा सकता है। नमाज़ क़ायम करने का अर्थ दो शब्दों में यह है कि उसे समस्त बाह्य नियमों और आध्यात्मिक गुणों के साथ अदा किया जाए। इन नियमों और गुणों की पूरी व्याख्या कुरआन व हदीस और अन्य इस्लामी धर्मशास्त्रों में प्रत्येक खोज करनेवाले को सहज ही मिल जाएगी। संक्षिप्त शब्दों में यह समझें कि — वही नमाज़ “क़ायम की हुई नमाज़” होती है, जो ठीक समय पर और जमाअत के साथ पढ़ी गई हो। ठहर-ठहर कर और नियमानुसार अदा की गई हो, जिसमें कुरआन का पाठ शुद्ध उच्चारण के साथ धीरे-धीरे और इत्मीनान के साथ किया गया हो और अल्लाह की ओर ध्यान लगाने का पूरा-पूरा प्रावधान किया गया हो। क्रियाम¹ और रुकूअ व सजदे लम्बे किए गए हों। शरीर पर शिष्टता और विनम्रता का भाव छाया हुआ हो और इन सभी बातों से बढ़कर यह कि दिल अल्लाह की याद में खोया हुआ, उसके भय से भरा हुआ और उसके प्रति विनम्रभाव में डूबा हुआ हो। जिस नमाज़ में इन बातों का पूरा ध्यान रखा जाएगा, सही अर्थों में वही नमाज़, नमाज़ होगी और वह उतनी मेयारी होगी जितनी कि उसमें ये विशेषताएँ विद्यमान होंगी। जिस नमाज़ में ये गुण निम्नतम स्तर पर भी न होंगे वह देखने में नमाज़ हो तो हो, किन्तु वस्तुतः नमाज़ हरगिज़ न होगी। इससे वे फ़ायदे कभी हासिल न हो सकेंगे, जो नमाज़ के फ़ायदे हैं इस प्रकार की नमाज़ की हैसियत इस्लाम में ऐसी होगी जैसे किसी क़िले की सुरक्षा के लिए मज़बूत चारदीवारी (फ़सील बनाने के बजाय रेत की दीवार खड़ी कर दी जाए।

ऊपर नमाज़ के जो वास्तविक और गौण लाभ बयान किए गए हैं, उनकी हैसियत मात्र यही नहीं है कि वे नमाज़ के लाभ हैं, बल्कि यह भी है कि वही नमाज़ की कसौटी भी हैं। उन्हीं को सामने रखकर मालूम किया जा सकता है कि हमारी नमाज़ों के शरीर में नमाज़ की आत्मा कितनी विद्यमान है और वे नमाज़ें किस सीमा तक “क़ायम” की जा रही हैं? इस बात का ज्ञात हो जाना वास्तव में यह ज्ञात हो जाना भी है कि हमारी ये नमाज़ें हमारे इस्लाम का वास्तव में स्तम्भ बन सकी हैं या नहीं और अगर बन सकी हैं तो किस हद तक बन सकी हैं?

३. ज़कात

ज़कात का महत्व

इस्लाम का तीसरा स्तम्भ “ज़कात” है। जैसाकि बताया जा चुका है कि शरीअत में किसी कर्म को वह महत्व प्राप्त नहीं जो नमाज़ को प्राप्त है। इसलिए यह तो किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि ज़कात भी इस्लाम धर्म में ठीक वही हैसियत रखती है, जो नमाज़ की है। किन्तु इसके बारे में कुरआन व हदीस के अन्दर जो कुछ कहा गया है, उस पर नज़र डालिए तो इसका मक़ाम, नमाज़ के मक़ाम से बस एक ही दरजा कम दिखाई देगा। उदाहरण के तौर पर दो बातों को देखिए—

(१) कुरआन मजीद में अधिकतर स्थान पर ईमान के बाद मात्र दो सत्कर्मों का उल्लेख मिलता है। पहला नमाज़ का तथा दूसरा ज़कात का। अर्थात् जब कुरआन संक्षिप्त रूप में एक आदर्श मोमिन का चित्र सामने लाना चाहता है तो वह साधारणतः इस प्रकार के शब्द प्रयोग करता है —

“निस्सन्देह वे लोग, जो ईमान लाए और जिन्होंने अच्छे कर्म किए — नमाज़ क़ायम की और ज़कात दी — उनके लिए उनके पालनकर्ता के पास प्रतिदान होगा।”
— कुरआन, २:२७७

यद्यपि नमाज़ और ज़कात के अतिरिक्त बहुत से अच्छे कर्म और भी हैं, जिनका वुजूद आदर्श मोमिन व मुसलमान बनने के लिए अनिवार्य है। फिर कुरआन हकीम ऐसी वर्णन-शैली क्यों अपनाता है? और आदर्श मोमिन व मुसलमान का चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्रायः ईमान के बाद केवल नमाज़ और ज़कात ही का नाम लेकर मौन क्यों हो जाता है? दूसरी भलाइयों का उल्लेख भी क्यों नहीं करता? ज़ाहिर है कि वार्ता का यह ढंग उसने अकारण तो नहीं अपनाया है। विचार कीजिए तो इसका कारण इसके सिवा और कोई न मिल सकेगा कि अल्लाह तआला की निगाह में नमाज़ और ज़कात यही दो चीज़ें ‘दीन’ की वास्तविक व्यावहारिक बुनियादें हैं। जिसने इन दोनों अनिवार्य कर्मों (फ़र्ज़ों) का अच्छी तरह निर्वाह कर लिया उसने मानो पूरे धर्म पर चलने की पक्की ज़मानत और व्यावहारिक साक्ष्य जुटा दिया अब उससे इस बात की वस्तुतः कोई आशंका शेष न रही कि वह शरीअत के दूसरे आदेशों की उपेक्षा करेगा। ऐसा क्यों है? इस बात का जवाब आपको एक ओर ‘दीन’ की और दूसरी ओर नमाज़ और ज़कात की वास्तविकताओं और उद्देश्यों पर नज़र डालने से मिल सकेगा। धर्म के आदेशों का आधारभूत विभाजन कीजिए तो उनके दो ही प्रकार के होंगे — एक प्रकार के वे आदेश हैं जिनका सम्बन्ध अल्लाह तआला के हक़ और अधिकार से है दूसरे प्रकार के आदेश वे हैं जिनका सम्बन्ध बन्दों के हक़ से है। इस तरह ‘दीन’ का अनुपालन वास्तव में इस बात का नाम है कि मनुष्य अल्लाह तआला के हक़ और उसके बन्दों के हक़, दोनों के उतरदायित्व को पूरा करनेवाला हो जाए। नमाज़ की जो हक़ीकत हम जान चुके और ज़कात की जो हक़ीकत आगे हम जानेंगे इन दोनों से स्पष्ट है कि नमाज़ अल्लाह के हक़ों से और ज़कात बन्दों के हक़ों को अदा करने के लिए पूरी तरह तैयार करती और किए रखती है। अगर एक व्यक्ति ने मसजिद में पूरी चेतनापूर्वक नमाज़ का हक़ अदा कर दिया, तो सम्भव नहीं कि वह मसजिद से बाहर आकर अल्लाह के हक़ों को भूल जाए। उससे ते ये हक़ उसी प्रकार अदा होते रहेंगे, जिस प्रकार स्रोत से पानी उबलता रहता है। इसी प्रकार जिसने चेतनता के साथ ज़कात का हक़ अदा कर दिया, उससे यह सम्भव नहीं कि वह अल्लाह के बन्दों के हक़ों को मार सकेगा। जो व्यक्ति दूसरों पर अपनी गाढ़ी कमाई स्वयं अपनी खुशी से खर्च करेगा और खर्च करके उनको अपना एहसानमन्द बनाने के बजाए उलटा कुछ उन्हीं का आभारी होगा वह तो उनका एक-एक हक़ अदा करके ही चैन पा सकेगा।

फिर एक और पहलू से देखिए — कुरआन इस तथ्य की बार-बार शिक्षा देता है कि ‘दीन’ व ‘ईमान’ में ज़िन्दगी उसी समय आ सकती है, जब अल्लाह के प्रति प्रेम हर प्रेम पर प्रभावी हो जाए और सांसारिक चाहत पर आखिरत की चाहत को प्रधानता प्राप्त हो। नमाज़ और ज़कात इनसान को ऐसा ही खुदा परस्त (ईशपरायण) और आखिरत पसन्द बनाने के सबसे ज़्यादा प्रभावकारी उपाय हैं — एक सकारात्मक और दूसरे निषेधात्मक है। नमाज़ इनसान को अल्लाह और आखिरत की ओर ले जाती है, तो ज़कात उसे दुनिया की तरफ़ लुढ़क जाने से बचाती है। मानो अल्लाह तआला की प्रसन्नता और आखिरत की सफलता का मार्ग अगर कड़ी चढ़ाई का मार्ग है तो ये दोनों चीज़ें उस रास्ते पर सफ़र करनेवाली इनसानी अमल की गाड़ी के दो इंजन हैं। नमाज़ का इंजन उसे आगे से खींचता है और ज़कात का इंजन उसे पीछे से धकेलता है। इस तरह यह गाड़ी अपनी मंज़िल की ओर बराबर बढ़ती रहती है। जब वस्तुस्थिति यह है तो इन दोनों चीज़ों को यह हक़ मिलना ही चाहिए, कि ये धर्म की असल अमली बुनियादें ठहरा दी जाएँ।

(२) कुरआन मजीद ने जब मुसलमानों को मक्का के इस्लाम- विरोधियों से जंग करने का अन्तिम आदेश दिया तो फ़रमाया कि अब तुम्हारी तलवारें उस समय तक म्यान में न जाएँ, जब तक कि हक़ के दुश्मनों का क्रिस्सा पाक न हो जाए, या जब तक कि वे इस धर्म को

क्रबूल न कर लें, जिसे उन्हें समझाने में बीस बाईस साल की लम्बी मुद्दत लग चुकी है। अब सत्य को सिद्ध कर देने में कोई कमी नहीं रह गई है। इस सम्बन्ध में यह बताने के लिए कि उनका इस्लाम ले आना कब विश्वसनीय समझा जाएगा और इस आधार पर उनके विरुद्ध सामारिक कारवाइयाँ कब बन्द कर दी जा सकती हैं। कुरआन में अल्लाह ने फ़रमाया —

“...फिर यदि ये लोग कुफ़्र से तौबा कर लें और नमाज़ क़ायम करने लगे और ज़कात देने लगे तो उनका रास्ता छोड़ दो।”

— कुरआन, ९:५

आगे चलकर फिर फ़रमाया:-

“अतएव यदि वे लोग तौबा कर लें, नमाज़ क़ायम करने लगे और ज़कात देने लगे तो अब वे तुम्हारे ‘दीनी’ भाई होंगे।”

— कुरआन, ९:११

अल्लाह के कलाम के इन स्पष्टीकरणों से पता चलता है कि किसी ग़ैर मुस्लिम का मुसलमान होना कलिमा-ए-शहादत अदा करने के बाद भी दो बातों पर निर्भर करता —

(१) यह कि वह नमाज़ क़ायम करे।

(२) दूसरी यह कि वह ज़कात अदा करे। जब तक वह ऐसा नहीं करता, उसका मुसलमान होना अस्वीकार्य है। इससे ज्ञात हुआ कि अधर्म की नीति से तौबा करके इस्लाम की परिधि में आ जाने का अनिवार्य और लक्षण और शर्त ज़कात का अदा करना भी है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया था, जब नबी (सल्ल.) ने फ़रमाया था —

“मुझे आदेश दिया गया है कि इन लोगों (अरबवासियों) से जंग करता रहूँ, यहाँ तक कि वे अल्लाह ही के उपास्य होने और मुहम्मद (सल्ल.) के अल्लाह का रसूल होने की गवाही दे दें। नमाज़ क़ायम करें और ज़कात दें। जब वे ऐसा कर लेंगे तभी मुझसे अपनी जानों और अपने मालों को सुरक्षित पा सकेंगे और इसके बाद उनका हिसाब लेना अल्लाह का काम है।”

— हदीस : मुस्लिम

न केवल यह कि इस्लाम के किसी इनकार करनेवाले का मुसलमान होना, ज़कात अदा किए बग़ैर विश्वसनीय नहीं समझा जाएगा, बल्कि जो लोग अपने को मुसलमान कहते हों वे भी अगर ज़कात देने से इनकार कर दें तो इस्लामी हुकूमत उनके खिलाफ़ भी तलवार उठा लेगी। अतएव, हज़रत अबूबक्र (रज़ि.) की खिलाफ़त के काल में जब कुछ लोगों ने ज़कात देने से इनकार किया तो आप (रज़ि.) ने उनके खिलाफ़ जंग की घोषणा कर दी और जब हज़रत उमर (रज़ि.) ने उनकी इस कार्यवाही के वैध होने में सन्देह प्रकट किया तो आपने फ़रमाया —

“ख़ुदा की क़सम ! मैं उन लोगों से ज़रूर लड़ूँगा जो नमाज़ और ज़कात में अन्तर करते हैं। जबकि कुरआन में उन्हें साथ-साथ रखा गया है।”

— हदीस : मुस्लिम

यह सुनकर अन्ततः हज़रत उमर (रज़ि.) भी, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि सारे ही सहाबा (रज़ि.) उनसे सहमत हो गए। इससे ज्ञात हुआ कि किसी मुसलमान की भी जान-माल उसी समय तक सम्माननीय है, जब तक कि वह नमाज़ ही की तरह ज़कात भी अदा करता रहे। अगर कोई व्यक्ति नमाज़ के आदेश पर तो अमल करता है, किंतु ज़कात के आदेश का अनुपालन नहीं करता और इस तरह दोनों की हैसियतों में अन्तर करता है, तो अनिवार्य है कि उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाए जैसा नमाज़ न पढ़नेवाले के साथ किया जाता है—

इस क्रम में कुरआन करीम की दो आयतें और भी देखें—

“..... तबाही है उन अनेकेश्वरवादियों के लिए जो ज़कात नहीं देते और वे आखिरत (परलोक) के इनकार पर तुले हुए हैं।”

— कुरआन, ४१:६-७

“..... अतः मैं अपनी दयालुता उन लोगों के लिए लिख दूँगा जो मेरा डर रखते हैं और ज़कात देते हैं, और जिनका हमारी आयतों पर ईमान है।”

— कुरआन, ७:१५६

पहली आयत में जिस प्रकार हम यह देख रहे हैं कि ज़कात न देने को शिर्क (बहुदेववाद) और आखिरत के इनकार का लक्षण ठहराया गया है, उसी प्रकार दूसरी आयत में ज़कात देने को तक्रवा (ख़ुदा का डर) और ईमान का साक्ष्य ठहराया गया है। इस प्रकार ये दोनों आयतें एक ही तथ्य को प्रकट कर रही हैं और बता रही हैं कि ज़कात भी ईमान का एक अज़निवार्य प्रतीक है। जहाँ ईमान होगा, वहाँ ज़कात भी अनिवार्यतः अदा होती होगी।

इस्लाम धर्म में ज़कात का क्या स्थान है ? इसे स्पष्ट कर देने के लिए उपरोक्त कुरआन व हदीस के बयान बिलकुल पर्याप्त हैं। उनकी रौशनी में साफ़ नज़र आ जाता है कि ज़कात के बिना धर्म की इमारात किसी भी प्रकार से नहीं बन सकती। अतः यह उसका अनिवार्य हक़

था कि उसे भी इस्लाम का स्तभ ठहराया जाता।

ज़कात के उद्देश्य

अब यह भी समझ लेना चाहिए कि ज़कात किस ध्येय के लिए अनिवार्य (फ़र्ज़) की गई है और वे क्या उद्देश्य हैं जिनका प्राप्त करना इससे अपेक्षित है? इस सम्बन्ध में कुरआन पाक व हदीस में जो कुछ कहा गया है, उसका संपरीक्षण कीजिए तो ज्ञात होता है कि ज़कात के तीन उद्देश्य हैं, एक मौलिक और व्यक्तिगत शेष दो गौण और सामाजिक हैं। वे तीन उद्देश्य इस प्रकार हैं —

१. मन का विकास और निखार

ज़कात का वास्तविक और मौलिक उद्देश्य — जिसका सम्बन्ध पूरी तरह व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व से होता है, यह कि ज़कात देनेवाले का मन सांसारिक लोभ-लालच से मुक्त हो जाए तथा मुक्त होकर भलाई और संयम के कामों के लिए उद्यत हो जाए। कुरआन मजीद में है —

“और उस जहन्म से दूर रखा जाएगा वह व्यक्ति जो अल्लाह से बहुत डरनेवाला है, जो अपना माल दूसरों को देता है (केवल) अपने को निखारने के लिए।” — कुरआन, ९२: १७-१८

एक और जगह नबी (सल्ल.) को सम्बोधित करके कहा गया है —

“उनके मालों में से ‘सदका’ ले लो जिसके द्वारा उनके व्यक्तित्व को विकसित तथा परिपूर्ण करोगे।” — कुरआन, ९: १०४

इन आयतों से ज्ञात हुआ कि सदका और ज़कात का मूल उद्देश्य हृदय की सफ़ाई और आत्मा का विकसित करना है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि दुनिया की मुहब्बत ही वह चीज़ है जो खुदापरस्ती (ईशोपासना) की असल दुश्मन है। यह इनसान को खुदा और आखिरत से अपरिचित बनाकर रख देती है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने भी फ़रमाया है कि —

“दुनिया की मुहब्बत हर बुराई की जड़ है।” — हदीस : बैहक्री

इस मुहब्बत का सम्बन्ध यद्यपि संसार की बहुत-सी चीज़ों से होता है, किन्तु उनमें सबसे अधिक शक्तिशाली और खतरनाक मुहब्बत धन-संपत्ति की होती है। अतएव, हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने माल (धन-संपत्ति) ही को अनुयायियों के लिए में सबसे बड़ा फ़िल्ना ठहराया है। आपने कहा है कि —

“मेरी उम्मत का फ़िल्ना माल है।” — हदीस : तिरमिज़ी

इसलिए अगर एक धनवान मोमिन धन-संपत्ति की मुहब्बत की पकड़ से अपने को बचा ले तो दूसरी बहुत-सी चीज़ों की मुहब्बत से मुक्त होने का मार्ग उसके लिए आप से आप खुल जाएगा। इस प्रकार इस एक फंदे से मुक्ति, पाना वास्तव में दूसरे बहुत से फंदों से मुक्त हो जाना है। सांसारिक फंदों से हृदय का मुक्त हो जाना ही उसका पवित्र हो जाना है। ज़कात चूँकि मानव-हृदय को यही मुक्ति प्रदान करती है इसलिए तथ्य यह ठहरा कि वह दिलों को पाक करती है। फिर चूँकि सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाने के बाद इनसान अल्लाह की रिज़ा (प्रसन्नता) और परलोक की सफलता की ओर तीव्र गति से बढ़ता और भलाईयों की ओर प्रवृत्त हो जाता है, इसलिए ज़कात का प्रभाव दिलों को पवित्र करने के निषेधात्मक कर्म ही तक सीमित नहीं रह जाता, बल्कि स्वीकारात्मक रूप से उनके व्यक्तित्व के विकास और अच्च उठान तक जा पहुँचता है। यह उनकी भलाई की शक्ति को गतिशील कर दिया करता है। यही वे समस्त मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं जो उपरोक्त दोनों आयतों की तह में पाए जाते हैं।

ज़कात का यही मूलोद्देश्य और आशय है जिसके कारण शरीअत ने इस कर्म को “ज़कात” का नाम दिया है। ‘ज़कात’ का शाब्दिक अर्थ पवित्रता और विकसित होने के हैं। मानो अपनी कमाई का एक भाग अभावग्रस्त लोगों को केवल अल्लाह की खुशी के लिए दे देना ‘ज़कात’ इसलिए कहलाता है कि उससे मन में पवित्रता आती है और उसका उत्तम विकास होता है।

लेकिन याद रखना चाहिए कि ज़कात का यह मौलिक उद्देश्य केवल इतनी-सी बात से प्राप्त नहीं हो सकता कि बस अपनी संपत्ति का एक भाग निकाल कर किसी ग़रीब को दे दिया जाए। यह उद्देश्य उसी समय प्राप्त हो सकता है जब इस “देने” के पीछे इस मूलोद्देश्य को प्राप्त कर लेने की सच्ची नीयत और व्यावहारिक आयोजन किया जाए। यह सच्ची नीयत और यह व्यावहारिक आयोजन क्या है जिसे ज़कात देते समय दृष्टि में रखना अनिवार्य है? कुरआन हकीम ने इस सम्बन्ध में सविस्तार आदेश दिए हैं, जिनका आवश्यक सारांश यह है:—

(१) सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक बात तो यह है कि ज़कात देते समय केवल अल्लाह की प्रसन्नता की चाह ही उसका प्रेरक हो, किसी और प्रेरणा और उद्देश्य का इसमें कोई हस्तक्षेप न हो।

“तुम अपनी दौलत सिर्फ अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए व्यय करते हो।”

— कुरआन, २:२७२

“सिर्फ अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए व्यय करते हो।” का अर्थ साफ़ तौर पर यह है कि हमें ऐसा करना चाहिए।

कुरआन मजीद ने सच्चे और आदर्श मुसलमान की पहचान बताते वक़्त जगह-जगह इस बात को दोहराया है कि वह ज़कात और सदक़े सिर्फ़ अल्लाह की प्रसन्नता के लिए देते हैं। यही कारण है कि ज़कात को “अल्लाह की राह में खर्च करना” भी कहा गया है।

(२) दूसरी बात यह है कि जो ज़कात ही जाए वह स्वयं विशुद्ध कमाई में से हो और उसमें हaram कमाई किंचितमात्र भी सम्मिलित न हो।

“ऐ ईमानवालो ! अपनी पाक कमाई में से खर्च करो।”

— कुरआन, २:२६७

इसी बात को नबी (सल्ल.) और अधिक विस्तर से इस प्रकार फ़रमाते हैं कि — “लोगो ! अल्लाह पवित्र है और वह मात्र पवित्र धन ही का सदक़ा (दान) स्वीकार करता है।” — हदीस : मुस्लिम

(३) तीसरी बात यह है कि ज़कात में जो चीज़ दी जाए वह अच्छे क्रिस्म की हो। रद्दी और खराब चीज़ों को इस उद्देश्य के लिए छाँटा गया तो यह ज़कात देना न होगा, बल्कि ज़कात का मात्र बोझ उतारना होगा—

“और (अपने) उस (माल) में से खराब चीज़ का ही इरादा न किया करो (ख़ुदा की राह में) खर्च करने के लिए।” —

कुरआन, २:२६७

(४) चौथी बात यह है कि ज़कात लेनेवाले पर कोई एहसान न रखा जाए, न उसका दिल दुखाया जाए, न उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाई जाए। ऐसी कोई भी बात हुई तो सारा किया काराया आकारथ चला जाएगा —

“ऐ ईमानवालो ! अपने ‘सदक़े’ एहसान जताकर और दिल दुखाकर, नष्ट न कर दिया करो, उस व्यक्ति की तरह जो अपना धन लोगों को दिखाने के लिए खर्च किया करता है।” — कुरआन २:२६४

हदीस में आता है कि क्रियामत के दिन तीन आदमी जहन्नम में सबसे पहले जाएँगे। उनमें से एक वह होगा, जिसने दुनिया में इसलिए बहुत दान-पुण्य किया होगा कि लोग उसे बड़ा दानशील और दीन-दुखियों पर बड़ी अनुग्रह करनेवाला कहें। एक और हदीस में इससे भी अधिक भयावह बात कही गई है—

“जिसने दिखावे के लिए सदक़ा दिया, उसने शिर्क किया।” — मुस्लिम

ये हैं वे विशिष्ट हिदायतें जिन पर अमल करने के बाद ही ज़कात दिल की पवित्रता और हृदय-विकास का साधन बन सकती है। अनुमान लगाइए, यह कितने उच्च नैतिक आदेश हैं ? और सामान्य दान-पुण्य में और इस्लामी ज़कात में कैसा ज़मीन-आसमन का अन्तर है ? इन हिदायतों को देखकर प्रत्येक व्यक्ति महसूस कर सकता है कि ज़कात देते समय मन की स्थिति पर सूक्ष्म दृष्टि रखने की कितनी अधिक आवश्यकता है। क्योंकि यह ऐसी इबादत (उपासना) है जो मन की अनगिनत आपदाओं से घिरी हुई है। इस पर हर ओर से जान लेना हमलों का खतरा बराबर लगा रहता है। यही कारण है कि इस विषय में अल्लाह के सत्यनिष्ठ बन्दों का हाल कुरआन मजीद यह बताता है —

“और ये लोग अपना खाना मुहताजों, अनाथों और क़ैदियों को खिलाते हैं, यद्यपि वह (खाना) स्वयं उन्हें अपने लिए प्रिय होता है (और उनसे अपने इस कर्म के द्वारा मूक भाषा में या फिर मुखर रूप से कहते हैं कि) हम तुम्हें मात्र अल्लाह की प्रसन्नता हेतु खिलाते हैं। तुमसे किसी प्रतिदान या कृतज्ञता के इच्छुक नहीं हैं।”

— कुरआन, ७८:९

एक अन्य जगह कहा गया —

“और ये लोग (अल्लाह की राह में) जो कुछ देते हैं इस दशा में देते हैं कि उनके दिल डरे हुए होते हैं, इस खयाल से कि उन्हें अपने रब के पास पलट कर जाना है।” — कुरआन, २३:६२

मतलब यह कि किसी गर्व के प्रदर्शन या किसी बड़ाई, या किसी दिखावे की भावना या किसी कृतज्ञता की चाह, या किसी के दिल दुखाने का क्या सवाल — ज़कात देते समय मोमिन का दिल तो उलटा इस आशंका से काँप रहा होता है कि कहीं अन्दर ही अन्दर शैतान कोई शरारत न कर रहा हो। कहीं ऐसा न हो कि कल जब मैं अपने पालनकर्ता के समक्ष उपस्थित होऊँ तो पता चले कि मेरा यह देना और खाना खिलाना व्यर्थ हो चुका है।

(२) ग़रीबों का भरण-पोषण

अब ज़कात के अप्रधान उद्देश्यों को लीजिए। उनमें से एक उद्देश्य तो यह है कि समाज के निर्धन लोगों की मदद की जाए और उनकी मौलिक आवश्यकताएँ पूरी होती रहें। नबी (सल्ल.) फरमाते हैं –

“निस्सन्देह अल्लाह ने लोगों पर ज़कात फ़र्ज़ (अनिवार्य) की है जो उनके धनवानों (मालदारों) से ली जाएगी और उनमें के अभावग्रस्त लोगों को लौटा दी जाएगी।”

– मुस्लिम (हदीस)

इसी तरह कुरआन मजीद जिस ज़कात के अदा करने को एक अच्छे मुसलमान का अनिवार्य गुण और लक्षण बताता है, उसका विवरण देते हुए वह कहता है –

“..... और वह अपना माल – उसके (अपने लिए) प्रिय होने पर भी — नातेदारों, अनाथों, निर्धनों, मुसाफ़िरों और याचकों को देता और गर्दन छुड़ाने में व्यय करता रहता है।”

– कुरआन, २:१७७

इन फ़रमानों से ज्ञात हुआ कि ज़कात का एक विशुद्ध सामूहिक और आर्थिक पक्ष भी है और इसके बिना ज़कात की इस्लामी अवधारणा पूर्ण नहीं होती। एक व्यक्ति ने पूर्ण ईशपरायता के साथ अपने धन का एक भाग निकाल दिया। निस्सन्देह इस तरह मौलिक रूप से उसने अपने दिल की पवित्रता और अपने मन के विकास का आयोजन कर लिया। किन्तु उसका यह कर्म मात्र इतना ही करने से शरीअत की दृष्टि में वास्तविक अर्थों में “ज़कात की अदायगी” नहीं हो जाता और जब इसे ज़कात का अदा करना नहीं कहेंगे, तो स्पष्ट है कि इस्लाम के एक अनिवार्य स्तम्भ के निर्माण का साधन भी न बन सकेगा। उसके इस कर्म को “ज़कात अदा करना” उसी समय कहेंगे और उससे इस्लाम का तीसरा अनिवार्य स्तम्भ उसी समय स्थापित हो सकेगा जब वह अपनी निकाली हुई यह दौलत हक़दारों के हवाले कर देगा, अर्थात् दिल की पवित्रता और मन की उन्नत दशा का, ज़कात का मौलिक उद्देश्य और साध्य होना सर्वमान्य है। किन्तु इस ज़कात के माल का लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बन जाना भी अपनी जगह बिलकुल अनिवार्य है। इसके बिना ज़कात का, शरीअत द्वारा किया गया फ़र्ज़, सही मानों में अदा नहीं हो सकता। यही कारण है कि कुरआन मजीद ने ज़कात को खाते-पीते लोगों की दौलत में गरीबों का “हक़” ठहराया है—

“जिन के मालों में याचकों और वंचितों का निश्चित हक़ होता है।”

– कुरआन, ७० : २४-२५

यह हक़ ऐसा है कि इसके लिए इस्लामी हुकूमत तलवार भी उठा सकती है, जैसाकि हज़रत अबू बक्र सिद्दीक (रज़ि.) के व्यवहार से ऊपर ज्ञात हो चुका है। सारांश यह कि ज़कात के इस दूसरे उद्देश्य की हैसियत यद्यपि द्वितीय है, किन्तु फिर भी इसका दीन में जो महत्व है उसे साधारण नहीं कहा जा सकता, न आखिरत के दृष्टिकोण से, न सांसारिक दृष्टिकोण से। इस बात का पूरा अंदाज़ा करने के लिए इन हदीसों को भी देखिए —

“मोमिन वह नहीं होता जो स्वयं तो पेटभर खाना खाए और उसके पहलू में उसका पड़ोसी भूखा रह जाए।

– हदीस :

बैहक़ी

“अल्लाह तआला कियामत के दिन फरमाएगा कि ऐ आदम की सन्तान! मैंने तुझ से खाना माँगा था, किन्तु तूने मुझे नहीं खिलाया। बन्द जवाब देगा कि हे खुदा! मैं तुझे कैसे खिला सकता हूँ, तू तो स्वयं ही समस्त जगत् का पालनकर्ता है? कहा जाएगा कि क्या तुझे मालूम नहीं कि मेरे अमुक बन्दे ने तुझ से खाना माँगा था, लेकिन तूने उसे खिलाने से इनकार कर दिया था।”

– हदीस : मुस्लिम

जो धर्म बन्दे की भूख-प्यास को स्वयं अल्लाह तआला की भूख-प्यास ठहराता हो, उसके यहाँ दीन-दुखियों और निर्धनों की आवश्यक पूर्ति कोई साधारण महत्व की चीज़ नहीं हो सकती।

(३) धर्म की सहायता

ज़कात के अप्रधान उद्देश्यों में से दूसरा उद्देश्य धर्म की रक्षा और मदद है। कुरआन मजीद यह बताते हुए कि ज़कात की राशि किन लोगों पर और कहाँ-कहाँ व्यय की जानी चाहिए, कहता है –

“ये सद्के (दान) तो केवल ज़रूरतमन्दों, निर्धनों, सद्का एकत्र करनेवाले कर्मचारियों और उन लोगों के लिए हैं, जिनकी दिलजोई करना अपेक्षित हो, तथा गर्दनें छुड़ाने में, कर्ज़दारों की मदद करने में, अल्लाह की राह में और मुसाफ़िरों की मदद में खर्च होने के लिए हैं।”

“अल्लाह की राह में” खर्च होने का अर्थ होता है— अल्लाह के ‘दीन’ के लिए किए जानेवाले संघर्ष में खर्च करना, जिनमें हर प्रकार के प्रयासों के साथ-साथ सामरिक आवश्यकताओं में खर्च करना।

इससे ज्ञात हुआ कि “अल्लाह की राह में जिहाद” करने की आर्थिक अवश्यकताओं को पूरा करना भी ज़कात के उद्देश्यों में सम्मिलित है। अतएव, कुरआन मजीद में ईमानवालों से जगह-जगह यह माँग की गई है कि “अल्लाह की राह में अपने मालों और अपनी जानों के द्वारा जिहाद (भरसक प्रयास) करो।” (९:४१) और ईमानवालों के जब भौतिक गुणों का वर्णन किया जाता है तो उनमें — “अल्लाह की राह में, अपने मालों से जिहाद करने” की बात भी अनिवार्य रूप से मौजूद होती है। ‘अल्लाह की राह में अपने मालों के द्वारा जिहाद करने’ का भाव बिलकुल स्पष्ट है। वह यह कि ‘दीन’ की खातिर जिहाद करने के लिए जिन व्ययों की भी आवश्यकता पड़े, उन्हें अपने पास से जुटाओ।

हर व्यक्ति जानता है कि ‘दीन’ की रक्षा और सहायता, कोई निम्न श्रेणी का काम नहीं, इसलिए उसके लिए अपनी संपत्ति का व्यय करना भी कोई साधारण काम नहीं हो सकता। कुरआन हकीम में जिहाद का आदेश देते हुए एक जगह फ़रमाया गया है कि — “अल्लाह के मार्ग में खर्च करो और (हाथ रोककर) अपने आपको तबाही में न डालो।” — २:१९५

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि धर्म की रक्षा और मदद के लिए ज़रूरी खर्चों का इन्तिज़ाम न करना, तबाही मोल लेना है। दुनिया में भी और आखिरत में भी। जो काम दुनिया और आखिरत दोनों लोकों की तबाही से सुरक्षित रहने की शर्त हो, उसे भला कौन मामूली काम कह सकता है।

जकात कितनी दी जाए

जकात के उद्देश्य ज्ञात होने के बाद यदि यह प्रश्न किया जाए कि जकात कितनी दी जानी चाहिए? तो इस प्रश्न का वस्तुतः एक ही उत्तर होगा, और वह यह कि जकात उतनी निकालनी चाहिए, जितनी से ये तीनों उद्देश्य पूरे हो जाएँ।

१. एक यह कि दिल धन की आसक्ति से मुक्त हो जाए
२. दूसरा यह कि समाज से भूख और निर्धनता का अन्त हो जाए।
३. तीसरा यह कि ‘दीन’ की रक्षा व सहायता के लिए अनिवार्य व्यय पूरे हो जाएँ।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जकात के देने का यह प्रतिमान किसी विशिष्ट परिमाण से निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि इन उद्देश्यों का सम्बन्ध वस्तुतः भाव से है, न कि परिमाण से। और भाव का अन्दाज़ा किसी गणना या किसी मात्रा से नहीं लगाया जा सकता। इस वस्तुस्थिति की स्वाभाविक माँग यही है कि आदमी जितनी भी हो सके बराबर देता रहे और देता ही रहे। क्योंकि मोमिन अपने कर्म की ओर से कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। यह सन्तोष कर लेना कि मैंने अमुक शरीअत के मुतालबे का हक़ अदा कर दिया, उसके ईमानी प्रकृति के विरुद्ध है। यही कारण है कि कुरआन मजीद मुसलमानों को निरन्तर इस पर प्रेरित करता हुआ दिखाई देता है कि “खुदा की राह में खर्च करो।” “खुदा की राह में खर्च करो।” — जिसे सुन-सुनकर सहाबा किराम (रज़ि.) का हाल यह था कि बड़ी से बड़ी माली कुरबानियाँ देने के उपरांत भी उन्हें सन्तोष नहीं हो पाता था और अन्ततः उनके ईमानी एहसास और तड़प ने उन्हें यह निवेदन करने पर विवश कर दिया कि हम से जितने खर्च की माँग हो वह स्पष्टतः और निश्चित रूप में बता दिया जाए।

“और तुमसे पूछते हैं कितना खर्च करें?” — कुरआन २:२१९

इसके उत्तर में उन्हें बताया गया— “जो कुछ तुम्हारी अपनी वास्तविक ज़रूरतों के पूरा कर लेने और हक़दारों के हक़ अदा कर देने के पश्चात् बच रहे, वह सब अल्लाह की राह में दे दो।” (कुरआन, २:२१९) इस जवाब से इस बात का अच्छी तरह अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि खुदा की राह में खर्च करने का अभीष्ट प्रतिमान क्या है? विशेषकर इसके दोनों गौण उद्देश्यों की हद तक तो बात बिलकुल साफ़ हो जाती है और वह यह कि जब तक ग़रीबों की वैयक्तिक ज़रूरतें और दीन व मिल्लत की सामूहिक ज़रूरतें पूरी न हो जाएँ — सामर्थ्यवान व संपन्न मुसलमानों से अल्लाह की राह में खर्च करने की माँग भी वस्तुतः शेष ही रहेगी। वे बहुत कुछ खर्च कर देने के उपरांत भी इस अनिवार्य कर्तव्य (फ़र्ज़) से सही अर्थों में मुक्त नहीं हो सकते। लेकिन आम हालात में इस बात के इत्मीनान की भी कोई सूरत ज़रा मुशकिल ही से पैदा हो सकती है कि धर्म व समाज और सम्प्रदाय के सभी लोगों की ज़रूरतें पूरी हो चुकी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संपन्न और समर्थ मुसलमानों के सामने खुदा की राह में खर्च करने का ईमानी मुतालबा (माँग) हर क्षण शेष रहता है, जिसे पूरा करने के लिए उनके अनिवार्य कर्तव्य के एहसास को उन्हें बराबर उकसाते रहना चाहिए और उन्हें कभी भी इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए हमने इस कर्तव्य को अभीष्ट प्रतिमान के अनुसार पूरा कर दिया। इस प्रकार इस बात का फ़ैसला करना कि जकात कितनी दी जाए और खुदा की राह में कितना खर्च किया जाए, वास्तव में व्यक्ति के अपने ईमानी एहसास पर निर्भर करता है।

लेकिन चूँकि इस्लाम वैचारिकता से अधिक एक व्यावहारिक धर्म है। वह मानवीय विचारों की उच्चताओं ही पर निगाह नहीं रखता, वरन् दूसरे तथ्य भी उसकी नज़र में रहते हैं। इसलिए उसने अपने दूसरे धार्मिक स्तम्भों की तरह इस स्तम्भ अर्थात् जकात को भी बिलकुल

ही लोगों के अपने एहसास ही पर नहीं छोड़ दिया है कि जिस हद तक चाहें इसका हक्का अदा करें। इसके विपरीत उसने इस इबादत की ऊँची-से ऊँची मंजिलों तक पहुँचने की निरन्तर प्रेरणा देने के साथ-साथ वह सीमा भी विधार्थित कर दी है, जो उसकी सबसे निचली सीमा हो सकती थी, और जो उन उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में बिलकुल ही अनिवार्य थी, जिनके कारण इसे धर्म का स्तंभ ठहरा दिया गया है। यह हदबन्दी उसने विविध आवश्यकताओं और निहित हितों के आधार पर की है:-

१. एक तो इसलिए कि प्रत्येक श्रेणी, बुद्धि और प्रत्येक क्षमता के लोगों का इस धर्म से संपर्क था और इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि इनसानों की बहुसंख्या ऐसी ही होती है, जिसे इस हदबन्दी की हर स्थिति में आवश्यकता होती है और जो आदेशों का अगर पालन कर पाती है तो उसी समय जब कि उन्हें संख्या तथा परिमाण के निर्धारण के साथ स्पष्ट कर दिया जाए।

२. दूसरे इसलिए कि अपनी ईमानी शक्ति के लिहाज से भी समस्त ईमानवाले एक श्रेणी के नहीं होते। उनमें ऐसे कमजोर लोग भी होते हैं, जिनका मन बहानों और गुंजाइशों से ज्यादा-से-ज्यादा लाभ उठाना चाहता है। इसलिए यह बता देना अनिवार्य था कि धर्म के मौलिक कर्मों का वह कम से कम परिमाण क्या है, जिसे हर हालत में पूरा होना चाहिए और जो मोमिनों के समुदाय की अंतिम पंक्ति में भी जगह पाने के लिए बिलकुल अनिवार्य है।

३. तीसरे इसलिए कि ज़कात केवल व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत सुधार और उसके आत्मविकास ही के लिए फ़र्ज़ नहीं की गई है, बल्कि ग़रीबों का भरण-पोषण और धर्म की रक्षा व मदद भी इसके उद्देश्यों में सम्मिलित है, जैसाकि ऊपर सविस्तार ज्ञात हो चुका है। हो सकता था कि जहाँ तक ज़कात के पहले उद्देश्य का सम्बन्ध है, उसे व्यक्ति के अपने फ़र्ज़ के एहसास पर छोड़ जाता, वह अगर अपनी आखिरत बनानी चाहता तो ज़कात देता, वरना उसके बुरे परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहता। लेकिन जब उसके उद्देश्यों में ग़रीबों की आवश्यकताओं की पूर्ति और धर्म की रक्षा व सहायता भी सम्मिलित है और इन दोनों बातों का सम्बन्ध आखिरत से नहीं, बल्कि इसी दुनिया से है तो इस मामले को पूरी तरह लोगों की अपनी भावनाओं पर नहीं छोड़ा जा सकता था। अल्लाह तआला ने अपने निर्धन बन्दों की भौतिक आवश्यकताओं और धर्म के सामूहिक हितों को उतना कम महत्व नहीं दिया कि उनके बारे में लोगों को केवल प्रेरणा दे देता और यह बात बिलकुल उनकी अपनी इच्छा पर छोड़ देता कि जब चाहें, और जितने टुकड़े चाहें, भूख से निढाल इनसानों की तरफ़ फेंक दें या धर्म की रक्षा तथा सहायता के नाम पर कुछ सिक्के चंदे में दे दें और चाहें तो यह कष्ट भी न करें। ये उद्देश्य ज़कात के गौणोद्देश्य ही सही, मगर इसके बावजूद इस्लाम ने इन्हें जो महत्व दिया है, वह स्वयं में बहुत बड़ा है इसलिए अनिवार्य था कि ज़कात की एक ऐसी सीमा अनिवार्यतः निर्धारित कर दी जाए जिसे अदा करने की हैसियत नैतिकता (अख़्लाकी) से आगे बढ़कर क़ानूनी भी हो, ताकि ग़रीबों की देखभाल तथा भरण पोषण और धर्म की रक्षा व सहायता की कम से कम आरम्भिक दर्जे में व्यवस्था बनी रहे।

ज़कात की यह क़ानूनी और अनिवार्य मात्रा संक्षिप्त में नीचे दी जा रही है-

१. कृषि पैदावार में से — अगर सिंचाई की ज़रूरत पेश आई हो तो ५ (अन्यथा १० (
२. जम हुई रकमों की ज़ेवरों और व्यापारिक मालों में से २.५ ((ढाई प्रतिशत)
३. जंगल की चराई पर पलनेवाले मवेशियों में से लगभग १.५ (से २.५ (तक
४. खनिज पदार्थों और गड़े हुए धन में से २० (तक।

इतनी ज़कात का अदा करना पूँजीपति (अर्थात् धनवान) मुसलमान के लिए नैतिक ही नहीं, क़ानूनी तौर पर भी ज़रूरी है। इसमें वह किसी हाल में भी कमी नहीं कर सकता। क्योंकि इस अनिवार्य कर्तव्य के पूरा करने की यह बिलकुल आरम्भिक और अनिवार्य दर है। इसमें भी अगर कोई कमी रह गई तो इस्लाम ज़कात की हद तक बे-स्तम्भ ही रह जाएगा। उसका भवन कदापि न खड़ा न हो सकेगा। न केवल यह कि इस मात्रा में किसी कमी की गुंजाइश नहीं, बल्कि जहाँ तक ज़कात के उद्देश्यों का सम्बन्ध है, उनके परिप्रेक्ष्य में तो इस मात्रा की पूरी-पूरी अदाई भी किसी इत्मीनान का कारण नहीं बन सकती। अतएव, उनकी अपेक्षा यही होती है कि इस क़ानूनी सीमा पर हरगिज़ न रुका जाए, बल्कि आगे बढ़ा जाए और आगे बढ़ने का यह स्वयंसेवा जैसा प्रयास बराबर जारी रखा जाए, ताकि उन उद्देश्यों के पूरा हो जाने की अधिक से अधिक आशा की जा सके। आगे बढ़ने की इस कोशिश को यद्यपि लोगों की अपनी मर्ज़ी ही पर रखा गया है। वे चाहें तो यह कोशिश करें और चाहें तो न करें। किन्तु इसका अर्थ अब भी यह नहीं है कि यहाँ उनकी मर्ज़ी ही सब कुछ है और उसे क़ानून किसी भी स्थिति में अपना पाबन्द नहीं बना सकता। प्रथम उद्देश्य की सीमा तक तो निस्सन्देह बात ऐसी ही है और इसके बारे में क़ानून और अधिक कोई माँग न करेगा, किन्तु दूसरे और तीसरे उद्देश्यों का मामला ऐसा नहीं है। उनके लिए क़ानून की अब भी माँगें हो सकती हैं। अतएव अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का फ़रमान है कि -

“मुस्लिम सम्पत्ति में निश्चित ज़कात के अलावा भी (दूसरों का) ‘हक़’ है।

— हदीस : तिरमिज़ी

इससे ज्ञात हुआ कि मुसलमान अपने धन की निश्चित ज़कात अदा कर देने के बाद भी 'दीन' (धर्म) की माली माँगों से मुक्त नहीं हो जाता और अब भी उसके धन पर 'हक्र' शेष रह जाता है। यह 'हक्र' तीनों ही प्रकार का हो सकता है।

१. स्वयं अपने आपका हक्र, अपने चरित्र के विकास के लिए,
२. गरीबों का हक्र – उनके भरण-पोषण के सिलसिले में,
३. दीन (धर्म) का हक्र – उसकी रक्षा और सहायता के सिलसिले में।

यह 'हक्र' इसलिए भी शेष रह सकता है कि इनसान ने ज़कात की निश्चित मात्रा यद्यपि अदा कर दी, लेकिन उसका दिल माल (सम्पत्ति) की मुहब्बत की पकड़ से अभी आज़ाद नहीं हो पाया है। यह हक्र इसलिए भी शेष रह सकता है कि इस मात्रा में माल की ज़कात मिल जाने के उपरांत भी समाज में भूख और निर्धनता शेष रह गई है और इसलिए भी शेष रह सकता है कि उतनी रकम में जो ज़कात के सामान्य क़ानूनी माँगों के अधीन इकट्ठी हुई थी, धर्म की रक्षा और मदद का ज़रूरी समायोजन नहीं हो सका है। लेकिन जहाँ तक आत्म विकास का सम्बन्ध है — खुली बात है कि इसकी हद तक तो यह "हक्र" क़ानूनी किसी तरह नहीं हो सकता। अगर हो सकता है तो मात्र नैतिक ही हो सकता है। क्योंकि क़ानून की विवशता से अगर इनसान अपनी सारी दौलत भी गरीबों को दे दे तो उससे उसके मन में कोई पवित्रता नहीं पैदा हो सकती। यह पवित्रता तो उसी समय पैदा हो सकती है, जब वह क़ानून के दबाव से नहीं, वरन् दिल के एहसास के अन्तर्गत यह खर्च करे। अलबत्ता दूसरे और तीसरे उद्देश्य चूँकि क़ानून से भी हासिल हो सकते हैं, इसलिए इनकी हद तक यह "हक्र" क़ानूनी भी होगा इसका अर्थ यह है कि अगर लोगों की नैतिक भावनाएँ समाज की भूख और निर्धनता पर क़ाबू न पा रही हों, या दीन (धर्म) की रक्षा और मदद का अनिवार्य कर्तव्य पूरा करने में असमर्थ हों, तो ऐसी स्थिति में यह हक्र" यक़ीनन नैतिकता से क़ानूनी बन जाएगा। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के इस फ़रमान के अनुसार इस्लामी हुकूमत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा, बल्कि शायद यह उसकी ज़िम्मेदारी ठहराई जाएगी कि वह गरीबों की ज़रूरतों और दीन के हितों की खातिर धनवानों के ऊपर अतिरिक्त बोझ डाले और उनसे निश्चित ज़कात के अलावा भी धन वसूल करे।

यहाँ यह भी स्पष्ट रहे कि इस्लामी शरीअत में "धनवान" का अभिप्राय दुनिया की आम धारणाओं से बहुत भिन्न है। जिस व्यक्ति के पास उसके सांपत्तिक वर्ष के अंत में ५२.५ तोला चांदी, डले, सिक्के या रुपयों की शकल में मौजूद हो या इतनी संपत्ति का वह व्यापारिक सामान रखता हो — तो शरीअत की दृष्टि में वह भी "धनावन" ही है।

ज़कात की व्यवस्था

ज़कात किस प्रकार निकाली व खर्च की जाएगी? शरीअत ने इस बारे में भी नियत हिदायतें दी हैं। जो सदक़े और दान क़ानून के अंतर्गत नहीं आते उन्हें तो आप अपने तौर पर जिस तरह चाहें, दे सकते और वितरित कर सकते हैं। लेकिन क़ानूनी ज़कात के बारे आपको यह आज़ादी हासिल नहीं है। बल्कि जिस तरह नमाज़ को क़ायम करने के लिए इसका जमाअत के साथ अदा किया जाना ज़रूरी है। उसी प्रकार ज़कात की भी एक सामूहिक व्यवस्था है और ज़रूरी है कि ज़कात उसी व्यवस्था के माध्यम से उसे खर्च किया जाए। पूरे राज्य की ज़कात इस्लामी हुकूमत अपने तहसीलदारों के द्वारा वसूल करेगी और फिर वही उसे हक्रदारों में वितरित करेगी। किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं कि वह अपनी ज़कात हुकूमत के हवाले करने से इनकार करे और अपनी मर्ज़ी के अनुसार जहाँ और जिस तरह चाहे वितरित कर दे। क़ुरआन मजीद में जहाँ यह बताया गया है कि ज़कात की रकम किन लोगों पर और किन मदों में खर्च की जाएगी वहाँ ज़कात-विभाग के सरकारी कर्मचारियों का ज़िक्र भी एक स्थाई मद (ऋषव) की हैसियत से किया गया है।^१ यह इस बात का प्रमाण है कि ज़कात का हुकूमत के द्वारा वसूल करके वितरण किया जाना इस्लाम की सामूहिकता प्रिय प्रवृत्ति की अनिवार्य अपेक्षा और इस्लामी अर्थ-व्यवस्था की एक सर्वमान्य धारा है। अतएव, नबी (सल्ल.) और लफ़ा-ए राशिदीन की कार्य-प्रणाली भी इसी यथार्थ की गवाही देती है और इस स्पष्टता के साथ देती है कि अनिवार्यतः ऐसा ही होना चाहिए। हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) की ख़िलाफ़त के काल में जब कुछ लोगों ने अपनी ज़कात हुकूमत के हवाले करने से इनकार कर दिया, तो आपने उनके विरुद्ध युद्ध करने का संकल्प किया और कहा —

“खुदा की क़सम, अगर उन लोगों ने ऊँट बाँधने की वह एक रस्सी भी मेरे हवाले करने से रोक रखी जो वे नबी (सल्ल.) को दिया करते थे तो मैं उसकी खातिर उनसे लड़ूँगा।” — हदीस : मुस्लिम

“मेरे हवाले करने से रोक रखी” के शब्द स्पष्टतः बता रहे हैं कि ज़कात अनिवार्यतः हुकूमत के हवाले होनी चाहिए और “लड़ूँगा” के शब्द बताते हैं कि इस आदेश का उल्लंघन राज्य से बगावत करना है, जिसका परिणाम निश्चय ही न संसार में अच्छा होगा न आख़िरत (परलोक) में। निस्सन्देह ख़िलाफ़ते राशिदा के दौर की कुछ ऐसी मिसालें भी मिलती हैं कि कुछ क़बीलों को इस आदेश से अलग रखा गया था और उन्हें अपने यहाँ की ज़कातें अपने तौर पर गरीबों में वितरण करने का अधिकार दे दिया गया था। किन्तु स्पष्ट है कि उन्हें जो एक

छूट दी गयी थी, वे आप से आप इस छूट के अधिकारी नहीं हो गए थे। अर्थात् यह स्वयं शासन की इच्छा के ही द्वारा ज़कात के एकत्र करने और वितरित करने की एक विशिष्ट व्यवस्था थी जो कुछ निहित उद्देश्यों और सहूलतों के लिए अपनाई गई थी।

ज़कात के लिए ऐसी उच्च सामूहिक व्यवस्था क्यों ज़रूरी ठहराई गयी है? इसके दो ही कारण समझ में आते हैं:-

१. एक तो यह कि इस्लाम की प्रवृत्ति की यही अपेक्षा थी, जो असाधारण रूप से सामूहिकता और सामाजिकता प्रिय है और ऐसी इसलिए है कि वह जो कुछ संसार को देना चाहता है उसे संसार इसके बिना पा ही नहीं सकता कि उसके अनुयायी एक सुदृढ़ और व्यवस्थित पार्टी के रूप में रहें और जहाँ तक हो सके उनका कोई काम अनुशासन और सामाजिकता से विलग न रहे।

२. दूसरा यह कि गरीबों के हितों का और 'दीन' (धर्म) की सुरक्षा और फैलाव की मसलहों की सन्तोषजनक रक्षा इसी में हो सकती थी, क्योंकि जैसाकि बताया जा चुका है कि यह खतरा बहरहाल एक अमली खतरा था कि कहीं मालदारों का कार्तव्य-बोध कभी ठण्डा न पड़ा जाए और उनकी सम्पत्तियों में धर्म का और गरीबों का जो हक है उससे वे ग़फ़लत न बरत जाएँ। इस खतरे का ठीक-ठीक निवारण इसी तरह सम्भव था कि इस हक को क़ानून और सरकार का संरक्षण अनिवार्यतः प्राप्त हो और वह उसके वुसूल करने की ज़िम्मेदार बना दी जाए।

अगर ज़कात की सामूहिक व्यवस्था के ये निहित लाभ सामने हो तो इन्हीं से इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाएगा कि ज़कात के अदा करने की सूरत उस समय क्या होगी, जब इस्लामी शासन की संस्था मौजूद न हो? नमाज़ की इक्रामत चाहती है कि इमामत के लिए मुसलमानों का ख़लीफ़ा या उसका कोई नायब (सहायक) विद्यमान हो। खासतौर से जुमा और दोनों ईदों, की नमाज़ों की इक्रामत। लेकिन ऐसे किसी इमाम के मौजूद न होने का मतलब कभी यह नहीं समझा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में नमाज़ हर व्यक्ति स्वयं ही पढ़ लिया करे, बल्कि ज़रूरी समझा गया है कि मुहल्ले और बस्ती के तमाम मुसलमान अपनी एक छोटी-सी और स्थानीय सामूहिक व्यवस्था कायम कर लें और अपने में से एक व्यक्ति को इमाम बनाकर नमाज़ को जमाअत ही के रूप में अदा किया करें। ठीक यही मामला ज़कात का भी है। अगर सरकार की संस्था मौजूद न हो, जो समस्त लोगों की ज़कातें वुसूल करके उसका वितरण कर सके तो इस्लाम का मिज़ाज और उसके मौलिक आदेश तो मौजूद हैं। उन्हें अपेक्षित यह है कि मुस्लिम बस्तियाँ जिस प्रकार अपनी नमाज़ों के लिए मसजिद की, जमाअत की और इमामत की व्यवस्था करती हैं, उसी प्रकार अपनी ज़कातों के लिए भी बैतुल माल (कोश) स्थापित करें और पूरी बस्ती की ज़कातें एकत्र करके उन्हें ज़रूरतमंदों और उसके हक़दारों तक पहुँचाने का प्रबन्ध करें, ताकि इस्लाम के इस महत्वपूर्ण स्तम्भ का जो उद्देश्य है वह शासन के न होने पर भी उतना तो अवश्य पूरा होता रहे, जितना कि पूरा किया जा सकता हो। अगर ऐसा न किया गया तो यह एक सामुदायिक ग़लती होगी।

ज़कात, सदक़े और इन्फ़ाक़ की विभिन्न परिभाषाएँ

इस्लाम ने 'ज़कात' के लिए दो शब्द और प्रयोग किए हैं — एक 'सदक़ा' का दूसरा 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' का जैसा कि ऊपर के उद्धरणों में आप अभी देख भी आए हैं। ज़कात का शाब्दिक अर्थ क्या होता है, यह बात शुरू में गुज़र चुकी है अब इन दूसरे शब्दों को भी समझ लेना चाहिए। "सदक़ा" शब्द "सिद्क़" से बना है, जिसका अर्थ, सच्चाई और निष्ठा होता है। मानो 'ज़कात' को 'सदक़ा' इसलिए कहा गया है कि वह ज़कात देनेवाले के ईमान में सच्चाई और निष्ठा भी पैदा करती है और उसके विद्यमान होने की दलील भी होती है। इसी प्रकार 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' के मानी हैं। अल्लाह के मार्ग में खर्च करना। यह अभी जाना जा चुका है कि ज़कात का मूल प्रेरक भाव अल्लाह की प्रसन्नता की चाह है। गोया ज़कात को 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' अगर कहा है तो इसलिए ताकि इसके मूल प्रेरक भाव की ओर संकेत हो जाए इस प्रकार तीनों शब्द एक ही चीज़ के मात्र तीन विभिन्न नाम ही नहीं हैं, बल्कि उसकी वास्तविकता और सार्थकता के विविध पक्षों को भी चित्रित भी करते हैं।

जहाँ तक कुरआन करीम का सम्बन्ध है उसमें ये तीनों शब्द आम तौर से एक ही अर्थ में इस्तेमाल किए गए हैं। अल्लाह तआला की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी खर्च किया जाए वह "ज़कात" भी है "सदक़ा" भी है और 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' (अल्लाह की राह में खर्च करना) भी है। चाहे यह खर्च 'ज़कात' के क़ानूनी मुतालबे से सम्बन्धित हो चाहे नैतिक अपेक्षा से। इनमें से कोई शब्द क़ानूनी या नैतिक अर्थात् फ़र्ज़ या नफ़ल खर्च करने के लिए इस तरह विशिष्ट नहीं है कि दूसरे के लिए वह बोला ही न जा सके। इसका कारण यह है कि कुरआन और हदीस की दृष्टि अधिकतर वास्तविकता और मूल उद्देश्य पर हुआ करती है न कि विषयों व समस्याओं के क़ानूनी पहलुओं पर। लेकिन इस्लामिक धर्मशास्त्र (फ़िक्ह) ने इन शब्दों के बीच अन्तर कर रखा है। उसकी भाषा में ज़कात केवल उस देने और खर्च करने को कहते हैं, जो अनिवार्य (फ़र्ज़) और क़ानूनन ज़रूरी हो और 'सदक़ा' और 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' की परिभाषाएँ साधारणतः स्वेच्छापूर्वक खर्च करने के लिए विशिष्ट हैं। स्पष्ट है फ़िक्ह (इस्लामी धर्मशास्त्र) क़ानून का ही दूसरा नाम है, इसलिए इस तरह

का पारिभाषिक अन्तर करना उसके लिए ज़रूरी लेकिन कुरआन और हदीस का मामला इससे कुछ भिन्न है।

४. रोज़ा

इस्लाम का चौथा स्तम्भ रोज़ा है। रोज़ा का शरीअत में परिभाषिक नाम “सौम” या “सियाम” है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है – रुकना या ठहरना इस अमल को सियाम इसलिए कहा गया है कि: इसमें इनसान सुबह की पौ फटने से लेकर सूर्यास्त होने तक खाने-पीने और संभोग से रुका रहता है।

रोज़े का विशेष महत्व और निहित लाभ

रोज़े के सिलसिले में आदेश और हिदायतें कुरआन और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने दी हैं। इन पर दृष्टिपात कीजिए तो ज्ञात होगा कि उसमें अनेक धार्मिक महत्वों और निहित लाभ पाए जाते हैं जिनमें से कुछ की हैसियत मौलिक और मौलिक से भी आगे बढ़कर विशिष्ट प्रकार की हैं। रोज़े को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके इन मौलिक और विशिष्ट महत्वों और निहित लाभों को समझ लिया जाए। ये महत्व और निहित लाभ निम्नलिखित हैं:-

१. रोज़ा तक्रवा का स्रोत

सबसे पहली और सबसे स्पष्ट चीज़ तो यह है कि रोज़ा इनसान में ईश-भय का गुण और तक्रवा (संयम) का जौहर पैदा करता है। इस सम्बन्ध में कुरआन, हदीस और बुद्धि सबकी गवाहियाँ आपको मौजूद मिलेंगी। अतएव, कुरआन सजीद ने रोज़े के फ़र्ज़ होने की घोषणा की है। इसमें यह वास्तविकता स्पष्टतः उल्लिखित है—

“ऐ ईमान लानेवालो! तुम पर रोज़ा फ़र्ज़ (अनिवार्य) किया गया है, जिस प्रकार कि तुम से पहले के लोगों पर फ़र्ज़ किया गया था। ताकि तुम्हारे अन्दर तक्रवा पैदा हो सके।” — कुरआन २:१८३

इसी प्रकार नबी (सल्ल.) कहते हैं –

“रोज़ा (दुनिया में गुनाहों से और आखिरत में दोज़ख से बचानेवाली) ढाल है।” — हदीस : मुस्लिम

“रोज़ा गुनाहों से बचानेवाली ढाल है।” इस वाक्य का अर्थ ठीक वही है जो इस बात का है कि रोज़ा इनसान में तक्रवा का गुण पैदा करता है। इसी क्रम में आगे और आदेश है कि –

“अतः जब तुम में से किसी का रोज़ा हो तो चाहिए कि वह न कोई अश्लीलता की बात करे, न शोर मचाए और अगर कोई उससे गाली-गलौज करने या लड़ने-भिड़ने पर उतर आए तो (उससे भी और अपने जी में भी) कहे कि मैं रोज़े से हूँ, मैं रोज़े से हूँ।”

— हदीस : मुसलिम

अभिप्रेत यह कि यद्यपि दुर्वचन, गाली गलौज और लड़ाई-झगड़े आदि बुरी हरकतों से बचना एक ईमानवाले के लिए हर हाल में ज़रूरी है, किन्तु जब वह रोज़े से हो तो शान्तिपूर्वक रहने की यह नीति उसके लिए और अधिक आवश्यक हो जाती है। आम परिस्थितियों में अगर वह इस प्रकार की गलतियों से पूरी तरह बचा नहीं रह पाता, तो कम से कम रोज़े की हालत में तो उसे उनके निकट कदापि नहीं जाना चाहिए। आप (सल्ल.) का यह फ़रमाना वास्तव में इस बात की उद्घोषणा है कि रोज़ा सद्आचरण और ईशभय का सर्वमान्य उपाय है और ऐसा उपाय कि जिसकी प्रभाव-शक्ति किसी न किसी पहलू से अपनी उदाहरण आप है।

इन सुस्पष्ट कुरआन की आयतों और हदीसों के प्रमाणों के बाद यद्यपि किसी और दलील की बिलकुल ही ज़रूरत नहीं, लेकिन दिल के और भी इत्मीनान के लिए उचित है कि बुद्धि की दृष्टि से भी इस वास्तविकता का अवलोकन कर लिया जाए और यह समझ लिया जाए कि रोज़े से तक्रवा (ईश-भय व संयम) क्यों और किसी प्रकार पैदा होता है ?

इस सन्दर्भ में सबसे पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि स्वयं यह ‘तक्रवा’ क्या चीज़ है ? यह जान लेने के बाद ही यह समझा जा सकेगा कि रोज़े से तक्रवा किस तरह पैदा होता है तक्रवा अल्लाह की अप्रसन्नता से बचने के उस गहरे एहसास का नाम है, जो व्यक्ति को हर भले काम पर उभारता और हर बुरे काम से रोकता रहता है। या इसे यूँ कहिए कि तक्रवा एक विशिष्ट हृदय-भाव है, जिससे एक विशिष्ट व्यावहारिक आचरण वुजूद में आता है। यह व्यावहारिक आचरण अल्लाह के आज्ञानुपालन और उसकी प्रसन्नता की चाह का आचरण होता है। इस विशिष्ट भाव से जो हृदय परिपूर्ण होता है वह हर वक़्त यह देखता रहता है कि मेरा खुदा मुझसे नाराज़ न होने पाए। मैं कोई ऐसा कुकृत्य न कर जाऊँ जिसको वह पसन्द नहीं करता और किसी ऐसे काम के करने से वंचित न रह जाऊँ जिसे वह पसन्द करता है।

अल्लाह की अप्रसन्नता से बचने की और उसकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेनी की यह अभिलाषा और कोशिश — सोचिए — व्यावहारतः कब पूरी हो सकती है। स्पष्ट रूप में अभिलाषा और कोशिश उसी समय पूरी हो सकती है जब मानव अपने आपको नियंत्रित रखे और अपने

मन को मनमानी करने से रोके रहे। मानो 'तक्रवा' का मक्राम पा लेने का एक मात्र मार्ग यह है कि व्यक्ति अपने मन को लगाम लगाए और अपनी इच्छाओं में उसे स्वतन्त्र न छोड़े। जैसाकि कुरआन मजीद की इस आयत से स्पष्टतः ज्ञात होता है:-

“रहा वह व्यक्ति जिसने अपने दिल में यह भय रखा कि उसे अपने 'रब' (प्रभु) के सामने खड़ा होना है और उसने अपने मन को बुरी इच्छाओं की पैरवी से रोका, तो निश्चय ही उसका ठिकाना जन्नत ही होगी।

— कुरआन,

७९:४०-४१

अब रोज़े को देखिए कि वह क्या चीज़ है। रोज़े का मौलिक और वैधानिक अस्तित्व तीन बातों पर निर्भर करता है:

१. पौ फटने से सूरज डूबने तक कुछ न खाया जाए,
२. कुछ न पिया जाए,
३. कामेच्छा पूरी न की जाए।

अर्थात् यह कि खाने, पीने और यौन सम्पर्क – मन की इन तीन इच्छाओं को पूरा करने से पूरी तरह रुका रहा जाए। इन तीनों चीज़ों को मन की पूरी इच्छाओं में जो महत्व प्राप्त है, बताने की आवश्यकता नहीं कि वह इन्हीं के लिए विशिष्ट है। मन की किसी इच्छा का नाम नहीं लिया जा सकता जो इतनी व्यापक और प्रबल हो— जितनी की ये हैं। एक तो स्वयं इनमें ऐसी बड़ी शक्ति है कि जो इनसान को सरलता से अपने बस में कर लेती है। दूसरे ये इच्छाएँ ही नहीं, बल्कि मानव की स्वाभाविक ज़रूरतें भी हैं। इन्हीं पर व्यक्ति का अस्तित्व भी निर्भर करता है और इन्हीं से मानवजातिशेष है। उसे जीवित रहने के लिए खाने-पीने की और अपनी नस्ल का क्रम जारी रखने के लिए स्त्री-प्रसंग की हर हाल में आवश्यकता है। इन चीज़ों की यह दोहरी हैसियत इनकी शक्ति और प्रभाव को भी अत्यन्त प्रबल देती है और उनका मुक्राबिला कठिन से कठिन हो जाता है। रोज़े में इन्हीं तीन सबसे प्रबल इच्छाओं पर रोक लगा दी जाती है और निरन्तर एक महीने तक प्रतिदिन बारह-बारह और चौदह-चौदह घण्टे तक इनसान अपने मन की इन इच्छाओं पर ताला डाले रहता है। प्यास की तेज़ी से हलक़ में कांटे पड़े होते हैं, मुँह से आवज़ तक अच्छी तरह निकल नहीं पाती, ठण्डा पानी पास रखा रहता है, मन बेक्राबू होकर उसे होटों से लगा लेना चाहता है — मगर रोज़ा उसका हाथ पकड़ लेता है और वह बेबस होकर रह जाता है। कुछ यही स्थिति दूसरी दोनों इच्छाओं की भी होती है। अनुमान कीजिए कि लगातार तीस दिनों का, यह प्रशिक्षण इनसान में धैर्य और स्थिरता की कैसी कुछ शक्ति न पैदा कर देगा ? जो व्यक्ति अपनी इन सबसे अधिक प्रबल और आतुर इच्छाओं को भी एक लम्बी अवधि तक दबाए रखने का अभ्यस्त हो जाता है, उससे आशा यही रखी जाएगी कि वह अपनी दूसरी इच्छाओं को और अधिक सरलता और कामयाबी के साथ अपने वश में रख सकेगा। यह एक ऐसी स्पष्ट वास्तविकता है, जिसके मानने से इनकार नहीं किया जा सकता और इस वास्तविकता को मान लेना वस्तुतः इस बात को लेना है कि रोज़ा इनसान के अन्दर अपने मन को और उसकी समस्त इच्छाओं को नियंत्रित करने की पूरी शक्ति पैदा कर देता है, ऐसी शक्ति जिसको पाकर वह धर्म की पैरवी और अल्लाह के आदेशों के अनुपालन में मन की बुरी इच्छाओं और शैतान के समस्त अवरोधों से खूबी के साथ निपट सकता है। अर्थात् वह सही अर्थों में एक ईशपरायण और संयमी मानव बन जाता है।

इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है जिससे रोज़े तक्रवा (संयम) का असाधारण साधन सिद्ध होते हैं और जिसकी ओर स्वयं नबी (सल्ल.) ने इन शब्दों में स्पष्टतः संकेत किया है—

“रोज़े में दिखावा नहीं हुआ करता।” — फ़तहुल बारी भाग-४, पृ.९१

किसी इबादत में दिखावे का न होना इस बात की सबसे बड़ी ज़मानत है कि वह बन्दे को खुदा के करीब करनेवाली है और यह कि ऐसी इबादत से अधिक ईशपरायणता का विश्वसनीय स्रोत और कोई नहीं हो सकता। ग़लत न होगा अगर उसे तक्रवा की सबसे अधिक शक्तिदायक खूराक कहा जाए। खुदा के रसूल (सल्ल.) के अनुसार जब रोज़े का यह एक स्थाई गुण है कि उसमें दिखावा नहीं हो सकता, तो उसके, तक्रवा का अत्यन्त प्रभावशाली साधन, होने में क्या सन्देह किया जा सकता है ? अगर वे इबादतें, जिनमें दिखावे की सम्भावना होती रहती है — उनके द्वारा भी इनसान तक्रवा की दौलत से मालमाल हो सकता हो तो कोई सन्देह नहीं कि इस इबादत (रोज़ा) के द्वारा ऐसा अवश्य ही होगा जो दिखावे के रोग से पाक ही रहती है।

यह बात कि रोज़े में दिखावा क्यों नहीं हो सकता ?— कोई छिपा हुआ राज़ नहीं है, बल्कि आसानी से समझ में आ जानेवाली सच्चाई है। सभी जानते हैं कि रोज़ा एक ऐसी इबादत है जो सर्वथा निषेधात्मक प्रकार की है। यानी उसका आविर्भाव कुछ कर्म या क्रियाओं के करने से नहीं होता (जैसा कि नमाज़ और ज़कात और हज का हाल है)। बल्कि कुछ कामों के न करने से उसका आविर्भव होता है। ज़ाहिर बात है कि इस तरह की इबादत दूसरों के न देखने में आ सकती है न सुनने में। जब किसी इबादत का हाल यह हो कि उसे कोई न देख सकता हो, न सुन सकता हो, तो उसमें दिखावे की कोई सम्भावना भी कहाँ से उत्पन्न हो सकती है। इसलिए इस्लाम के सारे रुक्नों में यह विशिष्टता

केवल एक 'रोज़े' ही को प्राप्त है कि दिखावे का खतरनाक शैतान उस पर धोखे से आक्रमण नहीं कर सकता।

प्रकट में रोज़े की यही विशिष्ट स्थिति थी जिसके आधार पर कुरआन करीम ने — “लअल्लकुम तत्तकून” – अगर फ़रमाया है तो केवल रोज़े के हुक्म के साथ फ़रमाया है। किसी और इबादत के हुक्म के साथ इन शब्दों को नहीं दोहराया है। यद्यपि यह अपनी जगह मानी हुई सच्चाई थी कि इनसान में नेकी का जौहर और तक्रवा का नूर हर इबादत पैदा करती है। फिर सम्भवतः रोज़े की यही विशिष्ट हैसियत थी जिसकी वजह से अल्लाह ने खास इसी एक इबादत को 'अपना' या “अपने लिए” फ़रमाया है और प्रतिफल व सवाब (पुण्य) के तराजू में भी इसे सबसे अधिक वज़नी ठहराया है। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं—

“इनसान के प्रत्येक सुकर्मों का प्रतिफल दस गुने से लेकर सात सौ गुने तक मिलेगा। अल्लाह तआला फ़रमाता है कि लेकिन रोज़ा इससे भिन्न है – क्योंकि वह मेरे लिए है और मैं ही उसका (जितना चाहूँगा) बदला दूँगा। आखिर इनसान अपनी काम-वासनाओं और अपने खाने-पीने को मेरी ही खातिर तो रोके रहता है।”

– हदीस: मुस्लिम

“रोज़ा मेरे ही लिए है।” यह वचन वास्तव में इसी सच्चाई की एक मनभावन अभिव्यक्ति है कि रोज़े में दिखावा नहीं हुआ करता।

अगर रोज़े का मक़सद यह है कि इनसान में ईशभय का गुण पैदा हो, जैसाकि मलूम हुआ, तो इसका अर्थ यह है कि यही ईश-भय रोज़े की असल कसौटी भी है। रोज़े की परिभाषा और उसका क़ानूनी अस्तित्व यदि यह है कि व्यक्ति खाने-पीने और यौन-सम्पर्क से दूर रहे, तो उसकी वास्तविकता और उसका वास्तविक यह है कि उन समस्त बातों से दूर रहा जाए जो अल्लाह को नाराज़ करनेवाली हों। अगर एक व्यक्ति रोज़ा रखकर अपनी मात्र इन्हीं तीन इच्छाओं को नियंत्रित नहीं करता, बल्कि अपनी सारी इच्छाओं को खुदा के आदेशों के नियंत्रण में दे देता है, तो वह वास्तविक अर्थों में रोज़े दार है। लेकिन अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसका रोज़ा रोज़ा नहीं, बल्कि केवल फ़ाक्रा (भूखे रहना) है। क्योंकि खाने-पीने और विषयवासनाओं से बचना ही असल रोज़ा नहीं है, बल्कि असल रोज़े का मात्र ज़ाहिर रूप और वैधानिक लक्षण है। अगर कोई व्यक्ति इस ज़ाहिरी और क़ानूनी सीमा ही तक जाकर रुका रहा तो उसका मामला इसके सिवा और कुछ नहीं कि वह रोज़े के घर के चारों ओर घूम कर वापस चला आया, उसमें प्रवेश किया ही नहीं। नबी (सल्ल.) स्पष्ट: फ़रमाते हैं:-

“कितने ही रोज़ेदार ऐसे हैं जिनके पल्लें उनके अपने रोज़े से भूख प्यास के अलावा और कुछ नहीं पड़ता।” – हदीस : दारमी

ये तथाकथित रोज़ेदार किस प्रकार के लोग होते हैं? अल्लाह के रसूल के एक-दूसरे कथन से स्पष्ट होता है –

“जिस किसी ने (रोज़े की हालत में) झूठ बोलना और झूठ पर अमल करना न छोड़ा वह जान ले कि अल्लाह को इस बात की कोई ज़रूरत न थी कि वह व्यक्ति बस अपना खाना-पीना छोड़ दे।”

– हदीस : बुखारी

इन कथनों से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि केवल मन की इन तीन माँगों पर रोक लगाने का उद्देश्य वास्तव में उसकी समस्त इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेना है। इसलिए अगर कोई व्यक्ति इस अभ्यास और प्रशिक्षण के द्वारा अपने मन को लगाम न लगा सका और रोज़े की हालत में भी उसकी शरारतें जारी रहीं तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि उसने रोज़े के मक़सद को ही नहीं समझा और अगर समझा तो उसे अपनाया नहीं, और जब उसने रोज़े के मक़सद को समझा या अपनाया नहीं तो कोई सन्देह नहीं कि वह रोज़ा रखकर भी बेरोज़ेदार रहा और वस्तुतः उसमें और एक बेरोज़ा व्यक्ति में कोई अन्तर न होगा।

२. रोज़ा तक्रवा का अनिवार्य साधन

रोज़े का दूसरा बड़ा महत्व यह है कि वह इनसान के अन्दर तक्रवा का अभीष्ट गुण पैदा करने के लिए अनिवार्य है। अर्थात् बात केवल इतनी ही नहीं कि रोज़ा तक्रवा पैदा करता है बल्कि यह भी है कि इसके बिना सही तक्रवा पैदा हो ही नहीं सकता। निस्सन्देह ऐसी बहुत सी चीज़ें हैं जो तक्रवा को बढ़ाती हैं, किन्तु रोज़ा इस विषय में जो भूमिका निभाता है वह वही निभा सकता है, दूसरा कोई कर्म उसका स्थान नहीं ले सकता यह सत्य हमें उपर्युक्त आयत के शब्द — “तुम पर रोज़े अनिवार्य किए गए जिस प्रकार तुमसे पहले के लोगों पर किए गए थे।” – के अन्दर से झलकता दिखाई देता है। इस आयत का आशय यदि केवल यह बताना होता कि रोज़े मुसलमानों पर इसलिए अनिवार्य किए गए हैं, ताकि उनमें तक्रवा का गुण पैदा हो सके, तो इन शब्दों के बढ़ाने की कदापि कोई आवश्यकता न थी। इसलिए कि इस स्थिति में इन शब्दों की अभिवृद्धि इतिहास के एक वृतांत को व्यक्त करने व उल्लेख करने से अधिक कोई हैसियत नहीं रखती। यद्यपि हम सब जानते हैं कि कुरआन हकीम मात्र इतिहास लेखन से बहुत उच्च है और वह उस समय तक कोई एक शब्द भी नहीं बोलता जब तक कि उससे कोई दीनी (धार्मिक) प्रयोजन न जुड़ा हो। इसलिए इन शब्दों के बारे में भी यही समझा जाना चाहिए कि इनकी अभिवृद्धि निश्चय ही किसी न किसी धार्मिक प्रयोजन ही से की गई है। यह धार्मिक प्रयोजन इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि साथ ही तक्रवा हासिल

करने के बारे में रोज़े की अनिवार्य आवश्यकता भी स्पष्ट हो जाए। लोगों को रोज़े के अनिवार्य होने और उसके प्रयोजन व उद्देश्य के साथ यह भी मालूम हो जाए कि तक्रवा के अपेक्षित मक़ाम तक पहुँचने के लिए रोज़े हर हालत में ज़रूरी हैं। कोई भी दूसरी चीज़ इस सम्बन्ध में वह काम नहीं कर सकती जिसे यह रोज़ा कर सकता है। अगर ऐसा न होता तो रोज़ा प्रत्येक आसमानी शरीरत का स्तम्भ न बनता रहता। अगर कोई शरीरत इससे खाली नहीं रखी गई तो यह इस बात का प्रणाम है कि अल्लाह के 'दीन' के साथ नमाज़ और ज़कात की तरह रोज़े को भी एक नैसर्गिक अनुकूलता प्राप्त है और इसके बिना इस्लाम की प्रशिक्षण सम्बन्धी उपासना-व्यवस्था किसी प्रकार परिपूर्ण हो ही नहीं सकती।

यह बात कि रोज़े तक्रवा का अपेक्षित जौहर पैदा करने के लिए क्यों अनिवार्य हैं? तो इसे समझने के लिए हमें पिछली बहस को एक बार फिर पढ़ लेना चाहिए जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि रोज़ा इनसान के अन्दर तक्रवा किस तरह पैदा करता है? यह कि रोज़ा मानव-जीवन में आत्म-नियंत्रण पैदा करने का बड़ा प्रभावकारी साधन और बहुत निकट का मार्ग है और यह वास्तविकता कि रोज़ा ही एक ऐसी, इबादत है जिसमें दिखावा शामिल नहीं हो सकता – ये दोनों चीज़ें इस मर्म व रहस्य को समझा देने के लिए बहुत पर्याप्त हैं। वे इस रहस्य को — अगर पूरी तरह नहीं तो एक बड़ी हद तक — अवश्य खोल देती हैं कि आम इनसान के लिए रोज़े क्यों अनिवार्य हैं? ज़ेहन की बाक़ी गिरहे, अगर अल्लाह ने चाहा तो, उस बहस के पढ़ने से खुल जाएँगी, जो आगे आ रही है।

३. रोज़ा : इस्लामी धारणा का दर्पण

रोज़े का तीसरा विशेष महत्व यह है कि वह कुछ पहलुओं से इस्लाम के मूल स्वभाव का सबसे बड़ा प्रतीक है और 'दीन' की जो धारणा कुरआन ने प्रस्तुत की है, उसकी विशिष्ट रूपरेखा रोज़े के दर्पण में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। इसका अर्थ यह हुआ कि रोज़ा मानव को केवल कर्म ही की दृष्टि से संयमी और ईशभय रखनेवाला नहीं बनाता, बल्कि विचार व धारणा की दृष्टि से भी उसमें तक्रवा पैदा करता है। वह इनसान को केवल तक्रवा नहीं देता, बल्कि तक्रवे का व्यापक और अर्थपूर्ण भाव भी देता है। इस संक्षेप का विवरण या इस की वास्तविकता का पता हमें नबी करीम (सल्ल.) के इन कथनों से मिलती है—

(१) “जिसने जीवन भर निरन्तर रोज़े रखे, उसका रोज़ा, रोज़ा नहीं।” — हदीस : बुखारी

(२) “तुम्हें दो या दो से अधिक दिनों को मिलाकर (बिना सहरी व इफ़तार किए) रोज़ा रखने से पूरी तरह बचना चाहिए।”

— हदीस : मुस्लिम

(३) एक सफ़र में आप (सल्ल.) ने देखा कि लोगों की एक भीड़ इकट्ठी है और एक व्यक्ति के ऊपर छाया कर रखा है। आपने उनसे पूछा — “क्या मामला है?” बताया गया — “एक रोज़ेदार है।” यह सुनकर आपने फ़रमाया —

“यह कोई नेकी का काम नहीं है कि सफ़र में (इस प्रकार का) रोज़ा रखा जाए (जिसकी तकलीफ़ें सामान्य सहनशक्ति से बाहर हों।)”

— हदीस : बुखारी

(४) मदीना से बाहर के निवासी एक सहाबी (रज़ि.) हुज़ूर (सल्ल.) की सेवा में उपस्थित हुए। भेंट की और वापस चले गए। एक साल बाद दोबारा आए और अब जो आए तो इस हाल में थे कि उनका रूप-रंग बिलकुल बदला हुआ था। उन्होंने आप (सल्ल.) से पूछा कि —

“ऐ अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ! क्या आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं?” आप (सल्ल.) ने पूछा — “तुम कौन हो?” उत्तर दिया, “मैं वही व्यक्ति हूँ, जो पिछले साल आपकी सेवा में हाज़िर हुआ था।” फ़रमाया, “किस चीज़ ने तुम्हारा रूप-रंग बदल कर रख दिया है? तुम तो बड़ी अच्छी शक्ल-व सूरत के थे।” उन्होंने बताया कि यहाँ से वापस जाने के बाद आज तक मैंने रात के सिवा कभी खाना नहीं खाया (अर्थात् निरन्तर रोज़े रखता रहा।)” यह सुनकर आप (सल्ल.) ने फ़रमाया —

“तुमने अपने को क्यों अज़ाब दिया?” (हदीस: अबूदाऊद)

इन फ़रमानों के शब्दों पर तनिक ध्यान से विचार से कीजिए तो मालूम होगा कि रोज़ा पैग़म्बर की ज़बान से धार्मिकता की एक क्रांतिकारी धारणा को अभिव्यक्त कर रहा है। वह ज़ोर देकर कह रहा है कि जो तक्रवा मेरे द्वारा प्राप्त करना अभीष्ट है उसका आशय मन का दमन नहीं, बल्कि केवल उसका नियंत्रण है। मानो रोज़ा केवल तक्रवा ही पैदा नहीं करता, बल्कि उसके एक ऐसे तथ्य को भी सामने लाता है, जो साधारणतय कम समझ और जाना जाता है। क्योंकि “तक्रवा” का शब्द सुनते ही ज़ेहनों के अन्दर साधारणतया कुछ इस प्रकार की अवधारणा आने लगती है कि मानव अपनी इच्छा की माँगों को ठुकरा देने में जितना अधिक से अधिक आगे बढ़ता जाए, अपनी इच्छाओं को जितना अधिक मारेगा “तक्रवा” का उतना ही ऊँचा मक़ाम व प्राप्त

कर लेगा। जैसा कि स्वयं कुरआन में आया है – “और रहा वह व्यक्ति जिसने अपने रब के सामने खड़े होने का भय रखा और अपने जी को बुरी इच्छा से रोका तो जन्नत ही उसका ठिकाना है।” (कुरआन, ७९:४०)

इससे पता चलता है कि अल्लाह का भय, अल्लाह का डर (अर्थात् तक्रवा, अपने मन को उसकी इच्छाओं से रोके रखे बगैर प्राप्त नहीं होता।

किन्तु अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के ये फ़रमान कहते हैं और स्वयं रोज़े का अमल बताता है कि आयत का आशय और उसकी अपेक्षा यह हरगिज़ नहीं है और इस्लाम में तक्रवा का जो अर्थ है वह इससे बिलकुल भिन्न चीज़ है। वह जिस प्रकार के कर्म की इनसान से माँग करता और जिस चीज़ को बिर (नेकी) और तक्रवा (ईश-भय) ठहराता है, वह केवल यह है कि इनतान अपने मन को मर्यादाहीन न होने दे और उन्हें मनमानी करने से रोक कर शरीअत के आदेशों का अनुपालक बनाए रखे, यह नहीं है कि उसे कष्ट दे-देकर निर्बल बना ले और उसकी नैसर्गिक माँगों को पूरी तरह खत्म करके रख दे। दूसरों के निकट यह दीनदारी की चाहे कितनी ही ऊँची और पवित्र अवधारणी क्यों न हो, इस्लाम के निकट बिलकुल एक अप्रिय चीज़ है। वह इसे वास्तविक धार्मिकता और सही बन्दगी का तरीका नहीं कहता। उसकी धार्मिक अवधारणा के अनुसार यह तक्रवा नहीं है, बल्कि अपने आपको अज़ाब देना व उत्पीड़ित करना है। रोज़े की प्रक्रिया इस बात को निरन्तर याद दिलाती रहती है।

(अतः उपरोक्त आयत का यह मतलब कदापि नहीं हो सकता कि तक्रवा के लिए मन का दमन आवश्यक है। बस इसके लिए आवश्यक है तो यह कि मन को नियंत्रित रखा जाए और उसे बुरी इच्छाओं से रोका जाए)

अब अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के कुछ फ़रमान और सुनिए। आप (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

(१) सहरी खा लिया करो, क्योंकि सहरी खाने में बरकत है।

– हदीस : मुस्लिम

(२) जब तक लोग इफ़्तार करने में जल्दी करते रहेंगे, भलाई में रहेंगे।

– हदीस : मुस्लिम

(३) ‘दीन’ उस समय तक प्रभावी रहेगा, जब तक लोग इफ़्तार करने में जल्दी करते रहेंगे

– हदीस :

अबूदाऊद हदीस

(४) अल्लाह तआला फ़रमाता है कि मेरा सबसे प्रिय बन्दा वह है, जो इफ़्तार करने में सबसे अधिक जल्दी करता है।

पिछली हदीसों से जो महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी वास्तविकता उभरकर सामने आई थी, ये हदीसों उसको और अधिक स्पष्ट कर रही हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि इसके पूरे अर्थ को उजागर कर देती हैं। उन हदीसों के द्वारा यदि यह बात ज्ञात हुई थी कि तक्रवा का आशय मनेच्छा का दमन नहीं, बल्कि केवल उसका नियंत्रण है। तो इन हदीसों के द्वारा इस मन के नियंत्रण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इसमें – मत और रुचियों का नियंत्रण भी सम्मिलित है। अर्थात् जिस प्रकार अपने मन को अल्लाह के आदेशों के अधीन रखा जाए उसी तरह अल्लाह के आदेशों की पैरवी करने में अपनी रुचि, अपनी तबीअत और अपनी राए को भी किसी प्रकार दखल देनेवाला न बनाया जाए। वास्तविक ‘तक्रवा’ का असल मक़ाम केवल इतनी बात से हासिल नहीं हो सकता कि मन को खुदा तथा रसूल (सल्ल.) के आदेशों के विरोध रोका जाए, बल्कि इसके लिए यह भी ज़रूरी है कि उन आदेशों के अनुपालन और अल्लाह की प्रसन्नता की चाह में अपने मत अपनी प्रवृत्ति और अपनी रुचि को उस समय कुछ बोलने का अधिकार न दिया जाए जबकि वह देखने में खुदापरस्ती के पक्ष में जाते प्रतीत होते हों। इनसान को खुदा की बन्दगी, नकरात्मक और स्वीकारात्मक हर हैसियत से ठीक उसी रूप में करनी चाहिए जिसका उसे ऊपर से आदेश मिला हो। वह जिस प्रकार अपने मन की उन इच्छाओं को दीवार पर दे मारता है, जो उसे ‘दीन’ के आदेशों के पालन से रोक रही हों, उसी प्रकार चाहिए कि उन आदेशों के अनुपालन की शक्तें और हदें मुक़रर करने में अपने जी की कोई बात न सुने। वह अल्लाह की बन्दगी और तक्रवा की ज़िन्दगी केवल उस चीज़ को समझे कि अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने जिस काम को जिस प्रकार और जिस रूप में करने को कहा है उसे ठीक-ठीक उसी प्रकार और उसी रूप में पूरा किया जाए और जिस बात से जिस सीमा तक और जिस रूप में रोका है उससे बस उसी सीमा तक और उसी रूप में रुका जाए। उसका दिल इस सत्यता पर सन्तुष्ट हो कि जिस प्रकार अमुक काम दीन का हुक़म है और उसका करना नेकी और बन्दगी की अपेक्षा है। उसी प्रकार यह भी नेकी और बन्दगी की अपेक्षा ही है कि आज्ञानुपालन की भावना के तहत भी उसकी सीमा और परिमाण में अपनी ओर से कोई अभिवृद्धि न की जाए।

रोज़ा मन के नियंत्रण के साथ-साथ मत-के नियंत्रण और रुचि नियंत्रण को भी तक्रवा के अर्थ में जिस प्रकार शामिल बताता है, वह किसी लम्बी चौड़ी व्याख्या का मुहताज नहीं। एक ओर तो यह बात कि रोज़े के अनिवार्य किए जाने का उद्देश्य तथा प्रयोजन तक्रवा को

हासिल करना है। दूसरी ओर यह नसीहत कि सहरी खाए बिना रोज़ा रखना एक बरकत से वंचित रहना और इफ़्तार में देर लगाना भलाई और दीन के प्रभावी होने की स्थिति के समाप्त हो जाने का लक्षण है। इन दोनों बातों को एक साथ रखकर देखें तो साफ़ मालूम होगा, कि सहरी न खाना और इफ़्तार देर से करना तक्रवा के आशय के विरुद्ध है, यद्यपि इन बातों से मन को कोई ढील नहीं मिलती बल्कि उसकी उदण्डता को खत्म करने में कुछ और मदद ही मिलती है। इसलिए दे बातों प्रत्यक्षतः रोज़े के उद्देश्य (अर्थात् तक्रवा) की प्राप्ति में सहायक ही दिखाई देती हैं। लेकिन अल्लाह के रसूल (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि वास्तविकता इसके विरुद्ध है – क्यों? इस “क्यों?” के जवाब में इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि इस प्रकार रोज़ा रखने में अपना मत और अपनी रुचि को भी हस्तक्षेप करनेवाला सम्मिलित कर लिया जाता है। क्योंकि अल्लाह ने रोज़े का जो आरम्भ और अन्त नियत कर दिया है – सहरी न खाने और इफ़्तार में देर लगाने से उनका पूरा-पूरा आदर शेष नहीं रहता। मानों उन्हीं को रोज़े का आरम्भ और अन्त होने का लक्षण होना पसन्द नहीं किया गया और उनको निर्णायक महत्व नहीं दिया गया, बल्कि इससे यह ज़ाहिर होता है कि रोज़े की इस निश्चित की गई अवधि को पर्याप्त नहीं समझा जाता और उसे बढ़ा देना उद्देश्य प्राप्ति के लिए अधिक उपयुक्त और लाभप्रद समझा जाता है। और यह स्पष्टतः अपना मत और अपनी रुचि को इबादत के विषय में अधिकार दे देना है। अगर सहरी न खाने और इफ़्तार देर से करने को महरूमि का कारण और तक्रवा के विरुद्ध होने की वजह, इस एक बात के अलावा और कोई नहीं है, जैसाकि प्रकट में निश्चित रूप से नहीं है, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि रोज़ा तक्रवा का सही आशय एवं अर्थ केवल आत्म-नियंत्रण और रुचि-नियंत्रण को भी इसमें अनिवार्य रूप से शामिल समझता है। वह वास्तविक तक्रवे की व्याख्या यह करता है कि मन की इच्छाओं की तरह रुचि और मत की स्वतंत्राओं पर भी अल्लाह के आदेशों का पूरा-पूरा नियंत्रण हो।¹

रोज़े की इन असाधारण महत्वपूर्ण बातों पर नज़र डालिए, तो यह अनुमान करने में कुछ अधिक कठिनाई न होगी, कि उसे इस्लाम का एक स्तम्भ क्यों निर्धारित किया गया है और उसके बिना ‘दीन’ की इमारत क्यों नहीं बन सकती?

रोज़े के कुछ विशिष्ट लाभ

यह जान लेने के बाद कि रोज़ा मानव को तक्रवा के वास्तविक जौहर से किस प्रकार और कैसे आभूषित कर देता है, वास्तव में अब कोई और बात जान लेने को शेष नहीं रह जाती, क्योंकि जिस व्यक्ति में तक्रवा का नूर पैदा हो गया तो उससे उसी चीज़ की अपेक्षा की जा सकती है जो अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) को पसन्द है और यह वह चीज़ है जिसमें ‘दीन’ (धर्म) की समस्त अभीष्ट वस्तुएँ सम्मिलित हैं। किन्तु फिर भी कुछ गुण और कर्म ऐसे हैं जो रोज़े के बड़े उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण फलों की हैसियत रखते हैं। इसलिए रोज़े के महान स्थान को पूरी तरह महसूस कर सकने में और अधिक आसानी हो जाएगी यदि उन पर भी एक दृष्टि डाल ली जाए—

(१) रोज़ा अल्लाह तआला के इस गुण कि वह शासक है – के विश्वास को पूर्ण विश्वास में बदल देता है। सहर का समय आया, उठो खा-पी लो, क्षितिज पर प्रभात की सफ़ेद धारी दिखाई देने को है! खाने-पीने से हाथ रोक लो! अब शाम तक हर प्रकार की पवित्र और स्वादिष्ट नेमतें होते हुए भी भूखे-प्यासे रहो। सूरज अस्त हो गया, रोज़ा समाप्त करो और कुछ-न-कुछ अनिवार्य रूप से खा-पी लो! आज्ञा और आज्ञापालन का, स्वामित्व और दासता का – यह ऐसा असाधारण प्रदर्शन है, जिसका दृष्टांत शरीरगत के किसी कर्म में मिलना कठिन है इस में निसन्देह अल्लाह तआला का अबाध शासक होना, मानो आँखों देखी सच्चाई प्रतीत होती है।

(२) रोज़ा इस्लामी समाज में सहानुभूति और करुणा की लहर दौड़ा देता है वह मालदारों (धनवानों) को लगातार एक मास तक दीनता का व्यावहारिक अनुभव कराता रहता है। वह उन्हें कम-से-कम तीस बार यह महसूस कराता है कि उपवास और भूख किस कहते हैं और खुदा के उन बन्दो पर क्या

गुज़रती होगी जो उनमें ग्रस्त हुआ करते हैं? यह व्यावहारिक अनुभव और यह एहसास स्वभावतः उनके अन्दर इस भावना को उभार देता है कि अपने ग़रीब और निर्धन भाइयों को उनके हाल पर न छोड़ें। इस प्रकार उनमें मानव के प्रति सहानुभूति और अल्लाह के मार्ग में खर्च करने की भावना रोज़े में अत्यन्त बढ़ जाती है। नबी (सल्ल.) ने रमज़ान के महीने को इसी आधार पर “शहरूल”^२ (सहानुभूति का महीना) कहा है। और स्वयं आप (सल्ल.) का हाल इस ज़माने में यह हुआ करता था कि “न किसी क़ैदी को क़ैद में बाक़ी रखते और न किसी याचक को खाली हाथ वापस करते।” (हदीस : बैहक़ी) और हज़रत इब्ने अब्बास (रज़ि.) के कथनानुसार, “यद्यपि आप (सल्ल.) सबसे बड़े दानशील व्यक्ति थे, किन्तु रमज़ान के महीने में आप (सल्ल.) की दानशीलता असाधारण सीमा तक बढ़ जाती थी।”

— (बुख़ारी)

(३) सभी मानव समान हैं इस भावना को रोज़ा अत्यन्त सुदृढ़ कर देता है। इस महीने में धनी और निर्धन, राजा और प्रजा, विशिष्ट और जनसामान्य – मतलब यह कि उम्मत के सारे लोग नज़र आने की हद तक एक जैसी हालत में होते हैं। सब के सब दासता के एक ही स्तर पर खड़े होते हैं। सभी के चेहरों से एक ही सर्वोच्च शासक के अधीन होने का और एक समान रूप से अधीन होने का प्रदर्शन हो रहा

होता है। यह स्थिति अन्दर से ऊँच-नीच के विचार को निकाल कर बाहर कर देती है और इस प्रकार पूरे वातावरण पर वास्तविक समानता का गहरा रंग छा जाता है।

(४) रोज़ा मोमिन को अल्लाह के मार्ग में संघर्ष करने के लिए तैयार करता है। संघर्ष में अल्लाह की प्रसन्नता के लिए भूख की, प्यास की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। अपनी दौलत को खर्च करना पड़ता है; अपनी जान को न्योछावर करना पड़ता है। इतने कठिन अभियान का साहस वही कर सकता है, जिसमें धैर्य और सहनशीलता की शक्ति पाई जाए और जो ये कष्टों को सहन कर सकता हो और ये कुरबानियाँ दे सकता हो। रोज़ा इस धैर्यशक्ति के पैदा करने का और उन कष्टों का अभ्यस्त बनाने का सबसे अच्छा साधन है। नबी (सल्ल.) ने इसी लिए रमज़ान के महीने को “शहरूससब्रि” (अर्थात् धैर्य का महीना) कहा है और रोज़े को “अर्ध धैर्य” कहा है। (हदीस : मिश्कात)

(५) फ़र्ज़ (अतिअनिवार्य) रोज़ों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह सामाजिकता की अनुभूति को भी शक्ति देता है और मुसलमानों को याद दिलाता रहता है कि तुम सब एक ही मिशन के ध्वजावाहक हो। आदेश है कि एक ही निर्धारित महीने (रमज़ान) में रोज़ा रखा जाए। निर्देश है कि प्रभातोदय (तुलूअ-ए-फ़ज़्र) से थोड़ी देर पहले सहरी खाई जाए और सूर्यास्त होते ही इफ़तार कर लिया जाए। इस प्रकार रोज़ा रखने का स्वरूप ऐसा बन जाता है कि सभी लोग एक ही निश्चित महीने में एक साथ रोज़ा रखते हैं और लगभग एक ही समय में सहरी खाते और एक ही समय पर इफ़तार करते हैं। किसी समुदाय के लोगों को एक ही लक्ष्यवाला और एक ही अभियान के सिपाही होने की अनुभूति दिलानेवाला वह कैसा असाधारण और कितना मृदुल उपाय है कि कि उनका खाना-पीना तक एक ही साथ, एक ही प्रकार का और एक ही उद्देश्य के अधीन होता है।

लक्ष्य-प्राप्ति की शर्तें

अन्य दूसरी इबादतों और धार्मिक क्रियाओं की तरह रोज़े के भी ये उद्देश्य और फल उसी समय प्राप्त हो सकते हैं; जबकि –

(१) वह निश्चित मर्यादाओं और शर्तों के साथ रखा जाए। नीयत में निष्ठा हो, दिल में सर्वोच्च अल्लाह की आराध्यता का और अपनी दासता और भक्त होने का पूर्ण विश्वास हो, वास्तविक स्वामी के आज्ञानुपालन की भावना हो, अल्लाह की प्रसन्नता की चाह हो, आखिरत की सफलता की लालसा हो – अर्थात् अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के शब्दों में रोज़ा – “पूर्ण आस्था और सावधानी” के साथ रखा गया हो। यदि हृदय अल्लाह के शासक होने और आराध्यता के विश्वास से और नीयत परलोक में प्रतिफल प्राप्ति की चाहत से खाली हो तो फिर रोज़ा रोज़ा नहीं वरन् भूखा रहना मात्र है। देखने और कहने में तो इस्लाम की इमारत का एक अनिवार्य स्तम्भ निर्मित हो रहा होगा, किन्तु वस्तुतः वहाँ संरचना नाम की कोई वस्तु मौजूद न होगी।

(२) केवल फ़र्ज़ रोज़ों ही को पर्याप्त न समझ लिया जाए, बल्कि नफ़्ल रोज़े भी रखे जाए, ताकि उन उद्देश्यों की याद निरन्तर ताज़ा होती रहे, जिनके लिए रोज़ा अनिवार्य किया गया है तथा रमज़ान के महीने के अतिरिक्त अन्य महीनों में भी मन के प्रशिक्षण के इस प्रभावकारी व्यावहारिक उपाय की न्यूनाधिक पुनरावृत्ति होती रहे। नफ़्ल रोज़े कितने और किन दिनों में रखे जाएँ, इसके लिए हदीसों में सविस्तार मार्गदर्शन विद्यमान हैं। हर व्यक्ति अपनी शक्ति और अपनी परिस्थिति के आधार पर उनमें से उचित चुनाव स्वयं ही कर सकता है।

५. हज

इस्लाम का पाँचवाँ और अंतिम स्तम्भ “हज” है। हज का शाब्दिक अर्थ “दर्शन की नीयत करना” है। शरीअत की भाषा में हज की इबादत को “हज” इसलिए कहा गया है कि इसमें आदमी काबा के दर्शन की नीयत करता है।

हज का केन्द्र

‘हज’ प्रत्येक उस बालिग़ मुसलमान पर जीवन में एक बार फ़र्ज़ (अनिवार्य) है, जिसको मक्का तक आने-जाने की सामर्थ्य प्राप्त हो। यदि कोई व्यक्ति सामर्थ्य प्राप्त होने के उपरांत हज नहीं करता तो वह अपने मुसलमान होने का झुठलाता है। कुरआन मजीद में आदेश है—

“‘‘लोगों पर यह अल्लाह का हक़ है कि जो उसके घर तक पहुँच सकता हो वह उस घर का हज करे और जिसने इनकार का आचरण अपनाया, तो वह जान ले कि अल्लाह सारे संसार से निस्पृह है।’’

— कुरआन, ३:९७

अल्लाह के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) फ़रमाते हैं —

“‘‘जिसे किसी बीमारी ने या किसी वास्तविक आवश्यकता ने या किसी अत्याचारी शासक ने रोक न रखा हो और इसके उपरांत वह हज न करे तो चाहे वह यहूदी मरे या ईसाई।’’

(हदीस शास्त्र: सुनन कुबरा, खण्ड-४ अध्याय: इमकानुल हज)

हज़रत उमर (रज़ि.) को कहते सुना गया कि “‘‘वह व्यक्ति यहूदी या ईसाई पंथ पर मरता है’’ ये शब्द आप (रज़ि.) ने तीन बार दोहराए जो सफ़र की सामर्थ्य और रास्ते की सुरक्षा पाने के उपरांत बिना हज किए मर गया हो।’’

(हदीस शास्त्र: सुनन कुबरा खण्ड अध्याय: इमकानुल हज)

इसके विपरीत उस व्यक्ति के बारे में जिसने इस अनिवार्य कर्तव्य को सही तरीक़े से पूरा कर लिया उसके सम्बन्ध में इतना अधिक कहा गया कि जिससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती।

“‘‘क्रबूल कर लिए गए हज का प्रतिफल जन्नत के अतिरिक्त और कुछ नहीं।’’ (हदीसशास्त्र: मुस्लिम खण्ड-१)

“‘‘जिसने उस घर (अर्थात् काबा) का हज किया और उस बीच उसने न तो कोई वासनात्मक ग़लती की न कोई गुनाह किया — वह जब हज करके लौटता है तो ऐसा पवित्र होता है, जैसा उस दिन था, जब उसकी माँ ने उसे जन्म दिया था।’’ (हदीस शास्त्र: बुखारी खण्ड-१)

यह जानने के लिए कि अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने काबे के हज को ऐसा उच्चतम महत्व क्यों दिया है और इसके बिना इस्लाम की पैरवी का दावा क्यों उपेक्षणीय होता है, और वह जन्नत की ज़मानत क्यों और किस प्रकार है? हमें यह देखना होगा कि हज क्या है? धर्म की आत्मा से इसका क्या सम्बन्ध है? इस्लामी ज़ेहन, इस्लामी शरीअत और इस्लामी चरित्र पैदा करने में वह क्या भाग लेता है? इनसान जिस ख़ुदा की इबादत के लिए पैदा किया गया है, उसे उसकी ज़िम्मेदारियों को पूरी तरह निभा पाने के क़ाबिल बनाने में वह क्या भूमिका निभाता है? हज के बारे में ये बातें दो चीज़ों से मालूम हो सकेंगी —

(१) प्रथम तो यह कि स्वयं वह काबा क्या चीज़ है जिसका हज किया जाता है? वह किस लिए बनाया गया है? इस्लाम से उसका क्या नाता है?

(२) दूसरी चीज़ यह कि हज में रस्में अदा की जाती हैं, वे क्या हैं? और उनके पीछे कौन-सी धारणाएँ काम करती हैं? यदि इन बातों का स्पष्टीकरण हो जाए तो वह सब कुछ आप-से-आप नज़र आ जाएगा, जो हज के उस महान महत्व का कारण है।

काबा का निर्माण और उसका महत्व

पहले काबा के निर्माण और उसकी हैसियत को लीजिए। काबा का निर्माण आज से लगभग साढ़े चार हज़ार वर्ष पूर्व हज़रत इब्राहीम और हज़रत इसमाईल(अलै.) के हाथों हुआ था। कुरआन, में कहा गया है —

“‘‘और याद करो जब इबराहीम और इसमाईल इस घर (काबा) की बुनियादें उठा रहे थे।’’ (कुरआन, २:१२७)

निर्माण करने का आदेश और जगह का निर्धारण दोनों अल्लाह की ओर से हुआ था।

“‘‘याद करो जबकि हमने इबराहीम के लिए अल्लाह के घर को ठिकाना बनाया।’’ (कुरआन, २२:२६)

जब काबे के निर्माण का आदेशदिया गया था और जगह का निर्धारण किया गया था, उस समय उन्हें यह हिदायत भी कर दी गई थी

कि जब यह घर बन कर तैयार हो तो लोगों में घोषणा करा देना कि इसका हज (दर्शन व ज़ियारत) करना अनिवार्य है। कुरआन में है—

“और लोगों में हज के लिए उद्घोषणा कर दो कि वे प्रत्येक निकट-दूर के मार्ग से पैदल भी और ऊँटों पर तेरे पास आएँ।”

(कुरआन, २२:२७)

इस घर की जो हैसियत और उद्देश्य अल्लाह तआला ने निश्चित किया है, उसका प्रदर्शन इन आयतों से होता है—

“याद करो जब हमने इस घर को लोगों के लिए केंद्र और अम्न की जगह ठहराया था और आदेश दिया था हि इबराहीम के खड़े होने की जगह को नमाज़ पढ़ने की जगह बना लो।” (कुरआन, २:१२५)

“निस्सन्देह पहला घर, जो लोगों के लिए (इबादत के केन्द्र की हैसियत से) बनाया गया था, वही है जो मक्के में स्थित है, जिसका हाल यह है कि वह बरकतोंवाला और सारे संसारवालों के लिए मार्ग दर्शन (का स्रोत) है।” (कुरआन, ३:९६)

“और जब हमने इबराहीम (अलै.) के लिए इस घर की जगह निश्चित की थी कि (इस हिदायत के साथ) कि मेरा किसी को साज़ी न ठहराना और मेरे घर को तवाफ़ (परिक्रमा) करनेवालों, क्रियाम^१ करनेवालों, और रुकूअ व सजदा^१ करनेवालों के लिए (शिरक के प्रदूषण से) पवित्र रखना।” (कुरआन, २२:२६)

अर्थात् यह घर सर्वांगतः भलाई और बरकत है। सारे जगत के लिए हिदायत का स्रोत है। अल्लाह के उपासकों की पनाहगाह है। नमाज़ क़ायम किए जाने की असल जगह है^२। और विशुद्ध एकेश्वरवाद का केन्द्र है। थोड़ा ग़ौर कीजिए तो महसूस होगा कि ये गुण आपस में गहरा सम्बन्ध रखते हैं। बल्कि यून कहना अधिक सही होगा कि यह वास्तव में एक ही संहर्ता गुण के विविध पहलू हैं। जो चीज़ विशुद्ध एकेश्वरवाद का मूल केन्द्र होगी, वस्तुतः नमाज़ की असल जगह भी वही होगी और जो चीज़ एकेश्वरवाद और नमाज़ का केन्द्र हो, कोई सन्देह नहीं कि वह आपादमस्तक हिदायत और बरकत की साकार मूर्ति होगी।

किताब की पिछली बहसों में आप पढ़ चुके हैं कि अक़ीदे के तौर पर एकेश्वरवाद और व्यावहारिक रूप में नमाज़ यही दोनो चीज़ें वास्तव में पूरे ‘दीन’ (इस्लाम-धर्म) का सार हैं। इसलिए काबा अगर तौहीद और नमाज़ दोनों का केन्द्र है तो इसका अर्थ यह है वह पूरे ‘दीन’ (धर्म) का केन्द्र है। अतः अल्लाह तआला ने उसे स्पष्ट रूप से “अपना घर” (बैयिती) कहा भी है, जिसका अर्थ स्पष्टतः यही है कि वह अल्लाह के दीन (धर्म) का घर या केन्द्र है।

हज़रत इबराहीम (अलै.) का बनाया हुआ यह काबा, अल्लाह के दीन का घर और इस्लाम का केन्द्र क्यों और किस प्रकार है? यह समझने के लिए एक ओर तो यह देखना चाहिए कि उसके निर्माण की पृष्ठ-भूमि क्या है? दूसरी ओर यह कि उसके निर्माण के बाद उसके निर्माण उद्देश्य लिए व्यावहारिक क्रम क्या उठाया गया?

काबा के निर्माण की पृष्ठभूमि

हज़रत इबराहीम (अलै.) को जब उनकी क़ौम ने वतन के परित्याग हेतु विवश कर दिया तो वे विभिन्न क्षेत्रों में हक़ की दावत की उद्घोषणा करते हुए मक्के की उजाड़ और सपाट घाटियों में पहुँचे। यहीं उस मशहूर स्वप्न की घटना घटित हुई, जिसमें आपने अपने इकलौते पुत्र (हज़रत इसमाईल अलै.) को अपने हाथों ज़िबह करते देखा था। यह स्वप्न जब आप (अलै.) ने अपने जिगर के टुकड़े को सुनाया तो सुलक्षण तथा अचज़ाकारी बच्चे ने कहा कि “पिता जी! अल्लाह का जो आदेश हो उस पर निस्संकोच अमल कीजिए! यह गर्दन, अगर अल्लाह ने चाहा तो धैर्य और तत्परता की गर्दन साबित होगी।” पिता ने पुत्र को भूमि पर लिटाकर छुरी गर्दन पर रख दी। हाथ चलने ही को थे कि आकाश से आवाज़ आई — “इबराहीम (बस हाथ रोक लो) तुमने अपने स्वप्न को सच कर दिखाया..... हमने इसमाईल को एक बड़ी क़ुरबानी के बदले छोड़ा लिया।” (क़ुरबान, ३७:१०४-१०५) — हज़रत इबराहीम का पूरा जीवन मिसाली आज़माइशों का जीवन था। यह बेटे के ज़िबह (पुत्र बलि चढ़ाने) की घटना उन आज़माइशों की आखिरी कड़ी थी। इस आखिरी और सबसे बड़ी परीक्षा में भी जब आप (अलै.) पूरे खरे उतर चुके तो अब प्रतिदान पाने का दौर शुरू हुआ और अल्लाह तआला की ओर से शुभ-सूचना आई —

“इबराहीम! मैं तुम्हें समस्त मानवजति का इमाम (आदर्शपुरुष) बना रहा हूँ।” (कुरआन, २:१२४)

और फिर इमाम बनाने के अनुग्रह की शुरुआत इस तरह हुई कि उन एलानों और हिदायतों के साथ, जिनके उद्धरण अभी गुज़र चुके, आपको काबा के निर्माण का आदेश हुआ।

इस पृष्ठभूमि अर्थात् इस पूरे वृत्तान्त की दो बातें विशेष रूप से याद रखने की हैं —

(१) ज़िबह (पुत्र बलि) की घटना मरवा (एक स्थान का नाम) मक़ाम पर घटित हुई, जो काबा की जगह के निकट ही स्थित है और काबा उस जगह से साफ़ नज़र आता है।

(२) स्वप्न के बाद पिता और पुत्र, दोनों ने आज्ञापालन तथा समर्पण की जिस भावना के साथ उस परोक्ष-संकेत पर अमल करने की अग्रसरता दिखाई थी, उसकी अल्लाह तआला ने 'समर्पण' की संज्ञा दी है।

“फिर जब दोनों ने अपने आपको समर्पित कर दिया और उसने (इबराहीम ने) उसको कनपटी के बल डाल दिया।”

(कुरआन, ३७:१०३)

काबा के निर्माण-उद्देश्य के लिए निम्न प्रकार के व्यावहारिक क्रम उठाए गए—

जिस समय काबा का निर्माण शुरू हुआ उसी समय उसके उद्देश्य को प्राप्त करने के सम्बन्ध में उसके पुनीत निर्माणकर्ताओं अर्थात् हज़रत इबराहीम तथा इसमाईल अलै.) ने अल्लाह तआला के समक्ष यह दुआ की—

“ऐ खुदा ! हमारे कर्म को स्वीकार कर। निसन्देह तू सब कुछ सुनता और सब कुछ जानता है। मालिक ! हमें अपना “मुस्लिम” (सच्चा आज्ञापालक) बना और हमारी सन्तान में से एक ऐसा गिरोह बरपा करना जो तेरा “मुस्लिम” हो और हमें अपनी इबादत के तरीके बता, हम पर दया की दृष्टि रख। तू निस्सन्देह, दया दृष्टि करनेवाला और कृपा करनेवाला है।”

(कुरआन, २:१२७)

इस दुआ से मालूम हुआ कि जिस प्रयोजनार्थ काबा बनाया गया था, उसकी पूर्ति एक ऐसे गिरोह के द्वारा होनेवाली थी, जो उन्हीं बुजुर्गों की, दूसरे शब्दों में हज़रत इस्माईल (अलै.) की सन्तान में से होगी।

यहाँ यह बात फिर दृष्टि में रखने की है कि जिस सद्गुण से उस गिरोह को आभूषित करके पैदा किए जाने की दुआ की गई थी, उसके लिए भी जो शब्द प्रयोग किया गया है वह “मुस्लिम” का शब्द है, जिसका अर्थ है—“समर्पित”

जब खाना-ए-काबा बन चुका तो ऐसा नहीं हुआ कि हज़रत इबराहीम (अलै.), हज़रत इस्माईल (अलै.) और हज़रत हाजिरा (अलै.) को लेकर अपने शेष परिजनों के पास या किसी अन्य आवासित स्थान पर वापस चले गए हों, ऐसा नहीं किया, बल्कि उन्होंने किया यह कि उसी चटियल मैदान में और उसी काबा के निकट उन्हें बसा दिया ताकि अल्लाह तआला का वह सच्चा फ़रमाँबरदार गिरोह, जिसके प्रादुर्भूत किए जाने की दुआ उन्होंने की थी, जब प्रादुर्भूत हो तो उसी काबा के पास अस्तित्व में आए। हज़रत इबराहीम (अलै.) ने स्वयं प्रार्थना की थी—

“परवरदिगार ! मैंने अपनी औलाद में से एक भाग को एक बिना खेती के मैदान में तेरे प्रतिष्ठित घर के निकट बसा दिया है। ऐ खुदा ! उन्हें बसाया इसलिए है ताकि वे नमाज़ क़ायम करें।”

(कुरआन, १४:३७)

“नमाज़ क़ायम करें” अर्थात् तेरी बन्दगी करें, तेरे धर्म का अनुसरण करें और आवाहक बनें। ऊपर यह बात पूरी तरह स्पष्ट की जा चुकी है कि व्यावहारिक रूप में नमाज़ ही धर्म का सार है और नमाज़ को क़ायम करना ही वास्तव में पूरे धर्म को क़ायम करने की ज़मानत है। इसलिए नमाज़ को क़ायम करना मानो पूरे दीन को क़ायम करना होता है।

इस्माईल (अलै.) की सन्तान में से अल्लाह का यह सच्चा आज्ञापालक गिरोह व्यावहारिक रूप में किस प्रकार अस्तित्व में आएगा और उसे अल्लाह तआला की फ़रमाँबरदारी (इस्लाम) का तरीका कैसे ज्ञात होगा ? इसके लिए हज़रत इबराहीम (अलै.) ने यह दुआ की थी—

“ऐ हमारे प्रभु ! उनके अन्दर उन्हीं में से एक ऐसा सन्देष्टा (रसूल) उठा, जो उन्हें तेरी आयतें पढ़कर सुनाए, तेरे आदेश बताए, हिकमत समझाए, और उनका चरित्र निर्माण करे।” (कुरआन, २:१२९)

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हज़रत इबराहीम (अलै.) की यही दोनों दुआएँ थीं, जो अल्लाह के समक्ष स्वीकृति पाकर इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) और सहाबा किराम (रज़ि.) की शकल में ज़ाहिर हुईं। इस पवित्र समुदाय का नाम ही “मुस्लिम” और “उम्माते मुस्लिमा” पड़ा और इसी लिए पड़ा कि हज़रत इबराहीम (अलै.) अपनी इस दुआ में उसे इसी शब्द और नाम से याद कर चुके थे। दूसरे शब्दों में यह कि वही इसका यह नाम रख चुके थे, जैसाकि कुरआन के २२वें अध्याय (सूरा हज) में स्पष्ट भी कर दिया गया है।

“उसने इससे पहले तुम्हारा नाम मुस्लिम (आज्ञाकारी) रखा था।

(कुरआन, २२:७८)

काबा के निर्माण से सम्बन्ध इन समस्त बातों को एक साथ अवलोकन करें, तो काबा का धर्म का केन्द्र और इस्लाम का स्रोत होना दोपहर के सूरज की तरह आप-से-आप प्रकाशमान हो जाएगा-

हज की क्रियाएँ

अब उन रस्मों पर एक दृष्टि डालिए जो हज में अदा की जाती हैं—

जब कोई व्यक्ति हज के लिए रवाना होता है तो मक्का से काफ़ी दूर पहले एक नियत स्थान पर पहुँचकर हज की बाक्रायदा नीयत बाँधता है जिसको “इहराम” कहते हैं। इहराम बाँधते समय वह पहले स्नान करता या वुजु करता है। फिर प्रतिदिन प्रयोग में आनेवाले कपड़ों के बजाए बिन सिली एक तहबंद और एक चादर पहन लेता है। इसके बाद दो रकूअत नमाज़ पढ़ता है। नमाज़ पढ़कर हज की नियमबद्ध नीयत की उद्घोषणा व प्रदर्शन करते हुए अपने खुदा को सम्बोधित करता और ऊँची आवाज़ से पुकारते हुए कहता है—

“लबै-क अल्लाहुम-म लब्बै-क, ला शरी-क ल-क लब्बै-क इन्नल् हम-द बन्निअम-त ल-क वल् मुल्-क ला शरी-क ल-क”

(हाज़िर हूँ, मेरे अल्लाह ! मैं हाज़िर हूँ। हाज़िर हूँ, तेरा कोई साज़ीदार नहीं, मैं हाज़िर हूँ। कोई सन्देह नहीं कि समस्त प्रशंसाएँ तेरे लिए है, नेमत तेरी है, बादशाही तेरी है, कोई तेरा साज़ीदार नहीं।) (हदीस : बुखारी)

“लब्बैक, लब्बैक (हाज़िर हूँ, मैं हाज़िर हूँ) की इस पुकार के साथ ही वह ‘इहराम’ की हालत में आ जाता है और अब यह पुकार उसकी ज़बान की जाप बन जाती है। हर नमाज़ के बाद, हर ऊँचाई पर चढ़ते हुए, हर ढलान में उतरते हुए, हर काफ़िले से मिलते समय और हर सुबह जागते ही ये वाक्य उसकी ज़बान पर जारी होते रहते हैं। इहराम बाँध चुकने के बाद उसके लिए साज-सज्जा और भोग-विलास की एक-एक चीज़ निषिद्ध हो जाती है। अपने आम इस्तेमाल के कपड़े वह उतार ही चुका होता है। अब जो दो कपड़े — चादर और तहबंद — उसके शरीर पर होते हैं, अनिवार्य है कि वे भी सिले हुए न हों और न किसी सुगन्धित रंग से रंगे हुए हों। इसी प्रकार वह अब टोपी या अमामे या और किसी चीज़ से अपने सिर को ढक भी नहीं सकता, न मुँह छिपा सकता है, न बाल बनवा सकता है, न नाखून कटवा सकता है, न खुशबू लगा सकता है, न नहाने में साबुन आदि प्रयोग कर सकता है। यौन सम्पर्क करना उसके लिए बिल्कुल ही निषेध (मना) हो जाता है, यहाँ तक कि उसकी चर्चा भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार शिकार करने की अनुमति शेष नहीं रह जाती, बल्कि वह किसी और को भी शिकार की ओर इशारा तक नहीं कर सकता। इस हालत के साथ वह मक्का की ओर बढ़ता जाता है। दूर से जैसे ही काबा दिखाई देता है, पुकार उठता है — “अल्लाहु अकबर” (अर्थात् अल्लाह सबसे बड़ा है)” ला इला-ह इल्लल्लाह” (अर्थात् अल्लाह के सिवा कोई पूज्य नहीं) मक्का में दाखिल होकर सीधे काबा पहुँचता है। काबा के द्वार के निकट दीवार में जो ‘हज़रे असूद’ लगा हुआ है, उस पर अपने दोनों हाथ रखता और फिर उसे चूमता है। चूमने के बाद काबा की परिक्रमा (तवाफ़) करता — अर्थात् उसके चारों ओर सात चक्कर लगाता है। इसके बाद ‘मक़ामे-इबराहीम (काबे से जुड़ा एक विशेष स्थान) पर या काबा में किसी भी जगह नमाज़ की दो रकूअतें पढ़ता है। फिर बाहर आता है और ‘सफ़ा’ नामक पहाड़ी — जो निकट ही स्थित है — पर चढ़ता है। चढ़ कर पहले काबा पर नज़र डालता है और फिर पुकाराता है — “अल्लाहु अकबर” (अल्लाह सबसे बड़ा है) “ला इला-ह इल्लल्लाह” (अल्लाह के सिवा कोई पूज्य नहीं) इसके बाद अल्लाह के रसूल (सल्ल.) पर दरूद भेजता है और अपने अल्लाह से हाथ फैलाकर जो माँगना होता है, माँगता है। फिर इसके बाद नीचे उतरता है और सामने की एक दूसरी पहाड़ी — ‘मरवा’ की ओर “सई” करता है — अर्थात् तेज़-तेज़ कदमों से चलता है। उस पर पहुँचकर फिर कुछ देर तक उसी प्रकार तकबीर व तहलील^१ और दरूद व दुआ में व्यस्त रहता है, जिस प्रकार अभी सफ़ा पर व्यस्त रह चुका है। इस तरह की “सई” वह सात बार करता है। इस सई से निवृत्त हो चुकने के बाद मक्का में ठहर जाता है और जैसी कुछ उसे तौफ़ीक़ होती है काबे की परिक्रमा किया करता है। जब जिल्हिज्जा की सातवीं तिथि आती है तो इस तरह के सभी लोग काबा की मसजिद में जमा हो जाते हैं और मुसलमानों का इमाम उनके सामने खुत्बा देता है। जिसमें हज से सम्बन्धित आदेश और नियमों को बताता है उससे प्राप्त होनेवाली ख़दा की दयालुता और बरकतों का उल्लेख करता है। आठवीं तिथि को दिन निकलने पर सभी लोग ‘मिना’ के लिए प्रस्थान कर जाते हैं। मिना मक्का से तीन मील अर्थात् लगभग ४.८ कि.मी. दूर स्थित एक स्थान है। वहाँ अगले दिन की सुबह तक ठहरते हैं। फिर अरफ़ात की ओर प्रस्थान करते हैं, जो मक्का से बारह मील (लगभग १९.३ कि. मी.) दूर एक विशाल मैदान है। सारे लोग उस विशाल मैदान में एकत्र हो जाते हैं। सूरज ढलने पर यहाँ इमाम सबके सामने फिर खुत्बा (अभिभाषण) देता है और अनिवार्य कर्मों के प्रति लोगों को सचेत करता है। इसके बाद ज़ुहर (दोपहर) ही के वक़्त में ज़ुहर और अस्त्र (सूर्यास्त से पूर्व की नमाज़) दोनों वक़्तों की नमाज़ें पढ़ता है। नमाज़ों से निवृत्त होकर लोग एक खास अन्दाज़ में पड़ाव डाल देते हैं। इमाम का पड़ाव “जबलरूहमत” (दयालुता का पहाड़) नामक पहाड़ के निकट होता है। वह अपनी ऊँटनी से नीचे नहीं उतरता, बल्कि उसी पर बैठा रहता है। उसका रुख काबा की ओर होता है। वह अल्लाह तआला के समक्ष गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कर दुआएँ माँगता है। दुआएँ माँगने के दौरान बीच में रुक-रुक कर “लब्बै-क अल्लाहुम-म

लब्बै-क” (हाज़िर हूँ ऐ अल्लाह हाज़िर हूँ) पुकारता जाता है। बाक़ी सारे लोग उसके पीछे या उसके आस-पास ठहरे होते हैं और सभी का रुख़ काबा ही की ओर होता है। इमाम इस अवसर पर उन्हें फिर सम्बोधित करता है और पूरी तल्लीनता से वे (हाजी) उसके निर्देशों को सुनते हैं। सूरज डूब चुकने पर यहाँ से वापसी हो जाती है और सब लोग “मुज़दल्फ़ा” नामक स्थान पर आ पहुँचते हैं और अपनी-अपनी जगहें लेकर डेरे डाल लेते हैं। इमाम “जबले कुज़ह” नामक पहाड़ के करीब ठहरता है। इशा का समय हो चुकने पर मग़रिब और इशा दोनों समयों की नमाज़ें एक साथ पढ़ता है। यह रात यहीं गुज़रती है। दसवीं की सुबह उदित होने पर मुँह-अंधेरे ही फ़ज़्र की नमाज़ अदा कर ली जाती है, जिसके बाद हर व्यक्ति अपनी-अपनी जगह अल्लाह का ज़िक्र व इस्तिग़फ़ारा (अल्लाह से गुनाहों की माफ़ी माँगना) में व्यस्त हो जाता है और रह-रह कर” लब्बै-क अल्लाहुम-म लब्बै-क” पुकारता रहता है। जब बिलकुल उजाला हो जाता है तो वहाँ से “मिना” के लिए चल पड़ते हैं। मिना पहुँच कर जमरतुल उक़बा को सात बार कंकड़ियों से मारते हैं और मारते हुए हर बार “अल्लाहु अकबर” कहते जाते हैं। यहाँ के बाद अब “लब्बै-क अल्लाहुम-म लब्बै-क” कहने का सिलसिला ख़त्म हो जाता है। कंकड़ियाँ मारने के बाद कुरबानी करते हैं, फिर सिर मुँडवाते हैं और इहराम की हालत से निकल आते हैं। अब काबा का फिर सात बार तवाफ़ (परिक्रमा) करते हैं। इसके बाद फिर मिना जाते हैं, जहाँ दो या तीन दीन ठहरते हैं। यहाँ मिना में अल्लाह का बहुत अधिक स्मरण (याद) करते हैं; उससे क्षमा और कल्याण की प्रार्थनाएँ (इस्तिग़फ़ार) करते हैं और प्रत्येक दिन तीनों ‘जमरात’ को तकबीर कहते हुए सात-सात बार कंकड़ियाँ मारते हैं। इस प्रकार मिना में दो या तीनों दिन गुज़ार कर पुनः काबा के पास वापस आ जाते हैं और आकर उसका अंतिम तवाफ़ करते हैं। तवाफ़ करके काबा के द्वार को बोसा देते हैं। हजरे अस्वद और काबा के दरवाज़े के बीच के भाग को जिसे ‘मुलतज़म’ कहते हैं, अपने चेहरे और अपने सीने से लगाते हैं और काबा के ग़िलाफ़ को पकड़कर ज़्यादा-से-ज़्यादा दुआएँ माँगते हैं, प्रार्थनाएँ करते हैं, रोते और गिड़गिड़ाते हैं। इसके बाद इस दशा में अपने घरों को वापस होते हैं कि अल्लाह के इस घर के प्रति अपार प्रेम और पुनर्दर्शन की लालसापूर्ण निगाहें काबा पर टिकाए हुए होते हैं।

यह है हज में किए जानेवाले कृत्यों (मरासिम) का संक्षिप्त विवरण इनमें से अधिक चीज़ें तो ऐसी हैं जो बहुत कुछ स्पष्ट ही हैं, किन्तु कुछ ऐसी भी हैं जिनमें से हर एक की अपनी-अपनी एक विशिष्ट पृष्ठभूमि है और उनकी सार्थकता अच्छी तरह समझ में उसी वक़्त आ सकती है, जब यह पृष्ठभूमि भी निगाहों के सामने हो। इसलिए यहाँ महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट चीज़ों का अपेक्षित स्पष्टीकरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) काबा:- जहाँ तक काबा का सम्बन्ध है, इसके बारे में अनिवार्य जानकारियाँ तो ऊपर उल्लिखित हो चुकी हैं।

(२) सफ़ा और मरवा:- सफ़ा और मरवा के बारे में कुरआन मज़ीद ने फ़रमाया है—

“निस्सन्देह, सफ़ा और मरवा अल्लाह की निशानियों में से हैं।”

(कुरआन, २:१५८)

“अल्लाह की निशानियों में से” होने का अर्थ यह है कि वह अल्लाह की बन्दगी की निशानियाँ हैं। ये दोनों स्थान अल्लाह की बन्दगी की निशानियाँ किस प्रकार हैं? यह ज्ञात करने के लिए हमें इतिहास की मदद लेनी होगी, जो बताता है कि ‘मरवा’ वह स्थान है, जहाँ हज़रत इबराहीम (अलै.) ने अपने इकलौते बेटे को माथे के बल ज़मीन पर लिटाया था, ताकि उसे अल्लाह की मर्ज़ी (प्रसन्नता) पर कुरबान करें। इसलिए उसे देखते ही नैसर्गिक रूप से मोमिन (सत्यनिष्ठ ईश्वरभक्त अर्थात् सच्चा मुसलमान) की निगाहों में “बन्दगी” और “इस्लाम” की वह तसवीर फिर जाती है, जिसे अल्लाह के दोस्त हज़रत इबराहीम (अलै.) और अल्लाह को समर्पित हज़रत इसमाईल (अलै.) ने अपने कर्म से खींची थी।

(३) जमरात: ‘मिना’ के मैदान में थोड़ी-थोड़ी दूर पर तीन स्थान हैं, जिनमें से प्रत्येक को ‘जमरा’ कहते हैं। इन तीनों का अगर एक साथ नाम लेना होता है तो अरबी व्याकरण के बहुवचन बनाने के नियमानुसार इन्हें ‘जमरात’ कहते हैं। ये वे स्थान हैं जहाँ तक, एक समय हबशा के ईसाई बादशाह (अबरहा) की फ़ौजें काबा को ध्वस्त करने के इरादे से बढ़ आई थीं और फिर पत्थरों द्वारा हलाक कर दी गई थीं।

हज और बन्दगी की भावना

हज की इन रस्मों पर अगर गहरी नज़र डालिए तो उनमें की एक-एक चीज़ में बन्दगी की उभरी हुई तसवीर दिखाई देगी।

इहराम का लिबास, लिबास नहीं होता, बल्कि एक ओर फ़क़ीरी के एहसास की दूसरी ओर फ़िदाकारी की भावना का मुँह बोलता प्रतीक है। जिस समय एक फ़क़ीर-कंगाल अपनी झोली लिए किसी दाता के दरबार में या एक जाँबाज़ (प्राण न्योछावर कर देनेवाला)

इश्ररपज्ञ

इसके अलावा इहराम का यह लिबास एक और महान वास्तविकता को उद्धोषित कर रहा होता है। दुनिया के विभिन्न राष्ट्रों के लोग जब अपना-अपना देशीय लिबास उतार कर एक ही प्रकार के कपड़े पहने लेते हैं, और एक ही नारा — “हाज़िर हूँ मेरे अल्लाह, मैं हाज़िर हूँ।” सबकी ज़बानों से बलन्द हो रहा होता है, तो इस्लामी राष्ट्रीयता साक्षात् रूप ले लेती है। अंधे भी देख लेते हैं कि इस्लाम का रिश्ता समस्त भौतिक रिश्तों से कितना अधिक मज़बूत है और यह कि इनसान, इनसान को जोड़नेवाला यथार्थ रिश्ता केवल वही है।

जिस समय उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम हर ओर से वातावरण में निरन्तर ये ध्वनियाँ गूँजती हैं कि “मैं हाज़िर हूँ, ऐ खुदा ! मैं हाज़िर हूँ।” तो ऐसा ज्ञात होता है कि काबा के निर्माता ने अपने स्वामी के आदेश — “लोगों में हज के लिए उद्घोषणा कर दो।” (कुरआन २२:२७) के अनुपालन में हज की जो मुनादी की थी, ये ध्वनियाँ उसी का प्रत्युत्तर हैं। इबराहीम (अलै.) की यह मुनादी यक़ीनन कुछ बाह्य रस्मों के अदा करने की मुनादी न थी, बल्कि अपने आपको ईमान की रूह और इस्लाम की हक़ीक़त में ढाल लेने की मुनादी थी। इसलिए इस मुनादी का जवाब — “लब्बै-क अल्ला-हुम-म लब्बै-क (मैंहाज़िर हूँ, ऐ अल्लाह मैं हाज़िर हूँ) का यह नारा भी केवल कुछ शब्दों को वातवरण में बलन्द कर देने का नाम नहीं है, बल्कि यह अपने आपको अपने मालिक के सुपुर्द कर देने की एक बेचैन भावना का प्रदर्शन है। यह इस बात का एलान है कि गुलाम अपने स्वामी के आदेशों पर कान लगाए उसके समक्ष बड़े, लपके चले आ रहे हैं।

जैसे ही काबा पर नज़र पड़ती है परिकल्पना की निगाहों में वह सबकुछ फिर जाता है जो उसके निर्माण से सम्बद्ध है। इनसान को याद आ जाता है कि मैं उसी समुदाय का एक व्यक्ति हूँ, जिसके प्रादुर्भाव के लिए हज़रत इबराहीम (अलै.) ने दुआ की थी, जिसका नाम उन्होंने उम्मेते मुस्लिमा (अर्थात् मुस्लिम समुदाय) रखा था, जिसकी हैसियत यह निश्चित की थी कि वह अल्लाह के लिए और उसके एकेश्वरवादी धर्म के लिए समर्पित होगी।

हज़रे असवद (काला पत्थर) पर जब वह अपने दोनों हाथ रखता है तो दिल पर यह सच्चाई अंकित हो जाती है कि यह अल्लाह के साथ में हाथ दे रहा हूँ, बन्दगी और दासता का प्रण कर रहा हूँ, इक्रार कर रहा हूँ कि इस वचन से कभी न फिरूँगा। फिर हाथ रखने के बाद जब उसे बोसा देता है, चूमता है, तो अब एक और अन्तर्चेतना जागृत हो जाती है। बुद्धि में यह विचार उभर आता है कि जिस हस्ती से इस समय बन्दगी की प्रतिज्ञा को ताज़ा कर रहा हूँ, वह मेरा वास्तविक और स्वामी भी है और वास्तविक प्रियतम व लक्ष्यबिंदु भी है। इस लिए उसके दरबार की हाज़िरी के वक़्त ज़रूरी है कि उस की ड्योढ़ी को चूमूँ।

तवाफ़ क्या है ? केवल अल्लाह की प्रसन्नता के लिए अपने आपको कुरबान कर देने की अनुरागात्मक भावना। जब मोमिन (सच्चा मुसलिम) काबा के चारों ओर परिक्रमा करता है तो कावियों की कल्पना के अनुसार “दीपक और पतंगे” जैसी एक वस्तुस्थिति बन जाती है। ऐसा ज्ञात होता है कि बन्दा अपने मौला के दरबार में आकर सिर से पाँव तक अथाह प्रेम और मतवालेपन की साकार मूर्ति बन गया है। उसे स्वयं अपने अस्तित्व की ख़बर नहीं, वह अपने मालिक के इशारों पर न्योछावर हो जाने के लिए आतुर है और अपना सब कुछ त्यागकर उसे पा लेना चाहता है।

फिर यह तवाफ़ (परिक्रमा) कुछ और भी बताता है। काले और गोरे, अरबी और ग़ैर-अरबी, सामी और आर्याई — मतलब यह कि हर वर्ण, हर नस्ल, हर भाषा और हर राष्ट्रीयता के लाखों इनसानों का यह भारी गिरोह जब एक ही प्रकार की वेशभूष में और एक ही प्रकार की भावनाएँ लिए काबा के चारों ओर घूमता है तो यह परिदृश्य विश्वास दिलाता है कि जिस प्रकार अल्लाह एक है और अल्लाह का धर्म एक है, उसी प्रकार उसके धर्म पर विश्वास (ईमान) रखनेवाले भी प्रकट में सहस्रों मतभेद के उपरांत भी वस्तुतः एक ही हैं। सभी का अक्ष एक ही है, सभी एक ही केन्द्र से सम्बद्ध हैं और सभी की वफ़ादारियाँ और जाँनिसारियाँ एक ही यथार्थ सत्ता के लिए समर्पित हैं।

‘सफ़ा’ और ‘मरवा’ के बीच की ‘सई’ इस सुदृढ़-भावना को प्रकट करती है कि हज़रत इबराहीम (अलै.) और हज़रत इसमाईल (अलै.) का मार्ग ही हमारा भी मार्ग होगा और उस मार्ग पर चलने में हम अपने क़दमों को सुस्त न होने देंगे। उन्होंने इस भूमि पर अपने कर्म से “इस्लाम” की जो व्याख्या की थी, हमारे निकट भी इस्लाम उससे कम किसी चीज़ का नाम न होगा। मरवा की “शहादतगाह” तक बार-बार हमारा दौड़कर पहुँचना यह ज़ेहन में बिठा लेने के लिए है कि हमारी जीवन-यात्रा का अंतिम चरण भी इस प्रकार की कोई शहादतगाह होनी चाहिए।

ज़िलहिज्जा की तिथि सातवीं से लेकर दसवीं तक समस्त हाज़ियों का एक इमाम के नेत्रित्व में यह सामूहिक प्रस्थान और सामूहिक निवास की आज सब-के-सब मसजिदे-हराम (प्रतिष्ठित मस्जिद अर्थात् काबा) में इकट्ठे हैं। कल ‘मिना के’ मैदान में जमा हैं, अगले दिन ‘अरफ़ात’ में ख़ेमा लगाकर पड़ाव डाले हुए हैं, रात ‘मुज़दलफ़ा’ में हैं, सुबह होते फिर मिना आ पहुँचे हैं। इस दौरान कभी इमाम के खुतबे सुनते हैं, कभी — लब्बै-क अल्ला-हु-म-म लब्बै-क ” पुकारते हैं। नमाज़ें जमा करके, यानी दो नमाज़ें एक ही वक़्त में उजलत (शीघ्रता) की पढ़ते हैं। — ये समस्त बातें स्पष्ट रूप से एक सुव्यवस्थित सैन्य-जीवन का चित्र प्रस्तुत करती हैं और खुदा के लाखों बन्दों का यह इहराम पोश गिरोह काँधे पर कफ़न उठाए हुए सिपाहियों का एक बहुत भारी लश्कर नज़र आता है — यह वस्तुस्थिति याद दिलाती है कि मुस्लिम समुदाय की परिकल्पना व अवधारणा के साथ सुव्यवस्थित संगठन और सैन्य-जीवन की अवधारणा बिलकुल अनिवार्य है और

उसकी सारी उर्जा अल्लाह की बन्दगी के लिए और उसके 'दीन' की मदद व स्थायित्व के लिए समर्पित है।

८. जमरात के सुतूनों (स्तम्भों) पर कंकड़ियाँ मारना, पत्थरों की उस बेपनाह बारिश की यादगार है जिसने 'अबरहा' के लश्कर को इन्हीं स्थानों पर नष्ट विनष्ट करके रख दिया था। इन स्थानों पर कंकड़िया मारना और हर कंकड़ी के साथ "अल्लाहु अकबर" (अल्लाह सबसे बड़ा है) कहकर अल्लाह की बड़ाई की उद्घोषणा करते जाना, मानो अपने इस इरादे और इस फ़ैसले से दुनिया को सचेत करना है कि यदि कोई अल्लाह के दीन पर तिरछी निगाह डालेगा, तो हम उस का मुँह फेर देंगे और जो इसकी बुनियादें ढाना चाहेगा हम उसे पीसकर रख देंगे।

९- कुरबानी: वह "महान् बलि" है जिसे अल्लाह तआला ने हज़रत इसमाईल (अलै.) का फ़िदया (बदला) ठहराया है – "और हमने उसे एक महान बलि (कुरबानी) के बदले में छुड़ा लिया" (कुरआन ३७:१०७)– इसलिए अल्लाह के आज्ञानुपालन में जानवर को कुरबान करना वस्तुतः अपने आपको कुरबान करने का स्थानापन्न है। यह इस बात का ख़ामोश इक्रार है कि हमारी जान अल्लाह के मार्ग में भेंट चढ़ चुकी है और वह जब उसे माँगेगा, हम बेझिझक और बिना विलम्ब किए कर देंगे। यह जानवर का खून बहाना वास्तव में इस बात का प्रतीक और प्रस्ताव है कि अल्लाह की प्रसन्नता की जब भी अपेक्षा होगी, हम अपना खून तक बहा देने के लिए तैयार हैं। वरना जानवर को ज़बूह करना स्वयं में न वह धर्म है न तक्रवा (परहेज़गारी) इस बात को कुरआन में यों स्पष्ट किया गया है — "न उनके माँस अल्लाह को पहुँचते हैं और न उनके रक्त। किन्तु उसे तुम्हारा तक्रवा (धर्मपरायणता) पहुँचता है।" (कुरआन, २:२:३७)

हज की रस्मों के पीछे काम करनेवाली उपरोक्त समस्त वास्तविकताओं को देखिए। रब की बन्दगी की कौन-सी भावना है जो उसके अन्दर लहरें नहीं ले रही है। विशेषतः 'जिहाद' की भावना, जो बन्दगी की उच्चतम स्थिति है। वह इस समस्त कर्मों में इस प्रकार व्याप्त है कि यह पूरा हज जिहाद का एक बहुत बड़ा लाक्षणिक अभ्यास नज़र आने लगता है— बैद्विक दृष्टि से भी और व्यावहारिक दृष्टि से भी। यही कारण है कि जब हज़रत आइशा (रज़ि.) ने अल्लाह के रसूल (सल्ल.) से पूछा कि – "हम जिहाद को सबसे उत्तम कर्म पाते हैं, इसलिए हम औरतें भी क्यों न यह अनिवार्य कर्तव्य (फ़रीज़ा) पूरा करें?" तो आप (सल्ल.) ने फ़रमाया –

"तुम औरतों का सबसे श्रेष्ठ जिहाद वह हज है जो कोतहियों (भूल-चूक) से पाक हो।"

हज के व्यापक हाने का कारण

इन बातों के अलावा यदि हज की रस्मों (कृत्यों) को एक और दृष्टिकोण से देखिए तो आभास होगा कि यह हज यद्यपि कहने को एक इबादत है, किन्तु वस्तुतः इसमें हर इबादत और प्रत्येक शुभ-कर्म का वैभव विद्यमान है। अतएव –

वह नमाज़ भी है, क्योंकि नमाज़ की हक़ीक़त अल्लाह का ज़िक्र है और आपने देखा कि हज ज़िक्रे इलाही (अल्लाह के स्मरण) से भरा हुआ है। वह ज़कात भी है: इसलिए कि हर हज करनेवाले को हुक़्म है कि वह कुरबनी का गोशत ग़रीबों को खिलाए – "और तंगहाल मुहताज को खिलाओ।" (कुरआन २२: २८)। इसके अलावा यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि केवल अल्लाह के लिए अपनी दौलत खर्च किए बिना हज किया ही नहीं जा सकता और ज़कात की वास्तविकता भी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि अल्लाह की ख़ातिर अपनी दौलत खर्च की जाए।

वह रोज़ा भी है इसलिए कि यौन सम्बन्ध रोज़े यदि केवल दिन में निषेध है, तो हज के दौरान रातों में भी निषेध रहता है। रहा खाने-पीने का मामला तो रोज़े की तरह यद्यपि हज में खाना-पीना मना नहीं है, किन्तु इसके उपरांत इसमें साज-सज्जा, व बनाव-श्रृंगार आदि की जो दूसरी बहुत-सी पाबन्दियाँ लगी होती हैं, वे बड़ी सीमा तक इस निषेधन का स्थानापन्न हो जाती हैं। मन की बुरी इच्छाओं को नियंत्रित करने का अभ्यास जिस प्रकार रोज़े में होता है उसी प्रकार हज में भी होता है।

वह 'तौहीद' (एकेश्वरवाद) का प्रशिक्षक भी है—क्योंकि 'काबा' के निर्माण का आधार ही तौहीद है। उसे देखते ही मोमिन के दिल में ईश्वर के एक होने (वहदानियत) की अतरात्मा जाग उठती है। इसके अलावा – "लब्बै-क अल्ला-हुम्-म लब्बै-क" की निरन्तर पुकार, काले पत्थर^१ (हज़रे अस्वद) का बोसा काबा का परिक्रमण (तवाफ़), सफ़ा-मरवा के बीच दौड़ना, (सई) और कुरबानी— मतलब यह कि हज में कि तने ही कर्म ऐसे हैं, जो 'तौहीद' की भावनाओं से मानव को परिपूर्ण करते जाते हैं।

वह परलोक (अख़िरत) का स्मारक भी है, क्योंकि 'जमरात' (सांकेतिक रूप से शैतान को पत्थर मारने की क्रिया) के सुतून अबरहा का अंजाम याद दिलाते हैं, जो बदला देने के विधान की एक खुली हुड़ गवाही है।

वह ईमान से सम्बन्धित गुणों का – अल्लाह से प्रेम का, धैर्य का, प्रभु- प्रसन्नता की प्राप्ति एवं उसके प्रति दीनता का, प्रभु से आशा और दुनिया के प्रति निस्पृह होने का, पारस्परिक सहानुभूति एवं इनसानी बराबरी का – ऐसा प्रशिक्षण देता है जो अपनी मिसाल आप है।

हज के सम्बन्ध में ज़रूरी स्पष्टीकरण सामने आ चुके हैं। इन्हें देखने के बाद कौन कह सकता है कि इस इबादत के प्रति असावधान व्यक्ति के अन्दर भी इस्लामी धार्मिक जीवन विद्यमान है। ईमानी चेतना से इस लापरवाही का निसन्देह कोई मेल नहीं हो सकता। इसलिए

सामर्थ्य रखने के उपरांत भी यदि कोई, मुसलमान अपने धर्म और ईमान के इस केन्द्र की ओर न खिंचा तो कोई सन्देह नहीं कि उसका इस्लाम (ससधर्म) पाया विहीन ही रहेगा। इसी प्रकार इस बात में भी कोई संदेह होना चाहिए कि जब किसी ने इस इबादत को अपने बस भर इस तरह अदा कर लिया जिस तरह कि उसे अदा किया जाना चाहिए, उसने अपने धर्म को एक और दृढ़तम बुनियाद पर क्रायम कर लिया।

१. हजरे असवद

इस्लाम के आधारस्म्भों पर एक विहंगमदृष्टि

ये हैं इस्लाम के आधारभूत कर्म और उनकी वस्तुस्थिति, उद्देश्य और तत्त्वदर्शिताएँ। इन पर जो व्यक्ति भी गहरी दृष्टि डालेगा स्पष्टतः महसूस करेगा कि ये कर्म केवल कुछ नेकियाँ और इबादतें नहीं हैं, बल्कि नेकी और इबादत के स्रोत भी हैं। इनमें से प्रत्येक – इनसान के अन्दर – बन्दगी का एहसास उभारने और उसे पूर्ण करने में बड़ा महत्पूर्ण भूमिका निभाता है, जो उसी के लिए विशिष्ट भी है। कोई दूसरा कर्म उसका स्थानापन्न नहीं बन सकता। ये सभी मिलकर मोमिन को एक ऐसी बुद्धि प्रदान करते हैं जो इस्लाम के बारे में पूरी तरह सन्तुष्ट होती है। एक ऐसा हृदय प्रदान करने हैं, जो अल्लाह के आदेशों पर बराबर कान लगाए रखता है। एक ऐसी अन्तरात्मा प्रदान करते हैं जो अल्लाह की प्रसन्नता की चाह से परिपूर्ण होती है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप वह अल्लाह की आज्ञानुपालन के लिए ऐसा तत्पर हो जाता है कि उसे अल्लाह का जो भी हुक्म मिले, उसके अनुपालन के लिए दौड़ पड़े। उसके दिल की ज़मीन जुतकर और खाद और पानी पाकर इस प्रकार तैयार हो जाती है कि 'दीनी' (धार्मिक) हिदायतों का जो बीज भी उसमें डाला जाए उसे तुरन्त क़बूल कर ले और उसे विकसित होने देने के लिए अपना अमल शुरू कर दे। इसी आधार पर जो इन्हें "इस्लाम के स्तम्भ" अर्थात् धर्म के शेष अवयवों के लिए भी जीवनाधार ठहराया गया है। निस्संदेह, यह एक बेहतरीन पर्याय था, जो इन कर्मों के लिए इस्लाम के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने अपनाया है।

जीवन-व्यवस्था

इस्लाम की आस्था सम्बन्धी और व्यावहारिक आधारभूत बातों को समझ लेने के बाद अब आइए इस धर्म के पूरे अस्तित्व को समझ लें। जिस प्रकार किसी पेड़ में पत्ते, फूल और फल उसके बीच की प्राकृतिक अपेक्षाओं के अनुसार ही निकलते हैं उसी प्रकार किसी धर्म की शिक्षाओं की स्थिति भी ठीक वैसी ही होती है, जैसी कि उसकी मौलिक अवधारणा चाहती है। दूसरे शब्दों में यह कि किसी धर्म की शिक्षाएँ वास्तव में उसकी मौलिक अवधारणा ही का प्रतिबिम्ब हुआ करती हैं। इसलिए यह जानने के लिए कि इस्लामी शिक्षाओं की पूरी रूप-रेखा क्या है, पहले यह जान लेना चाहिए कि इस्लाम की धार्मिक अवधारणा क्या है ?

धर्म की विभिन्न धारणाएँ

संसार में इस समय सामान्य रूप से तीन धारणाएँ पाई जाती हैं:-

(१) एक तो यह कि यह संसार मनुष्य के लिए वास्तव में एक कैदखाना है। उसका शरीर उसकी आत्मा के लिए एक पिंजड़े की हैसियत रखता है और उसके अन्दर जो भौतिक इच्छाएँ पाई जाती हैं, वे इस पिंजड़े की तीलियाँ हैं। मानव मुक्ति उसी समय पा सकता है, जब वह इस कैदखाने की दीवारों को स्वयं अपने हाथों से तोड़ डाले और इस पिंजड़े से अपनी आत्मा को आजाद करा ले, अर्थात् वह संसार का परित्याग कर दे। बस्तियों से दूर निकल जाए और किसी एकांतवास में अपने पालनहार खुदा से लौ लगाकर बैठ जाए। अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को दबा-दबाकर कुचल डाले और पूरी तरह विनष्ट कर दे। केवल इसी स्थिति में उसकी आत्मा के ऊपर से वह परदा हट सकता है जो उसे खुदा के जल्वों को देख पाने और उसकी चौखट तक पहुँच प्राप्त कर लेने से रोके हुए है। इसलिए इनसान के लिए ज़रूरी है कि तपस्या करके माया के इस जाल से बाहर निकल आए।

धर्म और ईशपरायणता (खुदा परस्ती) का यही दृष्टिकोण है जिसे “संन्यास” या “योग” कहा जाता है।

(२) दूसरी धारणा यह है कि इनसान को संसार से मुँह मोड़ लेने और अपने मन की इच्छा को मार डालने की ज़रूरत नहीं, बल्कि संसार का बर्ताव और अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को उचित सीमाओं के अन्दर पूरा करते हुए खुदा की इबादत करनी चाहिए। रहे सांसारिक मामले और समस्याएँ, तो केवल वैयक्तिक जीवन की सीमा तक धर्म उसे निश्चित हिदायतें देता है जिनकी उसे पूरी-पूरी पाबन्दी करनी चाहिए। शेष जीवन में वह स्वतंत्र है। क्योंकि पूजा-पाठ व इबादत व्यक्ति का काम है समाज व गिरोह का नहीं। इसलिए धर्म भी मानव और ईश्वर के बीच का एक निजी मामला है, जो जीवन के आम सामाजिक मामलों और समस्याओं में कोई रोक-टोक नहीं करता और न उसे कोई रोक-टोक करना चाहिए। इन समस्याओं में इनसान को अधिकार है कि वह जो मार्ग चाहे अपनाए और जीवन की जो प्रणाली चाहे अपनाए। ईश्वर और धर्म को इससे कोई बहस नहीं।

(३) तीसरी धारणा यह है कि संसार का परित्याग और इच्छाओं को मार डालना भी ग़लत और बन्दगी (ईशोपासना) को केवल व्यक्ति का काम और धर्म को इनसान के केवल निजी जीवन का मामला समझना भी ग़लत। सही बात यह है कि मानव का उपासनागृह हो या उसका घर, उसके खेत हों या उसके बाज़ार उसकी आर्थिक संस्थाएँ हों या उसका राजनैतिक श्रेत्र – ये सब-के-सब स्थान अपने धार्मिक कर्तव्यों और बन्दगी के उत्तरदायित्वों को निभाने के स्थान हैं। इनमें से किसी एक जगह से भी मनुष्य न तो भाग सकता है, न उसमें अपनी मनमानी कर सकता है। इसी प्रकार उसे जितनी शक्तियाँ दी गई हैं, वे सब उसी बन्दगी के काम को पूरा करने के लिए ही दी गई हैं। इसलिए इनमें से कोई शक्ति न कुचल डालने की है, न आजाद छोड़ देने की। यथार्थ धर्मपरायणता और खुदा परस्ती यह है कि इनसान अपना पूरा जीवन व्यक्तिगत से लेकर सामाजिक तक ईश्वर (अल्लाह) के आदेशों के अधीन गुजारे। वह उपासना गृह में अगर जगत्-पालनहार अल्लाह तआला की परस्तिश करता है, तो उससे बाहर भी वही कुछ करे, जिसे करने का उसने हुक्म दिया है और इस प्रकार उसके सांसारिक जीवन की प्रणाली पूरी की पूरी वही हो जो उसके मालिक को पसन्द है।

इस्लाम में संन्यास नहीं

इन तीनों धारणाओं में से जहाँ तक पहली धारणा का सम्बन्ध है, इस्लाम यक़ीनी तौर पर इस प्रकार का कोई धर्म नहीं। उसकी एक-एक बात से इस धारणा का खण्डन होता है और इस खण्डन में उसकी वह आस्था सम्बन्धी और व्यावहारिक आधारशिलाएँ सबसे आगे हैं जिनसे हम अभी परिचय प्राप्त कर चुके हैं। अतः उनसे स्पष्ट हो चुका है कि—

(अ) इस्लाम में अल्लाह की अवधारणा केवल प्रभु-प्रीतम और वास्तविक उद्दिष्ट की धारणा नहीं है, बल्कि यह भी है कि वह मानव का वास्तविक शासक और वास्तविक संविधान निर्माता भी है। स्पष्ट है कि संसार-त्याग, इन्द्रिय-दमन और ज्ञान-ध्यान के द्वारा खुदा तक पहुँचे जाने का दृष्टिकोण उसी वक्रतः सही हो सकता है, जब वह इनसान का केवल अभीष्ट और लक्ष्य बिन्दु हो और इसके सिवा और कुछ न हो। लेकिन जब वास्तविकता इस प्रकार की नहीं है, बल्कि यह है कि वह उसका आदेशदाता-शासक और क़ानून बनानेवाला

भी है, तो इसका अर्थ यह है कि उसके लिए उसके कुछ आदेश और क़ानून भी होंगे, जिन का उसे पालन करना चाहिए। इसलिए इनसान का काम केवल यह नहीं है कि वह केवल अल्लाह के स्मरण एवं ध्यान में व्यस्त रहे, बल्कि यह भी है कि वह जीवन के मैदान में आए और उन आदेशों का पालन करके आज्ञाकारी प्रजा होने का प्रमाण दे।

(ब) इस्लाम की रचना जिन पाँच “स्तम्भों” पर हुई है उनमें से प्रायः की – नमाज़, ज़कात और हज की – ठीक-ठीक अदायगी के लिए किसी-न-किसी प्रकार की सामूहिकता हर स्थिति में ज़रूरी है। एकाकीन में सामूहिकता का कोई अस्तित्व नहीं हुआ करता। इसलिए उसके अन्दर सिमटे रहने से इन मूलभूत इबादतों की सही अदायगी भी नहीं हो सकती। विचार कीजिए जिस एकांतवास में इस्लाम की बुनियादें भी ठीक रूप से न उठाई जा सकती हों, उसमें पूरे इस्लाम का निर्माण किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

(स) इस्लाम के ये स्तम्भ मूलोपासना होने के बावजूद धर्म की बहुतसी सामूहिक मर्यादाओं और सामाजिक हितों को भी अपने अन्दर समेटे हुए हैं। इस आधार पर इन्हें अलग-अलग अदा कर लेने के बजाए सामूहिक रूप में अदा करने की ताकीद की गई है। इससे एक तरफ़ तो यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम की इन व्यावहारिक आधारशिलाओं से धर्म और खुदापरस्ती (ईशपरायणता) की जिस प्रकृति का प्रदर्शन होता है वह एकांतवास और इन्द्रिय-दमन के तरीके से किसी प्रकार सामंजस्य नहीं रख सकता। दूसरी ओर यह कि अगर जीवन के सामूहिक वातावरण से हटकर स्वयं नमाज़-रोज़े अदा कर भी लिए गए तो इससे वे सब अभीष्ट उद्देश्य और लाभ कभी भी प्राप्त नहीं हो सकेंगे जिन्हें इन इबादतों के द्वारा ईश्वरीय धर्म विधान (शरीअत) प्राप्त करना चाहता है। ऐसी दशा में इन विशिष्ट और मौलिक उपासनाओं (इबादतों) की सीमा तक भी उस खुदापरस्ती का हक़ किसी तरह अदा नहीं हो सकता, जिसे इस्लाम खुदापरस्ती (ईशोपासना) कहता है।

(द) इन पाँच चीज़ों को “इस्लाम का स्तम्भ” कहा गया है, न कि सम्पूर्ण इस्लाम – इसका अर्थ स्पष्टतः यह हुआ कि इस्लाम केवल इन्हीं पाँच चीज़ों का नाम नहीं है, बल्कि इनके अलावा भी बहुत कुछ है। क्योंकि स्तम्भों का असाधारण महत्व और उनका उच्च स्थान अपनी जगह पर है। मगर कोई इमारत केवल स्तम्भों या दीवारों का नाम नहीं हुआ करती और न आज तक स्तम्भों की किसी संख्या को “इमारत” समझा गया है। किसी निर्मित वस्तु को “इमारत” समझने और कहने का अवसर तो उसी समय आता है, जब दीवारों पर छत डाली जा चुकी हो, अर्थात् दीवार और छत दोनों मिलकर इमारत कहलाती हैं। इसलिए ज़रूरी है कि इस्लाम की भी कोई छत हो जिसके लिए ये पाँचों चीज़ें “स्तम्भ” बन सकें और फिर ये सब मिलकर इस्लाम की “इमारत” की शकल अपना सकें। स्पष्ट है कि इस्लाम की यह “छत” उसकी वही शिक्षाएँ होंगी जो इन पाँचों चीज़ों के अलावा हैं। हर व्यक्ति जानता है कि इन शिक्षाओं में से अनगिनत ऐसी भी हैं जिनका सम्बन्ध संसार के व्यस्त जीवन से है और तनहाई (एकाकीपन) के सुनसान गोशों में उनको व्यवहार में ला सकना ऐसा ही असम्भव है जैसे सूखे में तैरना। इसलिए यदि यह मान भी लिया जाए कि इस्लाम के मौलिक कार्य एकांत निर्जन स्थानों में भी ठीक-ठीक पूरे किए जा सकते हैं, तब भी यह करना इस्लाम की पैरवी का हक़ अदा हो जाने के समानार्थक किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि केवल इन चार-पाँच चीज़ों का हक़ अदा हो जाना और बात है तथा पूरे इस्लाम का हक़ अदा हो जाना बिल्कुल दूसरी बात है। केवल इन्हीं आदेशों का अनुपालन पूरे इस्लाम का आज्ञानुपालन उसी समय हो सकता था, जब इस्लाम इन पाँच चीज़ों के अतिरिक्त और कुछ न होता। किन्तु ज्ञात हो चुका कि ऐसी धारणा रखने की कोई गुंजाइश मौजूद नहीं।

ये समस्त तथ्य जो इस्लाम की धारणात्मक और व्यावहारिक बुनियादों के अन्दर ही विद्यमान हैं – साफ़ साफ़ एतान करते हैं कि इस्लाम का संन्यास से कोई सम्बन्ध नहीं।

इस बात की पुष्टि में कुरआन व हदीस की कुछ गवाहियाँ भी सुन लीजिए। नबी करीम (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

ला रह्बा निय्य-त फ़िल् इस्लामि

अर्थात् “इस्लाम में कोई संन्यास नहीं”

– नैलुल औतार, भाग-६, अध्याय “निकाह”

हज़रत उसमान (रज़ि.) बिन मज़ऊन ने जब निष्पौरुष (ख़स्सी) हो जाने की अनुमति माँगी तो नबी (सल्ल.) ने इनकार करते हुए फ़रमाया –

इनल्ला-ह अब्द-ल-न बिरह-बानीय्य-तिल् हनीफ़िय्य-तस्सम्-ह-त

अर्थात् “हमें अल्लाह तआला ने संन्यास के बजाए सरल और विशुद्ध इबराहीम वाला धर्म प्रदान किया है।”

– नैलुल औतार, भाग-३

इसी प्रकार अल्लाह तआला ने ईसाइयों पर जिन्होंने संन्यास को धर्म और ईशपरायणता (खुदापरस्ती) की पराकाष्ठा समझ कर अपना रखा था, आलोचना करते हुए फ़रमाते हैं –

व रह्-बा निय्य-त निब्त-द ऊ-हा मा क-त-ब-ना-हा अलैहिम्

“और संन्यास जिसे उन्होंने स्वयं गढ़ लिया है, हमने उन्हें इसका आदेश नहीं दिया था।”

(कुरआन, ५७:२७)

मालूम हुआ कि न केवल इस्लाम में, बल्कि ईश्वर की ओर से आई हुई किसी शरीरत में भी संन्यास की शिक्षा नहीं दी गई थी। जिन्होंने भी खुदापरस्ती (ईश्वर-भक्ति) के लिए यह ढंग अपनाया, पूरी तरह अपने जी से गढ़ कर अपनाया। दूसरे शब्दों में यह कि अल्लाह के धर्म का स्वभाव कभी भी संन्यास के दर्शन के मतैक्य समरूप नहीं रहा।

जिस प्रकार इस्लाम धर्म का स्वभाव संन्यास को सहन नहीं करता और जिस प्रकार इसकी मौलिक धारणाओं और संस्कारों से उसका विरोध टपका पड़ता है, जैसाकि चाहिए; ठीक यही दशा उसकी विस्तृत शिक्षाओं की भी है। अतः नबी (सल्ल.) ने हर उस कार्यशैली और आचरण को निषेधित कर दिया है जो संन्यास की कार्य शैली और आचरण से समरूपता रखता था या उसकी ओर ले जानेवाली बन सकता था। उदाहरणतः— निकाह से बचना, निष्पौरुष (खस्सी) होना, सदैव निरन्तर रोजे रखना, रोजे के दौरान रात को भी कुछ न खाना-पीना वाक्शक्ति को आस्थगित कर देना, इस प्रकार का रात्रि-जागरण करना जिनसे शरीर ज़रूरी आराम से और परिवारजन अपने हक़ों से वंचित हो जाएँ आदि।

इस्लाम केवल वैयक्तिक जीवन तक सीमित नहीं

धर्म के सम्बन्ध में यह अवधारणा कि धर्म ईश्वर और व्यक्ति का निजी मामला है, से भी इस्लाम का कोई जोड़ नहीं। अर्थात् वह इस प्रकार का भी धर्म नहीं है कि बन्दे और खुदा के बीच का बस एक निजी मामला हो। यदि ऐसा होता तो उसकी शिक्षाएँ अनिवार्यतः वैयक्तिक जीवन की समस्याओं तक ही सीमित होतीं। वह केवल मसजिद की बातें करता, नमाज़-रोज़े का आदेश देता कुछ नैतिक शिक्षाओं की तलक्रीन कर देता, कुछ सामाजिक हिदायतें दे देता, और फिर चुप्पी साध लेता। किन्तु कुरआन और हदीस का एक-एक पृष्ठ गवाही देता है कि वस्तुस्थिति यह नहीं है। इस्लाम के निर्देशों की मसनद इबाहतगाहों और जीवन के सीमित क्षेत्रों ही में बिछी हुई दिखाई नहीं देती, बल्कि वह बाज़ारों, व्यापारिह संस्थाओं, आर्थिक क्षेत्रों, संस्कृति व समाज के दायरों, राजनीति व हुकूमत के भवनों — मतलब यह कि जीवन के हर क्षेत्र में हिदायतें व मार्गदर्शन देता है। वह कुछ बातों से रोकता और कुछ बातों का हुकम देता नज़र आता है। इनमें से कोई चीज़ भी ऐसी नहीं जिसको वह “धर्म से अधिक” कहता हो। उदाहरणतः कुरआन आदेश देता है कि व्यभिचारी को सौ कोड़े मारो ! उसका यह आदेश स्पष्टतः एक ऐसा आदेश है जिसका सम्बन्ध पुलिस और न्यायालय और शासन से है और इसलिए वह निस्सन्देह समष्टीय जीवन का प्रकरण है। इस आदेश की हैसियत और उसके लागू करने के बारे में कहता है कि “अल्लाह के धर्म के मामलों में उन व्यभिचारियों के लिए दया की भावना तुम्हारा दामन न पकड़ने पाए।” (कुरआन २४:२) इस निर्देश के शब्दों से साफ़ ज्ञात होता है कि कुरआन के निकट कोड़े मारने का यह हुकम “अल्लाह के धर्म” का एक हिस्सा है, न कि उससे बाहर या अधिक कोई चीज़। इसी प्रकार वह कहता है कि — “साल के चार महीने आदरवाले हैं।” (कुरआन, ९:३६) इनमें जंग करना वैध नहीं। यह निर्देश स्पष्टतः सामरिक क़ानून से सम्बन्ध रखता है और प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि जंग सामुदायिक जीवन के बिलकुल अंतिम विचारणीय विषयों में से है। लेकिन कुरआन उसे भी “ऋजु-धर्म” बताता है। — “यही ऋजु-धर्म है।” (कुरआन, ९:३६) अर्थात् यह निर्देश कि इनचार महीनों का सम्मान यथा स्थिति किया जाए और उनमें जंग छेड़कर उनका निरादर न किया जाए — “धर्म” ही का एक घटक है, उससे अलग कोई चीज़ नहीं।

यही नहीं कि कुरआन सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले केवल अपने ही क़ानून को धर्म कहता है, बल्कि किसी भी मज़हब और सोसायटी के क़ानून को उसका “धर्म” कहता है। अतएव, हज़रत यूसुफ़ (अलै.) के उल्लेख में वह एक जगह कहता है—

“उसके लिए इस बात की गुजाइश न थी कि वह अपने भाई को मिस्र के बादशाह के धर्म के तहत रोक लेता।” (कुरआन, १२:७६)

स्पष्ट है कि यहाँ जिस चीज़ को “मिस्र के बादशाह का धर्म” कहा गया है। इससे अभिप्रेत उसका राष्ट्र-विधान और फ़ौजदारी का क़ानून है।

ये कुछ उदाहरण इस वास्तविकता को खोल देने के लिए बिलकुल पर्याप्त हैं कि अल्लाह का हर फ़रमान और उसके रसूल (सल्ल.) का हर कथन इस्लाम का हिस्सा और धर्म का अंग व घटक है और उनके किसी भी आदेश को धर्म से अतिरेक नहीं सोचा जा सकता।

इस दृष्टि से भी सोचिए तो इस प्रकार के विचारों में कोई बौद्धिकता न मिल सकेगी। “इस्लाम” का अभिप्राय यदि अल्लाह तआला का बिना शर्त आज्ञानुपालन करना है तो उसके किसी भी आदेश को आज्ञानुपालन की परिधि से किस प्रकार बाहर रखा जा सकता है ? और यह कैसे सम्भव है कि उसके कुछ आदेशों को उसके भेजे हुए हिदायतनामे (मार्गदर्शन) और अवतरित किए हुए धर्म का अंश न माना जाए और उनकी आज्ञानुपालन इस्लाम के मुतालबे में सम्मिलित न हो ?

अब ये दोनों वास्तविकताएँ आपके समक्ष हैं। — कि किताब व सुन्नत (अर्थात् कुरआन और हदीस) में मानव-जीवन के आध्यात्मिक व भौतिक, वैयक्तिक और सामुदायिक सारे ही विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित आदेश दिए गए हैं। और यह भी कि इनमें का हर हुकम धर्म का अंश और इस्लाम में दाखिल है। इन सच्चाइयों की मौजूदगी में ऐसा कह सकने की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि इस्लाम का क्षेत्र

इनसान के केवल वैयक्तिक जीवन तक सीमित है ? और यह भी एक वैसा ही धर्म है जैसा कि दुनिया में अन्य धर्म पाए जाते हैं और जिनका संसार के सामूहिक एवं मानव जीवन की व्यापक समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं होता ?

इस्लाम एक परिपूर्ण व्यवस्था

अगर यह मान लिया जाए कि इस वक़्त रात नहीं है, तो इस अर्थ यह होगा कि इस वक़्त अनिवार्यतः दिन ही है। इसलिए जब यह बात स्पष्ट हो गई कि इस्लाम न तो संन्यास (रहबानियत) को सही समझता है और न उसका क्षेत्र वैयक्तिक जीवन की समस्याओं तक सीमित है, तो उसका स्वरूप आप-से-आप निश्चित हो गया वह यह कि मानवता से सम्बन्धित कोई ऐसी समस्या एवं विषय नहीं जो उसके क्षेत्र से बाहर हो। वह एक ऐसा धर्म है जो हर जगह व्यक्ति के साथ होता है। व्यक्ति जो भी क्रदम उठाना चाहता है वह इस्लाम को मार्गदर्शन हेतु अपने सामने मौजूद पाता है। संक्षिप्त में यह कि वह एक ऐसी परिपूर्ण व्यवस्था है जो मानवीय जीवन के आस्था सम्बन्धी, चिंतन सम्बन्धी, नैतिकता और व्यवहार सम्बन्धी समस्त पहलुओं को पूरी तरह घेरे हुए है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वायुमण्डल इस भूमि को चारों ओर से अपने अंक में लिए हुए है। नीचे इस व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंशों की एक संक्षिप्त रूप रेखा पेश की जाती है, ताकि एक तरफ़ तो इस दावे का विस्तृत प्रमाण भी सामने आ जाए और दूसरी ओर यह भी मालूम हो जाए कि यह व्यवस्था क्या है ? किन्तु इससे पूर्व कि इस्लामी व्यवस्था के विविध अंशों का परिचय कराया जाए, निम्न दो-तीन सैद्धांतिक बातों को अच्छी तरह ज़ेहन में बिठा लेना चाहिए।

(१) प्रथम यह कि इनमें का हर अंश एक ही केन्द्र से सम्बद्ध है, एक ही सारतत्त्व है जो इन सबके अन्दर दौड़ रहा है। यह “केन्द्र” और यह “सारतत्त्व” वही ईमान और धारणाएँ हैं, जिन पर किताब के दूरे अध्याय में वार्ता की जा चुकी है और उनमें से भी विशिष्टता के साथ यह धारणा कि अल्लाह तआला हमार अकेला पूज्य-प्रभु, असल शासक और वास्तविक विधि-प्रदाता है। वास्तव में यही आधारभूत धारण वह मूल है जिससे बिलकुल स्वाभाविक शैली में इस्लाम की इस पूरी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ है। इसलिए इस व्यवस्था के जिस भाग का भी मूल्य और महत्व आप समझना चाहें केवल इसके बाह्य ढाँचे ही को न देखें। बल्कि ज़रूरी है कि उसे जड़ समेत देखें।

दूसरी बात यह कि इस व्यवस्था की कार्यकुशलता एक ऐसे समाज के अस्तित्व पर निर्भर है जो “मुस्लिम” हो। जिसे अल्लाह और उसके गुणों पर गहरा यक़ीन हो, जो आखिरत (परलोक) पर सच्चा ईमान रखता हो और जो अल्लाह के रसूल हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) को दिल से अल्लाह का नबी और आखिरी नबी स्वीकार करता हो। संक्षेप में यह कि जो सही अर्थों में इस्लाम का आज्ञानुपालक हो। इसलिए इस व्यवस्था के मूल्य और महत्व का अनुमान लगाने

के लिए ज़रूरी है कि उसे एक ऐसे ही समाज के साथ सम्बद्ध करके देखा जाए अन्यथा जिस प्रकार एक अच्छे शक्तिशाली बहादुर की कल्पना के बिना किसी अच्छी-से-अच्छी तलवार की काट का अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता, उसी प्रकार एक अच्छे मुस्लिम समाज की अवधारणा के बिना इस्लामी व्यवस्था के भी व्यावहारिक मूल्य और महत्व का सही अनुमान नहीं किया जा सकता।

(२) तीसरी बात यह है कि इस व्यवस्था के विभिन्न हिस्से आपस में सुदृढ़ रूप से जुड़े हुए हैं, जिस प्रकार कि एक मशीन के विविध पुरजे परस्पर जुड़े होते हैं। इसलिए दृष्टिकोणीय रूप से समझने के लिए तो उन्हें अलग-अलग खानों में ज़रूर निभाजित किया जाता है, मगर व्यावहारिक रूप में उनका पृथक-पृथक अस्तित्व लगभग असम्भव है। अपनी कार्य-क्षमता की दृष्टि से ये समस्त घटक वास्तव में एक एकत्व हैं। इनमें का कोई भी घटक अपना व्यावहारिक गुण उसी वक़्त दिखा सकता है जब यह पूरी व्यवस्था पूर्णरूपेण क्रियाशील हो। इसी प्रकार उसके किसी भी घटक को ठीक-ठीक समझा भी उसी वक़्त जा सकता है, जबकि दूसरे सभी घटक नज़र के सामने हों।

इन मौलिक बातों को ज़ेहन में बिठा लेने के बाद अब आइए इस पूरी व्यवस्था का अध्ययन करें।

१. आध्यात्मिक व्यवस्था

इस्लामी व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण और केंद्रीय अंश उसका वह हिस्सा है जिसका सीधा सम्बन्ध इनसान की अन्तरात्मा से है और जिसे प्रचलन की दृष्टि से इस्लाम की आध्यात्मिक व्यवस्था कह सकते हैं। इस व्यवस्था का लक्ष्य यह है कि इनसानी आत्मा, इच्छाओं की दासाता से आज्ञाद और संसारवद के प्रदूषणों से पाक हो जाए और आज्ञाद व पाक होकर अल्लाह की पैरवी, उसकी मुहब्बत और उसकी प्रसन्नता की चाहत की भावनाओं से भर जाए। इस पवित्रता और खुदा के चाहने का अपेक्षित मापदण्ड यह है कि इनसान वही कुछ पसन्द करने लगे जो उसके अल्लाह को पसन्द है और हर उस उस चीज़ को घृणा की दृष्टि से देखने लगे, जो उसके अल्लाह को अप्रिय है। अपने वास्तविक स्वामी के आदेशों पर इस प्रकार अमल करने लगे, मानो वह उसे अपने सिर की आँखों से देख रहा है। उसकी नाराज़ी से इस प्रकार डरता रहे, मानो उसके तेजस्वी सिंहासन के सामने खड़ा है। उसकी रिज़ा (प्रसन्नता) के लिए इस प्रकार लपकता रहे, जैसे प्यासा ठण्डे पानी की ओर लपकता है और इशारों पर अपनी जान व माल कुरबान कर देने के लिए इस तरह तैयार रहे, जैसे कि उन चीज़ों की उसकी निगाह में कोई क्रीमत ही नहीं। आध्यात्म के इस सबसे उँचे मेयारी मक़ाम का नाम इस्लाम की भाषा में “एहसान” है।

अन्तरात्मा में पवित्रता और खुदा के चाहने की यह कैफ़ियत पैदा करने के लिए इस्लाम ने जो मौलिक और सहज उपाय निश्चित किए हैं वे वहीं हैं जिनको “इस्लाम का आधारस्तम्भ” कहा जाता है। इनका उल्लेख “आधारभूत कर्म” के शीर्षक के अन्तर्गत ऊपर सविस्तार किया जा चुका है। नमाज़ और ज़कात, रोज़ा और हज मानवीय अन्तरात्मा में यह कैफ़ियत किस तरह उत्पन्न करते हैं ? यह पूरी वार्ता आपके सामने होगी, इस लिए यहाँ इस व्याख्या की कोई ज़रूरत नहीं।

२. नैतिक व्यवस्था

किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा की पवित्रता या अपवित्रता की अति सामान्य और सबसे व्यक्त कसौटी उसके शिष्टाचार और नीतिगत आचरण होते हैं। अन्तरात्मा जिस प्रकार की होती है नीतिगत आचरण भी वैसे ही प्रकट रूप में आते हैं। यही कारण है कि आम तौर से इनसान के नीतिगत आचरण ही उसके गुणों व दोषों को प्रकट कर देनेवाला समझे जाते हैं। इसलिए स्वाभाविक क्रमबद्धता के आधार पर आध्यात्मिक व्यवस्था के बाद नैतिक-व्यवस्था ही का नम्बर आना चाहिए। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, उसका फ़ैसला भी यही मालूम होता है, क्योंकि उसने अच्छे शिष्टाचार और नीतिगत आचरण को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है और इतना महत्व कि एक पहलू से मानो वही धर्म का सार है। अल्लाह के नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

“मैं इसलिए भेजा गया हूँ ताकि नीतिगत सुआचरण की परिपूर्णता कर दूँ।”

(हदीस : मुवत्ता)

“भलाई अच्छे शिष्टाचार एवं व्यवहार का नाम है।”

(हदीस : मुस्लिम)

यह है शिष्टाचार और अच्छे आचरण का वह असाधारण महत्व जिसके आधार पर उसके बारे में इस्लाम ने बड़े विस्तार और बड़ी चेतावनी से काम लिया है इन कारणों से इस्लामी व्यवस्था के दूसरे अंशों से पहले इसी अंश का, अध्ययन किया जाना उचित होगा। –

इस क्रम में सबसे पहले इस्लामी नैतिकता एवं शिष्टाचार की हैसियत जान लेनी चाहिए। अर्थात् यह कि क्या इस्लाम में अच्छे शिष्टाचार (अख़्लाक) और बुरे शिष्टाचार निश्चित और तयशुदा हैं ? और अगर निश्चित और तयशुदा हैं तो क्या हमेशा के लिए निश्चित हैं या समय की स्थिति के अनुसार उनमें कोई परिवर्तन भी हो सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि अच्छे बुरे शिष्टाचार का निर्णय करनेवाली, इस्लाम में एक निश्चित प्रभुसत्ता है और वह है अल्लाह और रसूल का अधिकार (अर्हीहीज़्ज़ी) अच्छी नैतिकता एवं शिष्टाचार वही हो सकता है, जिसे अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने अच्छी नैतिकता एवं शिष्टाचार निश्चित किया हो। इसी प्रकार बुरी नैतिकता एवं बुरा शिष्टाचार केवल वह चीज़ होती है, जिसे अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने बुरी नैतिकता व बुरा आचरण कहा हो। इसलिए इस्लाम में अच्छे और बुरे आचरण एवं शिष्टाचार का मामला एक निश्चित किया जा चुका मामला है। जो न किसी मानवीय बुद्धि के निर्णय का मुहताज है, न किसी अनुभव का प्रतीक्षक है। वैसे तो जहाँ तक सामान्य अवलोकन का सम्बन्ध है, दृष्टिगोचर यही होगा कि आम शिष्टाचार हमेशा से और प्रत्येक समाज में प्रचलित रहे हैं और वे मात्र इस्लाम ही की कोई विशिष्ट वस्तु नहीं हैं। मगर इसके उपरांत इस्लामी चरित्र और सामान्य रूप से प्रचलित शिष्टाचार दोनों को एक ही समझ लेना बड़ी भारी भूल होगी। क्योंकि इस्लाम ने किसी कार्य-शैली को अच्छा शिष्टाचार या बुरा शिष्टाचार इसलिए नहीं कहा है कि लोग उसे ऐसे ही कहते और समझते चले आए हैं या बुद्धि और अनुभव से उसकी यही हैसियत निर्धारित होती है। बल्कि खुद अपने सिद्धांतों के आधार पर कहा है। अतः जहाँ अनगिनत इस्लामी शिष्टाचार ठीक वही हैं जो सामान्य रूप से प्रचलित हैं, वहीं बहुत-सी चीज़ें उसके यहाँ ऐसी भी मिलेंगी जो उसके नज़दीक तो भलाई और सुशीलता हैं, किन्तु दूसरे उन्हें ऐसे नहीं मानते। इसी प्रकार कुछ बातों ऐसी भी हैं जिनको वह बुराई और दुष्टता कहता है, लेकिन कितने ही लोग उसे भलाई का दर्जा देते हैं। यह इस बात का जीवन्त प्रमाण है कि शिष्टाचार के बारे में इस्लाम का अपनी एक विशिष्ट आदर्श है और अपना एक स्थाई व्यवस्था भी। चूँकि वस्तुस्थिति यह है कि इस्लामी शिष्टाचार एवं नीतियाँ एक स्थाई आधार रखती हैं और जो इस्लाम के मौलिक सिद्धांतों का प्रत्यक्ष फल हैं, इसीलिए स्वभावतः स्थाई और अपरिवर्तनीय भी हैं। समय की परिस्थिति की कोई अपेक्षा ऐसी नहीं हो सकती, जिसके लिए उनका एक अंश भी अपनी जगह से हटाया जा सकता हो। सच्चाई और ईमानदारी हर स्थिति में सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुण रहेंगे। न्याय उस वक़्त भी ज़रूरी होगा, जबकि अपना नुक़सान हो रहा हो, वचन-भंग किसी दुश्मन से भी उचित नहीं। मतलब यह कि ये शिष्टाचार हर स्थिति में अपनी जगह अटल रहनेवाले हैं और इस्लामी नैतिक मर्यादाएँ किसी स्थिति में भी परिवर्तित होनेवाली चीज़ें नहीं हैं।

यह है इस्लामी शिष्टाचार का सामाजिक मूल्य। इसे ज़ेहन में रखकर अब उनके समीक्षण की तरफ़ आइए और यह देखिए कि वे हैं क्या ? पहले उन शिष्टाचार को लीजिए जिनका सम्बन्ध मानव के सामान्य जीवन से है और जो आधारभूत स्थिति की हैं। अल्लाह तआला फ़रमाता है—

“लोगों के साथ भलाई कर, जिस प्रकार कि अल्लाह ने तेरे साथ भलाई की है।”

(कुरआन, २८:७७)

“(उन संयमी लोगों के लिए) जो क्रोध को पी जाते हैं और लोगों, को माफ़ कर देते हैं।”

(कुरआन,

३:९३४)

“निस्सन्देह, अल्लाह किसी दगाबाज कृतघ्न को पसन्द नहीं करता।”

(कुरआन, २२:३८)

“और फ़ज़ूल ख़र्ची न करो!” (कुरआन, १७:२६)

“लोगों से (बातें करते समय) अपने गालों को (घंमड से) टेढ़ा न रख, न ज़मीन पर इतराकर चल। कोई सन्देह नहीं कि अल्लाह किसी घमण्डी और शेखीबाज को बिलकुल पसन्द नहीं करता।”

(कुरआन, ३१:१८)

“तबाही है हर ताना देनेवो और ऐब लगाने वाले के लिए।”

(कुरआन, १०४:१)

नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं:-

“निस्सन्देह सच्चाई भलाई की ओर और भलाई जन्नत की ओर ले जाती है ----- और झूठ बुराई की ओर बुराई जहन्नम का मार्ग दिखाती है।” (हदीस : मुस्लिम)

“थोड़ा-सा दिखावा भी शिर्क है।” (हदीस : इब्न माजा)

“ज़ुल्म करने से बचो ! क्योंकि ज़ुल्म क्रियामत के दिन अँधियारों की शक्ल में प्रकट होगा।” (हदीस: मुस्लिम)

“चार गुण जिस किसी के अन्दर होंगे, वह पक्का मुनाफ़िक़ (कपटाचारी) होगा। और जिसके अन्दर उनमें से कोई एक होगा उसके अन्दर कपट का एक गुण होगा, यहाँ तक कि वह उसे छोड़ दे। (वे चार गुण ये हैं—)

(१) जब कोई धरोहर (अमानत) उसके पास रखी जाए तो वह ख़ियानत (बेईमानी) कर जाए, (२) बात करे तो झूठ बोले, (३) वादा करे तो पूरा न करे, (४) झगड़ा करे तो गालियों पर उतर आए।”

(हदीस: बुखारी शरीफ़ भाग-१, अध्याय : मुनाफ़िक़ के लक्षण)

“नर्मी अपनाओ, सख़्ती और अपशब्द बोलने से दूर रहो।”

(हदीस : बुखारी शरीफ़, भाग-२)

“चुगली खानेवाला जन्नत से वंजित रहेगा।”

— (हदीस : बुखारी शरीफ़, भाग-२)

“अल्लाह उस व्यक्ति पर दया न करेगा, जो दूसरे लोगों पर दया नहीं करता।” (हदीस: तिर्मिज़ी, भाग-२)

“दगाबाज और कंजूस और एहसान जतानेवाले जन्नत में न जाएँगे।” (हदीस: तिर्मिज़ी, भाग-२)

इस्लाम की इन सामान्य और आधारभूत नैतिक एवं शिष्टाचार सम्बन्धी शिक्षाओं के बाद उन नीतियों और शिष्टाचार की ओर आइए जिनकी नसीहत उसने जीवन के विशिष्ट क्षेत्रों को दृष्टि में रखकर की है —

— मान-जीवन का सबसे पहला क्षेत्र उसका गृहस्थ जीवन है, जहाँ वह अपनी बीवी और अपने बच्चों से हर वक़्त साथ रहता है। हर व्यक्ति को अपने परिवारजन के साथ नैसर्गिक रूप से बड़ी गहरी मुहब्बत होती है और इसलिए वह आम तौर से उनके साथ त्याग और बलिदान का व्यवहार भी अनिवार्य रूप से अपनाता है। इस्लाम कहता है कि यह व्यवहार मात्र एक नैसर्गिक माँग ही नहीं है, बल्कि एक धार्मिक अनिवार्य कर्तव्य भी है। अल्लाह का आदेश है—

“अपनी औरतों के साथ भले तरीक़े से रहो-सहो।”

(कुरआन, ४:१९)

हुज़ूर (सल्ल.) का इरशाद है—

“तुम में से अच्छे लोग वे हैं, जो अपनी औरतों के प्रति अच्छे हों।”

(हदीस: तिर्मिज़ी)

“औरतों के विषय में अच्छे आचारण की वसीयत क़बूल करो।”

(हदीस: मुस्लिम)

पारिवारिक जीवन के आगे खानदानी जीवन का क्षेत्र आता है, जहाँ इन्सान का वास्ता माता-पिता और भाई-बहन आदि निकट सम्बन्धियों से होता है। मता-पिता के साथ जिस व्यवहार को अपनाने का हुक्म दिया गया है, उसका अनुमान सिर्फ़ इसी एक बात से लगाया जा सकता है कि अल्लाह तआला ने उनके साथ सद्व्यवहार अपनाने का आदेश अपनी इबादत करने के आदेश के साथ-साथ और संयुक्ततः दिया है —

“और अल्लाह की इबादत करो और उसका किसी को सहभागी न बनाओ और माता-पिता के साथ सद्व्यवहार अपनाओ।”

(कुरआन, ४:३६)

सद्व्यवहार की व्याख्या करते हुए फ़रमाया –

उनके समक्ष विनम्रता की बाँहों को दयालुता (एवं प्रेम की भावना) के साथ झुका दो, और प्रार्थना करो कि प्रभु! इन पर कृपा कर, जिस प्रकार इन्होंने (कृपा एवं स्नेह के साथ) मुझे बाल्यकाल में पाला था।”

(कुरआन,

४:२४)

नबी (सल्ल.) ने इस सिलसिले में जो कुछ कहा है मुझे उसमें से केवल दो-एक कथनों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा—

“तुम्हारे माँ-बाप तुम्हारी जन्नत और जहन्नम हैं।”

(हदीस : इब्ने माजा)

“जो नेक औलाद अपने माँ-बाप पर प्यार और स्नेह की दृष्टि डालती है, अल्लाह तआला उसकी ऐसी हर दृष्टि के बदले उसे एक क़बूल किए हुए हज़ का सवाब प्रदान करता है।” (हदीस : बैहक़ी)

हद यह है कि ख़ुदा न करे कि माता पिता ग़ैर-मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम ही नहीं बल्कि कठोर हृदय और इस्लाम के जघन्य शत्रुता रखनेवाले हों, तो भी उनकी सेवा और उदारता के आम अधिकार अपनी जगह शेष ही रहेंगे और ज़रूरी है कि उन हक़ों को पूरा किया जाए।

इस बात को स्पष्ट करते हुए कुरआन में आदेश दिया गया –

“परन्तु यदि वे (माँ-बाप) तुग पर दबाव डालें कि मेरे साथ तू किसी ऐसे को साज़ी ठहराए जिसे तू नहीं जानता तो उनकी बात हरगिज़ न मान (परन्तु) दुनिया में उनके साथ भले तरीक़े से रहना!”

(कुरआन, ३१:१५)

“और दुनिया में उनके साथ भले तरीक़े से रहना।”

(कुरआन, ३१:१५)

माता-पिता के बाद जहाँ तक दूसरे रिश्तेदारों का सम्बन्ध है, तो उनके बारे में कुरआन करीम ने सर्वसाधारण और व्यापक सद्व्यवहार की चेतावनी दे रखी है। अतः कुरआन के अध्याय ४ (अर्थात् सूरा निसा) की ऊपर उल्लिखित आयत नं. २४ में “व बिल् वालिदैनि इहसा-ना” (और माँ-बाप के साथ सद्व्यवहार करो) के बाद ही “व बिज़ियल् कुर-बा” के शब्द आए हैं। जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार माता-पिता के साथ उनके मर्तबे के मुताबिक़ अच्छा व्यवहार करना चाहिए, उसी प्रकार रिश्तेदारों के साथ भी अच्छा व्यवहार करना चाहिए। उनमें जो रिश्तेदार जितना ही अधिक निकटता का रिश्ता रखता होगा, उसके हक़ भी उतने ही अधिक होंगे। एक साहब ने नबी (सल्ल.) से पूछा कि मुझे सद्व्यवहार किस के साथ (ज़्यादा) करना चाहिए? आप (सल्ल.) ने फ़रमाया, “आपनी माँ के साथ।” यह बात आप (सल्ल.) ने तीन बार फ़रमाई। चौथी बार जब पूछनेवाले ने इसी प्रश्न को पुनः दुहराया, तो आप (सल्ल.) ने फ़रमाया – “फिर बाप के साथ, इसके बाद क्रमानुसार अधिक निकट के रिश्तेदारों के साथ।” (हदीस : तिरमिज़ी)

रिश्तेदारों के साथ सद्व्यवहार करने को इस्लामी परिभाषा में “सिला रहमी” कहा जाता है। जिसके मानी हैं – “ख़ूनी रिश्तों को जोड़े रखना और उनका पृष्ठ पोषण करना।” कुरआन हकीम ने ‘सिला रहमी’ को मानवता और हक़ को पहचानने की एक आधारशिला माना है और इसकी बार-बार तलक़ीन की है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि ‘सिला रहमी’ ईमान के अनिवार्य अंगों में से है।

“जो कोई अल्लाह पर और आख़िरत पर ईमान रखता हो, उसे चाहिए कि सिला रहमी करे।”

(हदीस : बुख़ारी)

“रिश्तों का काटनेवाला जन्नत में दाख़िल न हो सकेगा।”

(हदीस: बुख़ारी)

इसके बाद पड़ोस और मुहल्ले का क्षेत्र आता है। पड़ोसियों से एक मुसलमान को जिस प्रकार पेश आना चाहिए उसके स्पष्टीकरण के लिए दो हदीसों पर्याप्त हैं। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

“जिबरील (अलै.) मुझे पड़ोसी के प्रति बराबर सचेत करते रहे, यहाँ तक कि मेरे मन में यह धारणा उत्पन्न होने लगी कि कहीं उसे वारिस न बना दें।”

(हदीस: बुख़ारी)

“जिस व्यक्ति का पड़ोसी उसकी यातना से सुरक्षित न हो, वह जन्नत में न जाएगा।”

(हदीस : मुस्लिम)

– अब और आगे पूरे समाज का बड़ा और विस्तृत क्षेत्र होता है, जिसके अन्दर मनुष्य को अनेकों प्रकार के लोगों से मामला पेश आता है। इन सबके साथ उसकी जो नीति होनी चाहिए, सैद्धांतिक रूप पर उसका निश्चयकरण कुरआन मजीद के ये शब्द करते हैं।

“..... और अल्लाह ने आदेश दिया है, अच्छा व्यवहार करने का माँ-बाप के साथ और रिश्तेदारों, अनार्थों, निर्धनों, रिश्तेदार पड़ोसियों, अपरिचित पड़ोसियों, साथ बैठनेवालों, मुसाफ़िरों और गुलामों के साथ।”

(कुरआन

४: ३६)

मानवीय सम्बन्ध की दृष्टि से मनुष्यों के जितने प्रकार हो सकते थे, इस आयत में उनमें से एक-एक का नाम लेकर गिना दिया गया है और सबके बारे में यह व्यापक निर्देश दे दिया गया है कि उनके साथ एक मुसलमान का व्यवहार अनिवार्यतः “उपकार” (सद्ब्यवहार) और भलाई का होना चाहिए।

– आम समाज के बाद प्रशासनिक क्षेत्र आता है। इस्लामी समाज में हर व्यक्ति की राजनैतिक और प्रबन्धीय दृष्टि से भी एक निश्चित हैसियत होती है। या तो वह आदेश देनेवाला होगा या आदेशपालक, शासक का स्थान रखता होगा या प्रजा का। अगर वह आदेश देनेवाला है और शासक का मक़ाम रखता है तो अपनी प्रजा के साथ उसकी जो कार्यप्रणाली होनी चाहिए, उसका स्पष्टीकरण अल्लाह के नबी (सल्ल.) के इस फ़रमान से होता है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने फ़रमाया –

“जो कोई सरदार, मुसलमानों के मामलों का ज़िम्मेदार होते हुए, उनके लिए जी-जान से कोशिश नहीं करता और न उनका भला चाहता है, वह उनके साथ जन्नत में न जाएगा” (मुस्लिम : हदीस)

और अगर वह प्रजा है, तो उसे अपने शासक एवं अमीर के साथ जो कर्तव्य प्रणाली अपनानी चाहिए, उसका निर्धारण यह हदीस करती है:–

“(आप (सल्ल.) ने फ़रमाया:) धर्म सदुपदेश और शुभ-चिंतन का नाम है। पूछा गया – किसके सदुपदेश एवं शुभचिंतन का ? फ़रमाया – अल्लाह का, उसके रसूल का और मुसलमानों के अमीर (शासक) का और समस्त मुसलमानों का (हदीस: मुस्लिम)

अर्थात् धार्मिकता और ईश्वरपरायणता की अपेक्षाओं में यह बात भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित है कि सरदार एवं अमीर का व्यवहार अपनी प्रजा के साथ और प्रजा का व्यवहार अपने सरदार के साथ वफ़ादारी शुभ-चिन्ता और निष्ठा का हो।

– सबसे अंतिम क्षेत्र एक मुसलमान के जीवन का वह है जो मुस्लिम समाज से बाहर का होता है और जो ग़ैर-मुस्लिमों के साथ मामलों और सम्बन्धों के आधार पर अस्तित्व में आता है। यहाँ उसे जिस नैतिक आचरण का पाबन्द होना चाहिए, उसका मौलिक सिद्धांत निम्न आयत में मौजूद है:–

“ऐ ईमानवालो ! अल्लाह के (धर्म के) लिए तत्पर रहनेवाले और न्याय की गवाही देनेवाले बनो और किसी समुदाय की दुश्मनी (भी) तुम्हें न्याय से कभी भी अलग न रखने पाए। न्याय करो ! यही तक्रवा से लगती हुई बात है।” (कुरआन, ५:८)

ये हैं वे मौलिक आधार जिन पर इस्लाम इनसान के नैतिक जीवन का निर्माण करता है। इन्हें देख कर हर व्यक्ति इस बात की अनुभूति कर सकता है कि मुसलमान के जीवन का एक-एक अवयव नैतिकता के सुदृढ़ सिद्धान्तों से कसा हुआ होता है।

३. पारिवारिक व्यवस्था

इन दो आधारभूत एवं महत्वपूर्ण विभागों के बाद अब मानवीय जीवन के सांस्कृतिक ढाँचे की ओर आइए और उसके एक-एक अनुभागों के बारे में इस्लामी आदेशों एवं उपदेशों का अध्ययन कीजिए। मानव-सभ्यता की बुनियाद एक मर्द और एक औरत के पारस्परिक समागम से अस्तित्व में आती है। इन्हीं दो इनसानों से मिलकर बननेवाली छोटी-सी सामूहिक संस्था, मानव की सांस्कृतिक जीवन की सब से पहली कड़ी होती है। इस सामूहिक संस्था को मानव का ‘पारिवारिक जीवन’ और उसके लिए जो नियम होते हैं उन्हें—‘पारिवारिक व्यवस्था’ कहते हैं। इस्लाम ने जो पारिवारिक व्यवस्था निश्चित की है, उसकी मोटी-मोटी बातें ये हैं।

मर्द और औरत का यह स्थाई समागम एक स्पष्ट समझौते के द्वारा अस्तित्व में आता है, जिसे शरीअत की भाषा में “निकाह” कहते हैं। यह निकाह एक पवित्र रिश्ता है, जो दोनों की मर्जी से और पूरी उद्घोषणा के साथ जोड़ा जाता है। निकाह के बिना मर्द औरत का सम्बन्ध घोर पाप और अत्यन्त दण्डनीय अपराध है। निकाह केवल एक नैसर्गिक ज़रूरत ही नहीं बल्कि एक शर्ई ज़रूरत भी है। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

“..... मैं औरतों से निकाह भी करता हूँ, जो कोई मेरे इस तरीके (सुन्नत) से परहेज़ करेगा वह मेरा न रहेगा।” (हदीस : बुखारी, भाग-२)

इस ज़रूरत से अपने को अलग रखना इस्लामी तरीका नहीं है। हज़रत उसमान बिन मज़उन (रज़ि.) ने पौरुषहीन (ख़रसी) होने की अनुमति माँगी तो आप (सल्ल.) ने अनुमति नहीं दी। (हदीस : बुखारी, भाग-२)

निकाह के समझौते को कुरआन (४:२१) ने – “पक्का समझौता” (मीसाक़न् ग़लीज़ा) ठहराया है। इस समझौते के द्वारा दोनों अपने-अपने ऊपर भारी ज़िम्मेदारियाँ ओढ़ते हैं और हमेशा के लिए ओढ़ते हैं। इस रिश्ते से जो एक छोटा-सा सामुदायिक एकत्व बनता है, मर्द उसका निरीक्षक और महाप्रबन्धक होता है और औरत उसके आदेशाधीन घर की व्यवस्था एवं प्रबन्ध का संचालन करती है।

(कुरआन ४:३४)

इस सामुदायिक एकत्व में मर्द की ज़िम्मेदारी यह है कि—

(१) वह औरत के लिए और होनेवाली सन्तान के लिए भोजन, कपड़े और निवास की मतलब यह कि जीवन की हर ज़रूरत की पूर्ति का प्रबन्ध करे। जीवन की आवश्यकताओं का यह प्रबन्ध उसे अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार करना होगा।

“चाहिए कि सामर्थ्यवाला अपनी सामर्थ्य के अनुसार खर्च करे और जिसे उसकी रोज़ी नपी-तुली मिली हो तो उसे चाहिए कि अल्लाह ने उसे जो कुछ भी दिया उसी में से वह खर्च करे।” (कुरआन, ६५:७)

यह ज़िम्मेदारी केवल नैतिक प्रकार की ही नहीं है, बल्कि क़ानूनी हैसियत भी रखती है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति इसमें कोताही करता है तो प्रशासन उसे अपने इस अनिवार्य कर्तव्य को पूरा करने को विवश करेगा।

(२) वह बीवी-बच्चों की धार्मिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण का ध्यान रखे और उसकी व्यवस्था करे। अल्लाह ने ताकीद के साथ फ़रमाया है कि — “ईमानवालो ! अपने आपको और अपने परिवारजन को दोज़ख (नरक) की आग से बचाओ।”

(कुरआन, ६६:२)

अर्थात् मर्द के ऊपर यह दोहरी ज़िम्मेदारी डाली गई है कि वह अपने परिवारजन की सांसारिक ज़रूरतों और पारलौकिक सफलता, दोनों बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखे। इस सम्बन्ध में वह इहलोक और परलोक दोनों जगह उत्तरदायी होगा —

“सुन रखो ! तुम में से हर व्यक्ति उत्तरदायी शासक है। और हर एक से उसकी प्रजा के बारे में पूछना छूट होगी।.....मर्द अपने घरवालों के प्रति उत्तरदायी है और उसे उनके बारे में जवाबदेही करनी होगी।”

(हदीस : मुस्लिम)

औरत की ज़िम्मेदारी यह है कि:—

(१) वह घर के अन्दर की व्यवस्था सँभाले— “औरत अपने शौहर (पति) के घर और उसकी सन्तान के प्रति उत्तरदायी और निगराँ है और उसे उनके बारे में जवाब देना होगा।”

(हदीस : मुस्लिम, भाग-२)

(२) शौहर का आज्ञानुपालन करे और अपनी अस्मत (सतीत्व) को पूरी तरह सुरक्षित रखे —

“अतः नेक (सच्चरित्र) औरतें आज्ञा-पालन करनेवाली और गुप्तांगों की रक्षा करनेवाली होती हैं।” (कुरआन, ४:५)

इसी प्रकार औलाद का भी यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता की आज्ञा माने और सेवा करे। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना अक्षम्य अपराध है —

“गुनाहों में से जिसको चाहेगा अल्लाह माफ़ कर देगा। मगर माँ-बाप की नाफ़रमानी को माफ़ न करेगा।” (हदीस : बैहक़ी)

जिस प्रकार निकाह को एक शर्ई (संवैधानिक) ज़रूरत कहा गया है, उसी प्रकार इस निकाह के परिणामस्वरूप आ पड़नेवाली उन समस्त ज़िम्मेदारियों को “अल्लाह की नियत की गई सीमाँएँ” कहा गया है। (तिल्-क हुदुदुल्लाहि — कुरआन, २:२१९) और मर्द व औरत दोनों को सचेत किया गया कि वे उन सीमाओं का पूरा-पूरा सम्मान करें। (फ़-ला तातदू-हा — कुरआन, २:२१९)

हर सहृदय और अपने कर्तव्य को पहचाननेवाले व्यक्ति से आशा यही की जाती है कि वह उन सीमाओं का बराबर ध्यान रखेगा, किन्तु खुदा न करे कि यह वस्तुस्थिति शेष न रह जाए, बल्कि पति-पत्नी में मतभेद पैदा हो जाए और निबाह की कोई उम्मीद नज़र न आए, तो मजबूरन इस बात की भी अनुमति है कि पति तलाक़ के ज़रीए और औरत खुलअ^१ के ज़रीआ इस निकाह के रिश्ते को समाप्त करे दे —

१. अर्थात् पत्नी द्वारा पति से तलाक़ लिया जाना।

“फिर तुमको यह डर हो कि वे अल्लाह की सीमाओं पर क़ायम न रहेंगे तो स्त्री जो कुछ देकर छुटकारा प्राप्त करना चाहे उसमें उन दोनों के लिए कोई गुनाह नहीं।”

(कुरआन, २:२२९)

यहाँ तक कि इस्लामिक प्रशासन को भी यह अधिकार प्राप्त है कि इस स्थिति में वह आगे बढ़कर इस रिश्ते को अपने तौर पर तोड़ दे, क्योंकि इसकी मर्यादा अपनी जगह बड़ी महत्व-पूर्ण ही सही, लेकिन “अल्लाह की सीमा” की मर्यादा इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए उसके लिए उन्हें पददलित करने की छूट नहीं हो सकती।

४. सामाजिक व्यवस्था

यह घर की अत्यन्त सीमित सामूहिकता से बाहर जो एक विस्तृत समूह होता है और जिसे “समाज” कहा जाता है, इसके सम्बन्ध में इस्लाम की कुछ आधारभूत धारणाएँ हैं। पहले उन धारणाओं को मालूम कर लीजिए। इसके बाद इससे सम्बन्धित आदेशों के विवरण का समय आएगा।

समाज के बारे में इस्लाम का कहना यह है कि यह जिन अनगिनत व्यक्तियों से मिलकर बना होता है, वे वस्तुतः सब के सब एक ही माता-पिता की सन्तान होते हैं —

“जिसने तुम्हें एक जीव से पैदा किया” – (कुरआन, ४:१)

इसलिए पैदाइशी तौर पर वे सब बराबर होते हैं। उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। कोई पाक और कोई नापाक नहीं होता। काले और गोरे, हिन्दी और अरबी, आर्यन और सामी, एशियाई और यूरोपी, पूर्वीय व पश्चिमी – सभी एक-से, एक ही श्रेणी के और एक ही प्रकार के अधिकारों को रखनेवाले मानव होते हैं। नस्ल या वतन या रंग या भाषा के आधार पर उनमें कोई भेदभाव नहीं हो सकता। भेदभाव का केवल एक ही आधार है और वह मैं स्वयं हूँ। इसलिए पूरा मानव-समाज वास्तव में केवल दो वर्गों में बँटा हुआ है – एक वर्ग उन लोगों का है जो मुझ पर अर्थात् अल्लाह के धर्म (दीन) पर आस्था (ईमान) रखते हैं। दूसरा उन लोगों का है जो उसे अपना धर्म नहीं मानते। पहला इस्लामी समाज कहलाता है, दूसरा गैर-मुस्लिम समाज। इन दोनों समाजों की आधारशिलाएँ स्पष्टतः एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होती हैं और जब आधारशिलाएँ भिन्न होती हैं तो उनके ढाँचे भी नैसर्गिक रूप से परस्पर भिन्न होते हैं, और जीवन के अधिकतम महत्वपूर्ण मामलों में उनके बीच कोई सामंजस्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ- ‘निकाह का रिश्ता’ जो पूरी सांस्कृतिक व्यवस्था की पहली ईंट है, मुसलमानों और गैर-मुस्लिमों में स्थापित नहीं हो सकता, न वे एक-दूसरे के वारिस (उत्तराधिकारी) हो सकते हैं।

जब धर्म और आस्था के आधार पर इस्लामी और गैर-इस्लामी दो अलग-अलग समाज बन जाते हैं, तो इन दोनों के बारे में अपने-अपने अनुययियों के लिए इस्लाम के आदेश भी बहुत कुछ भिन्न ही होंगे। जहाँ तक गैर-मुस्लिम समाज का सम्बन्ध है, उसके बारे में समस्त इस्लामी शिक्षाओं का सार यह है कि उसके लोगों के साथ जो व्यवहार किया जाएगा वह आम मानवीय आधारभूत शिष्टाचार – उदाहरणतः न्याय व इनसाफ़, सत्यनिष्ठा व ईमानदारी, सहृदयता व मरुव्वत, अनुकम्पा व समता, सच्चाई व वचन-पालन आदि – के अनुसार रखा जाए और कभी भी इनका उल्लंघन न किया जाए। रहा मुस्लिम समाज का मामला तो इसके लिए इस्लाम ने बड़े विस्तार से और सुस्पष्ट हिदायतें दी हैं और उन्हीं को इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था कहा जाता है। इन हिदायतों की सार यह है

(१) व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध किसी प्रकार के सामुदायिक या वर्गीय या वंशीय संघर्ष के बजाए भाईचारगी, सहानुभूति, समानता, सहायता और त्याग पर स्थापित किए जाएँ। अल्लाह का आदेश है –

“मुसलमान तो आपस में भाई-भाई हैं” (कुरआन, ४९:१०)

व्यावहारिक रूप में यह “भाईचारगी” कैसी होनी चाहिए? इसका स्पष्टीकरण अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) के इन फ़रमानों से होता है –

“ये ईमानवाले अपने ऊपर दूसरों को प्राथमिकता दिया करते हैं, चाहे स्वयं भुखमरी की हालत में क्यों न हों।”

(कुरआन, ५९:६)

“लोग दूसरे लोगों का मज़ाक़ न उड़ाएँ और न औरतें दूसरी औरतों का मज़ाक़ उड़ाएँ एक दूसरे पर दोषारोपण न करो, न एक-दूसरे का बुरा नाम रखो बहुत ज़्यादा कुधारणाओं से बचे, और किसी का भेद न टटोलो, न एक-दूसरे को पीठ-पीछे बुरा कहो।” (कुरआन, ४९:११-१२)

“मोमिन एक दूसरे के लिए इमारत के सदृश होते हैं, जिसका हर अवयव (एक) दूसरे का सहायक होता है।” (हदीस: मुस्लिम)

“पारस्परिक प्यार, दयालुता और स्नेह में मुसलमानों की स्थिति एक जिस्म की तरह है। शरीर के एक अंग में यदि कष्ट होता है, तो पूरा शरीर बेचैन, अनिन्द्र और बुखार में ग्रस्त हो जाता है।”

(हदीस: मुस्लिम)

“आपस में ईर्ष्या न करो, न नीलाम में केवल दाम चढ़ा देने के लिए बोली बोलो। न एक दूसरे से द्वेष रखो, न सम्बन्ध समाप्त करो और न दूसरे के क्रय-विक्रय मामले में हस्तक्षेप करके स्वयं क्रय-विक्रय का मामला कर लेने की कोशिश करो, बल्कि अल्लाह के बंदे और भाई-भाई बन कर रहो। – एक मुसलमान दूसरे का भाई होता है। उस पर जुल्म नहीं करता और न उसे निस्सहाय व बेबस छोड़ता है और न उसको तुच्छ समझता है..... मुसलमान के खून का सम्मान, उसकी सम्पत्ति का सम्मान और उसकी इज़्ज़त का सम्मान मुसलमान पर फ़र्ज़ (अनिवार्य कर्तव्य) है।” (हदीस: मुस्लिम)

“एक मुसलमान के दूसरे मुसलमान पर छः हक़ हैं:- (१) जब उससे मिलो तो सलाम करो, (२) जब मदद के लिए पुकारे तो “हाज़िर हूँ” कहो, (३) जब तुम से शुभचिंतन (ख़ैरखाही) की अपेक्षा करे, तो उसके प्रति शुभचिंतन करो (४) जब छींके और छींकने के बाद ‘अलहमुदिलिल्लाह’ कहे तो ‘यर्हमुकल्लाहु’ कहो, (५) जब बीमार पड़े तो उसकी तबीअत पूछने को जाओ और (६) जब वफ़ात (मृत्यु) पा जाए तो उसके जनाजे में शामिल हो।” (हदीस: मुस्लिम)

“किसी मुसलमान के लिए जायज़ (वैध) नहीं कि अपने मुसलमान भाई को तीन दिन से ज़्यादा मुद्दत तक छोड़े रहे।”

(हदीस: मुस्लिम)

“कोई व्यक्ति अपने मुसलमान भाई के निकाह के पैग़ाम पर पैग़ाम न दे, यहाँ तक कि वह निकाह कर ले या बात ख़त्म करे

दे।”

(हदीस: बुखारी)

“पारस्परिक सम्बन्धों की खराबी से पूरी तरह बचते रहो; क्योंकि यह चीज दीन (धर्म) का सफ़ाया कर देनेवाली है।”

(हदीस: अबू दाऊद)

यह है इस्लामी समाज में लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों की अपेक्षित स्थिति और कैफ़ियत। यह स्थिति किसी कुधारणा या स्वार्थपरता के हाथों जहाँ कहीं खत्म होती नज़र आए – दूसरे लोगों का अनिवार्य कर्तव्य (फ़र्ज़) है कि परिस्थिति के सुधार के लिए तत्काल दौड़ पड़ें।

“मुसलमान तो (सारे-के-सारे) आपस में भाई-भाई हैं। अतः (अगर कहीं आपस में रंजिश पैदा हो जाए तो) अपने दोनों भाइयों में समझौता और सुलह-सफ़ाई करा दो।” (कुरआन, ४९:१०)

एक हदीस में है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने सहाबा (रज़ि.) से फ़रमाया –

“क्या तुम्हें एक ऐसा काम न बताऊँ जो रोज़े और सदक़े (दान) और नमाज़ से भी श्रेष्ठ है?” सहाबा (रज़ि.) ने निवेदन किया “हाँ (ज़रूर बताएँ)।” फ़रमाया – “आपस के सम्बन्धों को ठीक कर देना।

(हदीस: अबू दाऊद)

२- समाज में भलाई और खुदा से डरने और उससे प्यार करने के कामों को उत्साहित किया जाए। बल्कि न केवल उत्साहित किया जाए, बल्कि अनिवार्य है कि लोग ऐसे कामों में एक-दूसरे की मदद करें।

“नेकी और तक्रवा (खुदा से डरने) के कामों में एक-दूसरे की सहायता करो।” (कुरआन ५:२)

और इतना ही नहीं, बल्कि ऐसे कामों पर एक-दूसरे को निरन्तर उभारते भी रहना चाहिए –

मोमिन^१ मर्द और मोमिन औरतें आपस में एक दूसरे के दोस्त हैं। वे आपस में एक-दूसरे को नेकी की ओर उभारते रहते हैं।”

(कुरआन, ९:७१)

३. समाज के अन्दर बुराइयों को सिर उठाने का अवसर न दिया जाए। इसकी सूरत यह है कि एक ओर तो किसी बुरे काम में मदद न की जाए (कुरआन, ५:२)। दूसरी ओर अपनी शक्ति भर ऐसी हरकतों से लोगों को बाज़ रखने की पूरी-पूरी कोशिश भी की जाए। जगत् के पालनहार अल्लाह की हिदायत है कि: –

“तुम में से जो व्यक्ति भी कोई बुराई देखे तो चाहिए कि वह उसे अपने

१. मोमिन शब्द उस मुसलमान के लिए प्रयुक्त होता है जो पूरी तरह इस्लामी शरीअत व अहकाम का अनुपालक होता है।

हाथ से बदल कर दुरुस्त कर दे।”

(हदीस : मुस्लिम)

यह बुरी हरकतों से लोगों को बाज़ रखना केवल समाज ही की सेवा और ख़ैरख्वाही नहीं है, बल्कि स्वयं उस व्यक्ति की भी सेवा और ख़ैरख्वाही है, जिसे बुराई से रोका गया हो। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने जब यह हिदायत फ़रमाई कि – “अपने भाई की मदद करो, चाहे वह ज़ालिम (अत्याचारी) हो या मज़लूम (अत्याचार पीड़ित)।” तो सहाबा (रज़ि.) ने पूछा कि “ऐ अल्लाह के रसूल (सल्ल.) मज़लूम भाई की मदद की बात तो समझ में आती है, किन्तु यह ज़ालिम की मदद किस प्रकार की जाएगी।” आपने फ़रमाया – “तुम उसे जुल्म करने से रोक दो, अतः यही उसकी मदद है।” (हदीस : बुखारी, मुस्लिम)

४. उन समस्त स्रोतों को बन्द रखा जाए, जिनसे वासनात्मक बुराइयाँ उबल-उबल कर समाज में फैल जाया करती हैं। इस उद्देश्य के लिए ये व्यापक उपाय अपनाए गए हैं –

(अ) व्यभिचार को अत्यन्त नीच कर्मों में शामिल करते हुए फ़रमाया गया है –

“व्यभिचार (ज़िना) के निकट भी न जाओ, यह खुली हुई बेहयाई का काम और बुरा आचरण है।” (कुरआन,

१७:३२)

व्यभिचार के विरुद्ध यह कहकर पूरे समाज में अत्यन्त घृणा की तीव्र भावनाएँ पैदा कर दी गई हैं –

“व्यभिचारी किसी व्यभिचारिणी या मुश्रिका (बहुदेववादी औरत) से ही निकाह करता है और किसी व्यभिचारिणी को व्यभिचारी या मुश्रिक (बहुदेववादी पुरुष) ही अपने निकाह में लाता है।”

(कुरआन, २४:३)

(ब) व्यभिचार करनेवाले अपराधी के लिए पत्थरों से मार-मार कर मार डालने, या सौ कोड़े लगाए जाने की शिक्षाप्रद और हृदय-विदारक सज़ा रखी गई है और यह सज़ा देने का तरीक़ा यह निश्चित किया गया है कि वह सार्वजनिक स्थल अर्थात् खुले आम दी जाए, ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों की उपस्थिति में दी जाए और मारने में किसी मुरव्वत या लिहाज़ से काम न लिया जाए।

“व्यभिचारिणी और व्यभिचारी – इन दोनों में से प्रत्येक को सौ कोड़े मारो और अल्लाह के धर्म के विषय में (अर्थात् अल्लाह का कानून लागू करने में) तुम्हें उन पर तरस न आए, यदि तुम अल्लाह और अंतिम दिन पर ईमान रखते हो और चाहिए कि उनकी सज़ा के वक़्त मुसलमानों की एक जमाअत भी वहाँ मौजूद हो।”

(कुरआन, २४:१२)

(स) औरतों का कार्यक्षेत्र सामान्य स्थितियों में घर की चार दीवारियों तक सीमित कर दिया गया और उन्हें अनावश्यक बाहर निकलने से रोक दिया गया है। –

“अपने घरों में टिककर रहो और विगत अज्ञानकाल की-सी सज-धज न दिखाती फिरना।”

(कुरआन,

३३:३३)

(द) मर्दों और औरतों का उन्मुक्त मेल-मिलाप अत्यन्त निषेधित है। आत्यांतिक निकटवर्ती सम्बन्धियों के सिवा और किसी के सामने औरतों को बेपरदा आने की अनुमति नहीं –

“वे अपने ऊपर अपनी चादरों का कुछ हिस्सा लटका लिया करें।”

(कुरआन, ३३:५९)

इसी तरह उन्हें इस बात से भी रोक दिया गया है कि वे खुशबू लगाकर या झनझन करनेवाले आभूषण पहनकर बाहर निकलें, या परदे की आड़ से भी ग़ैर मह्रम^१ मर्दों से अनावश्यक बातचीतच करें, या बाताचीत करना पड़ जाए, तो शैली में कोई लोच पैदा करें –

“अतः तुम्हारी बातों में लोच न हो कि वह व्यक्ति जिसके दिल में रोग है, वह लालच में पड़ जाए।”

(कुरआन,

३३:३२)

(ह) औरतों को ऐसे वस्त्र पहनने या ऐसे तौरतरीके अपनाने को सख्त मना कर दिया गया है, जो दूसरों के सामने हुस्न को ज़ाहिर करनेवाली परिभाषा में आते हों। उन औरतों पर लानत भेजी गई है, जो इतने बारीक कपड़े पहनें कि जिस्म अन्दर से झलक रह हो, या जो मटकती हुई चलें। (हदीस : मुस्लिम)

“ऐसी औरतें जो कपड़े पहन कर भी नग्न हों, (मर्दों को) अपनी ओर आकर्षित करनेवाली हों और ऊँटनियों की भांति मटककर चलनेवाली हों – वे जन्नत में कदापि प्रवेश न कर सकेंगी और न उसकी महक पा सकेंगी।

(हदीस: मुस्लिम, भाग-२)

१. ग़ैर मह्रम:- वह व्यक्ति जिससे विवाह जाइज़ हो।

(व) शर्म और हया की सख्त चेतावनी दी गई है और उसे ईमान (आस्था) का एक अनिवार्य अंग माना गया है –

“शर्म ईमान का एक अंग है।”

(हदीस : बुखारी)

(ज़) मर्दों और औरतों दोनों को हुक्म है कि अगर उनकी नज़रें एक-दूसरे पर पड़ जाएँ तो वे देखते न रहें, बल्कि नज़रें तुरन्त नीची कर लें –

“ईमानवाले पुरुषों से कह दो कि अपनी निगाहें बचाकर रखें और अपने गुप्तांगों की रक्षा करें और ईमानवाली स्त्रियों से कह दो कि वे भी अपनी निगाहें बचाकर रखें और अपने गुप्तांगों की रक्षा करें और अपने श्रृंगार प्रकट न करें, सिवाय उसके जो उनमें खुला रहता है।”

(कुरआन, २४:३०-३१)

इसी प्रकार किसी के घर में बिना सूचना तथा बिना अनुमति अचानक न चले जाया करें।

“ऐ ईमानवालो ! अपने घरों के सिवा दूसरे घरों में प्रवेश न करो, जब तक कि अनुमति प्राप्त न कर लो और उन घरवालों को सलाम न कर लो।”

(कुरआन, २४:२७)

(ह) अश्लीलता और व्यभिचार की बातें करना सख्त मना है, क्योंकि इससे समाज की मानसिक पावनता आहत हो जाती है और इस बुराई के विरुद्ध लोगों की नैसर्गिक और धारणात्मक घृणा हलकी पड़ने लगती है। इसलिए उन लोगों को सख्त दण्ड की धमकी दी गई है, जो इस प्रकार की चर्चाएँ किया करते हैं। या समाज को अश्लीलताप्रिय देखना चाहते हैं।

“जो लोग चाहते हैं कि उन लोगों में, जो ईमान लाए हैं, अश्लीलता फैले, उनके लिए दुनिया और आखिरत में दुखद यातना है।”

(कुरआन, २४:१९)

(त) निकाह (विवाह) की हिदायत की गई है और विशेषकर जवानों के एकाकी (अर्थात् अविवाहित) रहने को सख्त नापसन्द किया गया है। (मुस्लिम हदीस, भाग-१) आदेश है कि जैसे ही कोई लड़की जवानी की उम्र को पहुँचे मुनासिब रिश्ता मिलने पर उसका तुरन्त विवाह कर दो (तिरमिज़ी, भाग-१ अध्याय- निकाह)। फिर इस निकाह (विवाह) के मामले को बहुत ही सादा और सरल भी रखा गया है।

बहुत ही निकट के कुछ रिश्तों को छोड़कर बाक़ी सभी लोगों, से निकाह जायज़ किया है। इसी प्रकार जात-पाँत का अन्तर भी कोई रुकावट नहीं है। फ़रमाया गया है कि –

“निकाह (विवाह) में लोग औरत के नस्ल व वंश को, उसकी ख़ूबसूरती को और उसकी दौलतमंदी (धनाढ्यता) का देखा करते हैं। लेकिन तुम मुसलमानों को उसका धर्म और शिष्टाचार देखना चाहिए।”

(हदीस:बुखारी)

महर में भी बीच का रास्ता अपनाने की हिदायत की गई है और जहाँ तक विवाह की रस्म को पूरा किए जाने का मामला है, तो वह इतना सहज है कि इसमें किसी प्रकार की कठिनाई का अंश तक नहीं। न किसी धार्मिक गुरु, पंडित या हाकिम की ज़रूरत, न किसी और बात की शर्त। कम-से-कम दो गवाहों के सामने पुरुष और स्त्री अपनी-अपनी सहमति को प्रकट करके स्वयं ही इस अनिवार्य कर्तव्य (फ़र्ज़) को पूरा कर सकते हैं।

(य) किसी नैतिक आवश्यकता या सामाजिक निहितहित की यदि अपेक्षा हो तो न्यायपूर्ण बरताव के प्रतिबन्ध के साथ एक के बजाए चार निकाहों तक की भी अनुमति है। जैसे – किसी यतीम बच्चे की ठीक परवरिश उसके बिना न हो सकती हो कि उसे अपना सौतेला बच्चा बना लिया जाए, या किसी व्यक्तिको सिर्फ़ एक बीवी के ज़रीया अपनी पवित्रता की रक्षा कठिन नज़र आ रही हो –

“तो उनमें से जो तुम्हें पसन्द हों, दो-दो, या तीन-तीन या चार-चार से विवाह कर लो।” (कुरआन, ४:३)

(क) विधवा व बेवा औरतें और को फिर से दाम्पत्य जीवन अपना लेने की हिदायत की गई है। इसी प्रकार यदि लौंडी या गुलाम मौजूद हों तो हुक़म है कि उसका विवाह कर दो। कुरआन में है कि –

“तुम में से जो लोग एकाकी अविवाहित हों और तुम्हारे लौंडी गुलामों में से जो नेक हों, उनके विवाह कर दो।”

(२४:३२)

इसका मुख्योद्देश्य यह है कि समाज में यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जो कामवासना की प्रवृत्ति एवं शक्ति रखता है, तो वह अविवाहित न रह जाए, अन्यथा अन्देशा रहेगा कि कहीं वह किसी गुनाह में लिप्त हो जाए।

(५) ऐसे तमाम कामों से परहेज किया जाए जो लोगों में प्रायः व्यभिचार या कामासक्ति के रुजहान को उकसा दिया करते हैं, या उसकी मानसिक शक्ति को पतित और नैतिक चेतना को अपंग कर देते हैं। यही कारण है कि नाच-गाने, बाजे, शराब और दूसरी नशीली वस्तुओं के इस्तेमाल को अवैध कर दिया गया है।

(६) रहन-सहन और खाने-पीने में सन्तुलन रखा जाए। कुरआन ने मोमिन की पहचान यह बताई है कि वह खर्च में न फुज़ूल खर्च से काम लेता है और न ही कंजूसी से।

“जो खर्च करते हैं तो न तो फुज़ूल खर्च करते हैं और न ही कंजूसी से काम लेते हैं, बल्कि वे इनके बीच की राह अपनाते हैं।”

(कुरआन, २५:६७)

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का एक ओर तो यह कहना है कि – “अल्लाह तआला अपनी दी हुई नेमत का अपने बन्दे पर प्रभाव प्रकट होते देखना चाहता है।” (तिर्मिज़ी शरीफ़), दूसरी ओर आप घमण्ड या फ़िज़ूलखर्ची (अपव्यय) और ऐशपरस्ती का आचरण अपनाने से सख्ती के साथ मना करते हैं उदाहरणार्थ – “कोई ऐसा लिबास नहीं पहना जा सकता जो घमण्ड को ज़ाहिर करनेवाला टखनों से नीचे हो कर ज़मीन पर घिसटता रहता हो। (हदीस : मुवत्ता) सोने चांदी के बर्तनों का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। मर्द रेशम नहीं पहन सकता। (हदीस : तिरमिज़ी) रहन-सहन का सामान ज़रूरत से ज़्यादा इकट्ठा नहीं करना चाहिए। (हदीस : मुस्लिम) इसी प्रकार ऊँची-ऊँची कोठियाँ और महल बनाकर रहना कोई अच्छी बात नहीं। नबी (सल्ल.) का फ़रमान है कि –

“सच्चे मुसलमान का हर खर्च जो वह अपने ऊपर करता है, वास्तव में अल्लाह के मार्ग में खर्च है, सिवाए (ज़रूरत से अधिक) निर्माण के कि उनमें कोई भलाई नहीं।” (हदीस: तिर्मिज़ी)

और यह कि – “भोग-विलासिता से मुसलमान को बहुत दूर रहना चाहिए।”

(हदीस: अहमद)

१. मौता २. तिर्मिज़ी ३. मुस्लिम

(७) पुरुष और स्त्री की जन्मजात शक्तियाँ और उनके कार्य के नैसर्गिक क्षेत्र जिस प्रकार अलग-अलग हैं, उसी प्रकार उनकी वेशभूषा भी अनिवार्यतः अलग-अलग रहनी चाहिए। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि – “अल्लाह तआला ने उन पुरुषों पर जो स्त्रियों का रंग-ढंग अपनाते हैं और उन स्त्रियों पर जो पुरुषों का रंग-ढंग अपनाती हैं, लानत (फिटकार) भेजी है।” (हदीस : बुखारी)

(८) किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु मनुष्य के लिए बड़े धैर्य-परीक्षण की घड़ी होती है। ऐसी स्थिति में भी हम धैर्य एवं सहिष्णुता और स्वाभिमान एवं बड़प्पन नहीं छोड़ना चाहिए। आदेश है कि – “ऐसे समय (अर्थात् शोककाल) में भी अधीरता और रोने-पीटने का प्रदर्शन न

करो।” (हदीस : अबूदाऊद) इसी प्रकार बड़ी-से-बड़ी खुशी के अवसर पर भी लोग आपे से बाहर होने लगते हैं, लेकिन इस्लाम ऐसा करने से मना करता है। (कुरआन, ५७:२३)

फिर स्वाभिमान बड़प्पन ही नहीं, बल्कि अच्छी रुचि का भी खयाल रखना जरूर है। आदेश है कि – “बाएँ हाथ से न खाओ।” (हदीस : इब्ने माजा) दाईं हाथ से इस्तिंजा न करो, बल्कि उससे गुप्तांग को हुओ तक नहीं। (हदीस : बुखारी) एक पाँव में जूता पहन कर न चलो। (हदीस : मुस्लिम) सिर का सिर्फ़ कुछ हिस्सा न मुण्डाओ। (हदीस : बुखारी)

(९) ऐसे काम न किए जाएँ जिनका कोई पारलौकिक या सांसारिका लाभ न हो। मोमिन के आधारभूत गुणों में से कुरआन मजीद ने एक गुण यह भी बता है कि वह “लगव” अर्थात् लाभहीन कामों से कोई अभिरुचि नहीं रखता। (कुरआन, २३:३) इसी प्रकार नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि “किसी के अच्छे मुस्लिम होने का लक्षण यह है कि आदमी निरर्थक कामों से भी दूर रहे। (हदीस : मुवत्त)

(१०) ऐसे आचरण न अपनाए जाएँ जिनमें किसी ग़ैर-इस्लामी समाज की कोई ख़ास रूह काम कर रही हो और जिनको अपना लेने के बाद मुसलमानों की सांस्कृतिक विशिष्टता या धार्मिक प्रकृति आहत हो जाती हो। उदाहरणतः आदेश है कि –

(अ) कोई मुसलमान ऐसा रूप-रंग न अपनाए जो ग़ैर-मुस्लिमों या फ़ासिकों (विधर्मियों) के लिए विशिष्ट हो, अन्यथा उनकी गणना उन्हीं में से होगी। (हदीस : अबू दाऊद)

(ब) दाढ़ी और मूँछ के विषय में बहुदेववादियों से भिन्न तरीक़ा अपनाओ दाढ़ी बढ़ाओ और मूँछ कतरवाओ। (हदीस : बुखारी)

(स) यहूदी और ईसाई अपने सफ़ेद बालों को यूँ ही रहने देते हैं, उनमें ख़िज़ाब नहीं लगाते। तुम मुसलमानों को उनके ख़िलाफ़ आचरण-रीति अपनानी चाहिए। (हदीस : बुखारी)

मतलब यह कि इस्लामी समाज का मिज़ाज़ ‘हनीफ़ी’ और यकरंग बनाया गया है। मुसलमानों की सामाजिक विशिष्टता हर स्थिति में बरकरार और हर पहलू से उत्कृष्ट रहनी चाहिए। उनके लिए ऐसी उदारता, उदारता नहीं बल्कि कपटपूर्ण आचरण है, जिससे इस्लाम और ग़ैर-इस्लाम में कोई छोटा-सा भी गुण सहधर्मिता को प्रकट करता हो। इस्लाम केवल इस बात को मानता है कि सफ़ेदी और चीज़ है और कालिमा दूसरी चीज़ है। इस बात को क़तई नहीं मानता कि सफ़ेदी और कालिमा दोनों एक ही जैसी चीज़ें हैं।

५. आर्थिक व्यवस्था

जो व्यक्ति इस्लाम को जानता है, वह यह भी जानता है कि उसकी निगाह में मानव का असल हित उसके परलोक का हित है। उसे आख़िरत ही के लिए जीना और मरना चाहिए। फिर मुस्लिम की पहचान ही यह है कि वह दुनिया पर आख़िरत को प्राथमिकता दे और उसी को अपना वास्तविक ध्यान-केन्द्र बनाए रखे। यह एक सुस्पष्ट और प्रत्यक्ष वास्तविकता है। सूरज से भी अधिक प्रकाशमान और स्पष्ट। लेकिन इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए और न इसका मतलब यह कभी भी लेना चाहिए कि इस्लाम संसार की उन बातों को सिरे से कोई महत्व ही नहीं देता जो मानव के भौतिक जीवन के लिए अपेक्षित होतीं और हो सकती हैं। इस्लाम ने इस ज़मीन पर इनसान की जो रचनात्मक हैसियत ठहराई है, उसकी पैदाइश का जो उद्देश्य बताया है, आध्यत्मिक (रुहानी) उच्चता और अल्लाह के सामीप्य की जो अवधारणा प्रस्तुत की और उसके लिए जो राजमार्ग नियत किया है – इन सारी चीज़ों को देखते हुए ऐसा विचार करना कि इस्लाम मानव की भौतिक आवश्यकताओं को कोई महत्व नहीं देता – स्पष्टतः अज्ञानता का प्रमाण देना है। “मोमिन” और “मुस्लिम” केवल आत्मा का नाम नहीं है, बल्कि आत्मा और शरीर दोनों के संग्रह का नाम है और एक मुसलमान को इस संसार में अपना फ़र्ज़ पूरा करने, अपने मिशन को लक्ष्य तक पहुँचाने और अपने पालनहार की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जो कुछ करना है, उसके लिए शरीर और शरीरिक शक्तियाँ भी जरूरत की चीज़ें हैं तथा उनका इस्तेमाल अपरिहार्य है। ऐसी स्थिति में वह जीवन-सामग्री भी क्यों आवश्यक न होगी, जिसपर शरीर और शरीरिक शक्तियों का अस्तित्व निर्भर है। और जिसे हम मानव की आजीविका एवं जीवनिर्वाह का साधन कहते हैं? यही कारण है कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने फ़रमाया है कि – “फ़र्ज़ इबादतों के बाद हलाल रोज़ी कमाना भी फ़र्ज़ है।”

(हदीस : बैहक़ी)

इसी तरह कुरआन मजीद में जीवन-सामग्री को जगह-जगह ‘अल्लाह का माल्’, ‘पाकीज़ा चीज़ें’, ‘अल्लाह की नेमतें’ और ‘अल्लाह का फ़ज़ल’ कहा गया है।

मतलब यह कि जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को भी इस्लाम अपेक्षित महत्व देता है और इसका उसने पूरा-पूरा प्रावधान भी कर रखा है कि कोई व्यक्ति इस जीवन-सामग्री से वंचित न रह जाए। यह प्रावधान सार्वभौमिक है और चहुँमुखी उपायों पर आधारित है।

(१) हर व्यक्ति को अपनी आजीविका स्वयं प्राप्त करने की प्रेरणा एवं उपदेश,

(२) कमाने और खर्च करने की अपेक्षित स्वतंत्रता और उन पर आवश्यक प्रतिबन्ध

(३) गरीबों की सहायता करने के बारे में धनवानों को नैतिक चेतावनी

(४) गरीबों के सम्बन्ध में धन-संपन्न लोगों का वैधानिक उत्तरादयित्व

इन चारों उपायों की संक्षिप्त व्याख्या यह है—

(१) हर व्यक्ति को अपनी आजीविका स्वयं

अर्जित करने की प्रेरणा एवं चेतावनी

(१) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका अर्जित करने की कोशिश को एक वैधानिक उत्तरदायित्व समझना चाहिए और किसी पर बोझ बनने के बजाए अपनी आजीविका स्वयं अपना पसीना बहाकर हासिल करनी चाहिए।

(हदीस : बखारी)

(२) भीख माँगकर अपनी आजीविका चलाना, अत्यन्त घृणित कार्य है और जो व्यक्ति भी किसी उचित विवशता के बिना दूसरों के सामने हाथ फैलाता है, वह हराम (अवैध) कमाता और हराम खाता है। (हदीस : मुस्लिम)

कमाने और खर्च करने की अपेक्षित स्वतन्त्रता और उन पर आवश्यक प्रतिबन्ध:-

(१) आजीविका अर्जन के समस्त वैध संसाधन हर व्यक्ति के लिए समान रूप से खुले रहेंगे। आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष एवं प्रयास करने का सभी को समता का अधिकार प्राप्त होगा। यहाँ एकाधिकार नाम की कोई चीज न होगी। कृषि, व्यापार, दस्तकारी, नौकरी मतलब यह कि आजीविका उपार्जन का कोई वैध साधन किसी व्यक्ति के लिए निषेध न होगा। हर व्यक्ति अपनी योग्यता और अपनी रुचि के मुताबिक आजीविका-साधन अपनाने में पूर्णतः स्वतन्त्र होगा, क्योंकि इस भूतल पर आजीविका के जितने भी साधन हैं, उन सब को अल्लाह ने अपने समस्त बन्दों के लिए ही पैदा किया है। (कुरआन, २:२९) इस लिए उनसे लाभान्वित होने का वैधानिक रूप से सभी को एक समान अधिकार प्राप्त है।

(२) भूमि और वातावरण की ऐसी समस्त वस्तुओं से जिनके पैदा करने और उपयोगी बनाने में किसी मानवीय श्रम का कोई हस्तक्षेप नहीं होता, सभी लोग अपनी जरूरत के मुताबिक लाभ उठाने का बराबर का अधिकार रखते हैं। नबी (सल्ल.) का फ़रमान है—

“सभी वे लोग जो ईश्वरपरायण हैं – तीन चीजों में बराबर का अधिकार रखते हैं – पानी, घास और आग।” (हदीस : अबूदाऊद)

इस हदीस में नाम यद्यपि मात्र तीन चीजों का लिया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह एक सैद्धान्तिक चेतावनी है और इससे अभिप्रेत यह है कि वे समस्त चीजें मूलतः सबके लिए समानरूप से वैध हैं, जिनकी उत्पत्ति नैसर्गिक रूप से आप से आप हुई हो और जिनमें किसी व्यक्ति का श्रम न लगा हो। इसी लिए महामान्य पैगम्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने उस व्यक्ति के बारे में, जो ऐसी चीजों के इस्तेमाल से लोगों को रोके फ़रमाया है कि –

“..... अल्लाह तआला क्रियामत के दिन उससे कहेगा कि आज मैं तुम्हें अपनी दयालुता से वंचित रखूँगा, जिस प्रकार कि तुम ने लोगों को उस चीज की “दयालुता” (अर्थात् अतिरिक्त भाग) से वंचित कर रखा था, जिसे तेरे हाथों ने बनाया और तैयार नहीं किया था।” (हदीस : तिरमिज़ी)

अतः नदी, तालाब और स्रोतों का पानी, जंगल की लकड़ी और घास और अपने आप उगे हुए पेड़ों के फल इसी प्रकार स्वतन्त्र पक्षी, पानी की मछलियाँ, जंगली जानवर, खुली हुई खानें, नमक के भण्डार आदि – सारी चीजें आम इस्तेमाल के लिए होंगी और उन जून पर समान रूप से सब का अधिकार होगा। पड़ी हुई सायर ज़मीन का मामला भी ऐसा ही है। जो चाहे उसे जोतकर और तैयार करके खेती कर सकता है। कोई उसे रोक नहीं सकता।

“पड़ी हुई सायर भूमि अल्लाह की और उसके रसूल की हैं। फिर ये मेरी ओर से तुम्हारे लिए भेंट हैं।” (हुज्जतुल्लाहिल बालिगा, भाग-२)

(३) आम इस्तेमाल की इन चीजों में से जितने हिस्से को भी कोई व्यक्ति अपनी मेहनत और दक्षता को व्यय करके अपने क़ब्जे में ले लेगा, उसका वह मालिक हो जाएगा, अब उससे वह चीज छीनी नहीं जा सकती। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

“जिस किसी ने कोई बंजर भूमि को कृषि योग्य बना लिया, वह उसका स्वामी है।” (हुज्जतुल्लाहिल बालिगा, भाग-२)

(४) कोई व्यक्ति आजीविका के प्राकृतिक संसाधनों को अपनी मिल्कियत में ला चुकने के बाद उसे बेकार छोड़े नहीं रख सकता। अगर तीन साल तक उसने कोई ज़मीन बेकार छोड़े रखी तो वह फिर अपनी असल स्थिति – सार्वजनिक वैधता – में वापस लौट जाएगी और उस समय जो व्यक्ति भी चाहेगा उसे अपने उपयोग में लाकर आबाद कर सकेगा। (किताबुल ख़िराज, पृ.७७)

प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह अपने धन को अतिरिक्त और धन प्राप्ति का साधन बनाए। व्यवसाय और कला दोनों चीजों की, जो धन को और अधिक बढ़ाने के व्यावहारिक साधन हैं, शरीअत (इस्लामिक-विधान) ने बड़ी प्रेरणा दी है और उनकी बड़ी महत्ता बयान की है।

(६) धन से अतिरिक्त धन निरंकुशता से प्राप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि उन पर कुछ सख्त नैतिक और कानूनी पाबंदियाँ लागू हैं और वे ये हैं –

(क) मामला करने में दोटूक सच्चाई और ईमानदारी अनिवार्य है ग्राहक को धोखा देना और उससे अपनी चीज का दोष छिपा कर बेच देना, बड़ा भारी गुनाह है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का फ़रमान है – “जिसने धोखा दिया वह मेरे लोगों में से नहीं।”

(हदीस : रिमिज़ी)

(ख) अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए झूठी क़समें खाना बड़े गुनाह की बात है। हदीस में आता है कि ऐसा व्यक्ति क्रियामत के दिन अल्लाह तआला की कृपादृष्टि से वंचित रहेगा। (हदीस : मुस्लिम)

(ग) ब्याज का कारोबार, चाहे वह किसी रूप में हो, हर स्थिति में निषेधित (मना) है। ब्याज लेना और ब्याज देना बिलकुल हराम है, (कुरआन, २:२७५) और हराम ही नहीं बल्कि ऐसा फौजदारी अपराध है, जिसकी स्थिति इस्लाम से बगावत और इस्लामी राज्य के विरुद्ध युद्ध की उद्घोषणा की-सी है।

(कुरआन, २:२७९)

(घ) कोई ऐसा साझे का कारोबार नहीं किया जा सकता, जिसमें एक पक्ष का लाभ तो सुनिश्चित हो, लेकिन दूसरे का अनिश्चित और संदिग्ध हो। इस प्रकार के समस्त कारोबार के मामले ब्याज के कारोबार ही की परिभाषा में आते हैं।

(ङ.) जुआ हराम और एक अपवित्र कर्म है। इससे दूर रहना चाहिए। कुरआन में है:

“ये शराब और जुआ और देवस्थान और पाँसे तो गंदे शैतानी काम हैं। अतः तुम इनसे दूर रहो।” (कुरआन, ५:९०)

जुआ न केवल यह कि स्पष्ट एवं प्रचलित ढंग का नहीं खेला जा सकता, बल्कि कोई भी ऐसा कारोबार या मामला नहीं किया जा सकता, जिसमें जुए के प्रकार का कोई अंश पाया जाता हो। उदाहरणतः सट्टा, लाटरी और वर्तमान के इंश्योरेंस आदि।

(च) जिन चीजों का खाना-पीना हराम है। उदाहरणतः – शराब, खून, सुअर और मुर्दार (स्वयंमृत पशु) आदि – इनका व्यापार एवं कारोबार भी हराम है। हदीस में है:

“अल्लाह ने और उसके रसूल (सल्ल.) ने शराब का, मुर्दार, सुअर और मूर्तियों के व्यापार को हराम (अवैध) ठहरा दिया है।” (हदीस : बुखारी भाग-१)

शरीअत में इनका न सिर्फ़ व्यापार हराम है, बल्कि इनसे होनेवाली आय एवं मूल्य भी हराम है हदीस में है:

“अल्लाह तआला जब किसी जाति के लिए किसी चीज का खाना हराम करता है, तो उसके मूल्य को भी हराम कर देता है।”

(हदीस : अबू दाऊद, भाग-२)

(छ) कारोबार में कोई ऐसा तरीका नहीं अपनाया जा सकता, जिससे दूसरे व्यक्ति या समाज को नुक़सान पहुँचता हो उदाहरणतः (१) भाव बढ़ाने के लिए आवश्यक जीवन-सामग्री को रोके रखना सख्त मना है। ऐसे व्यापारियों पर लानत व फिटकार लगाई गई है। (हदीस : इब्ने माजा) (२) इसी प्रकार मण्डी में आनेवाले व्यापारिक सामान को आगे बढ़कर रास्ते ही में ख़रीद लेना जाइज़ नहीं है। (हदीस : मुस्लिम, भाग-१) (३) और किसी शहरी को इस बात की अनुमति नहीं कि वह किसी देहाती का, जो मण्डी में अपना सामान बेचने लाया हो, वकील या ऐजेंट बन जाए और उसका सामान अधिक दामों में बेचने के लिए अपने पास रख ले। (हदीस : बुखारी, भाग-२)

(ज) कोई ऐसा लेन-देन नहीं किया जा सकता, जिसमें बेची जानेवाली चीज बेचनेवाले के अपने स्वामित्व में न हो, क्योंकि इससे उपद्रव एवं फ़साद पैदा होने की आशंका होती है और यही चीज आगे बढ़कर सट्टे का रूप ले लेती है, जिससे जीवन की आवश्यक सामग्रियों का मूल्य देखते-ही-देखते कहीं-से-कहीं पहुँच जाया करता है। (हदीस : अबू दाऊद)

(झ) जिस प्रकार रोज़ी-रोज़गार के वे सभी तरीके प्रतिबंधित हैं, जो दूसरों के लिए भौतिक अपकार का कारण बनते हों, उसी प्रकार वे साधन भी प्रतिबंधित हैं जिनसे लोगों को नैतिक या धार्मिक हानि पहुँचती हो। नशीली चीजों को, तस्वीरों को, नाच-गाने को, कामुक एवं अश्लील साहित्य की तैयारी और उसके प्रकाशन एवं प्रचार को, वर्तमान प्रकार के सिनेमा को और इसी रंग-ढंग व प्रकार की दूसरी चीजों को जीविकोपार्जन का साधन बनाने को अवैध ठहराया है।

(ञ) लेन-देन का कोई ऐसा मामला, जो धोखा एवं फ़रेब की श्रेणी में आता हो और जिसके कारण दोनों पक्षों में तनाव उत्पन्न हो सकता हो – नहीं किया जा सकता। (हदीस : अबू दाऊद)

(ट) उपरोक्त सीमाओं एवं मर्यादाओं का अनुपालन करते हुए जो धन भी प्राप्त होगा, वह यद्यपि व्यक्ति की अपनी वैध व्यक्तिगत सम्पत्ति होगी, जिसको वह स्वयं खर्च कर सकेगा, किन्तु उसे स्वयं व्यय कर सकने का यह अधिकार बिना शर्त एवं सीमारहित नहीं है। बल्कि उस पर बहुत-सी नैतिक और वैधानिक पाबंदियाँ लागू हैं। यदि उसने इन पाबन्दियों को तोड़ा तो शासन उसका हाथ पकड़ लेगा और यदि वह शासन की पकड़ में आने से बच भी गया, तो आखिरत (परलोक) की पकड़ से किसी भी स्थिति में न बच सकेगा। इन प्रतिबन्धों एवं पाबन्दियों में से कुछ की व्याख्या इस वार्ता की अगली पंक्तियों में आ रही है और कुछ का “सामाजिक व्यवस्था” की वार्ता में वर्णन किया जा चुका है। उनका सार यह है कि शिष्ट शैली का आरामदेह और खुशहाल जीवन जरूर व्यतीत किया जा सकता है, किन्तु विलासिता, उन्माद, घमण्ड, अभिमान और आडम्बरयुक्त जीवन नहीं गुजारा जा सकता।

जरूरतमंद व्यक्तियों की जरूरतें पूरी करने के सम्बन्ध में धनवानों को नैतिक चेतावनी:-

आजीविको और धन प्राप्त करने की स्वतंत्रता यद्यपि सभी लोगों को समान रूप से प्राप्त है लेकिन चूँकि पैदाइशी तौर पर समस्त व्यक्तियों को मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ समान रूप से नहीं प्राप्त हैं, बल्कि उनमें बड़ा भारी अन्तर होता है; फिर परिस्थितियाँ और संयोग भी सबका समान रूप से साथ नहीं दिया करते, इसलिए यह आशा नहीं की जा सकती कि सभी लोगों के आर्थिक प्रयासों के परिणाम समान और बेहतर ही होंगे। इसके विपरीत पूरी सम्भावना है, और अवलोकन बताता है कि कि केवल यही सम्भव है कि समाज के कुछ लोग लाखों के स्वामी बन गए हों तो कुछ दो वक्रत की रोटी भी न पैदा कर सके हों। यद्यपि हर व्यक्ति के लिए जीवन की आवश्यक सामग्री, आर्थिक आवश्यकताओं की उपलब्धता – जैसा कि अभी मालूम हो चुका – इसकी केवल सांसारिक आवश्यकता ही नहीं धार्मिक आवश्यकता भी है दूसरी ओर समस्त मानवजाति की हैसियत इस्लाम यह निश्चित करता है कि वह परिपूर्णतः अल्लाह का “परिवार” है। (हदीस: बैहक्री) अगर हम अपने परिवार को नंगा-भूखा देखना पसन्द नहीं करते तो यह कैसे सम्भव है कि अति करुणामय एवं कृपाशील अल्लाह अपने “परिवार” को नंगा-भूखा देखना पसन्द करेगा। इन कारणों से इस्लाम पूरा जोर देकर कहता है कि आर्थिक प्रयासों में असफल रह जानेवाले लोगों की जरूरतें वे लोग पूरी करें, जो इस संघर्ष में सफल रहे। यह उनकी और समाज की समष्टीय व्यवस्था अर्थात् सरकार का उत्तर दायित्व है कि उन्हें भूखा-नंगा न रहने दिया जाए। क्योंकि इस संसार में जीवनयापन का जो सामान अल्लाह तआला ने उतारा है, वह इसके समस्त निवासियों के लिए उतारा है। इसलिए अगर अपनी वित्तीय दौड़-धूप के उपरांत भी किसी कारण से कुछ लोग अपनी वास्तविक आवश्यकता को पूरा कर सकने में सफल नहीं हो पाते, और कुछ अपनी जरूरत से अधिक कमा लेते हैं, तो उनकी यह अधिक कमाई वास्तव में उनकी अपनी जरूरत की और अपने अधिकार की चीज़ नहीं होती, बल्कि यह वास्तव में दूसरों का हक होता है, जो अल्लाह तआला की मर्जी की हिकमत और निहित हित के अधीन उनके पास पहुँच गया है। मानो उसकी हैसियत एक अमानत की-सी होती है, जिसके वे अमीन (अमानतदार) होते हैं। उन अमानतदारों का अनिवार्य कर्तव्य होता है कि असल हकदारों को उनका हक और उनकी अमानत पहुँचा दें। ईमानवालों के लक्षण बयान करते हुए कुरआन हकीम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

“अर्थात् और उनके मालों में याचको और निर्धनों का ‘हक’ होता है।” (कुरआन, ५१:१९)

समाज के निर्धन और मुहताज लोगों तक उनका यह “हक” पहुँचा देने के बारे में मालदारों को जो नैतिक चेतावनियाँ दी गई हैं, वे ये हैं—

१. “लोगो ! तुम नेकी का मक़ाम किसी स्थिति में नहीं पा सकते, जब तक कि अपने सबसे प्रिय धन का एक भाग अल्लाह के मार्ग में खर्च न कर दो।” (कुरआन, ३:९२)

२. यह बात ईमान के विरुद्ध है कि कोई व्यक्ति अपना पेट भरकर खाकर सोए और उसका पड़ोसी भूख से करवटें बदल रहा हो। (हदीस : बैहक़)

३. धनवान होना एक बड़ी परीक्षा ही नहीं है, बल्कि एक खतनाक उत्पात (फ़ितना) है और सामान्य रूप से यह अति घृणित दुष्परिणाम ही का कारण बनता रहता है। इस दुष्परिणाम से केवल वही लोग बच सकते हैं, जो अपनी दौलत को अल्लाह के मुहताज बन्दों पर और दूसरे धार्मिक कामों में बेझिझक खर्च करते रहें। नबी (सल्ल.) ने एक बार फ़रमाया कि — “काबा के रब की क्रसम ! यही लोग सबसे ज्यादा घाटे में रहेंगे।” पूछा गया, “ये कौन लोग हैं ?” फ़रमाया, “ये दौलत के भण्डार रखनेवाले हैं, उनमें से केवल वही लोग इस अपधन से सुरक्षित रहेंगे जो अपनी दौलत खुदा की राह में बराबर और निरन्तर देते रहते हैं, यद्यपि ऐसे लोग अधिक नहीं होते। (हदीस : बुखारी)

(२) ग़रीबों के सम्बन्ध में धनवानों का इस्लामी संवैधानिक उत्तरदायित्व:-

जरूरतमन्दों के इस “हक” की महत्ता को देखते हुए, धनवानों पर निम्न नैतिक चेतावनियों के साथ-साथ कुछ इस्लामी संवैधानिक ज़िम्मेदारियाँ भी लागू की गई हैं और वे ये हैं—

१. प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो निर्धन एवं मुहताज नहीं है, प्रति वर्ष अपनी संपत्ति और पैदावर का एक निश्चित भाग ग़रीबों को उनका

वैधानिक अधिकार समझकर अनिवार्यतः देना पड़ेगा। समाज की एक समष्टि-व्यवस्था एक-एक व्यक्ति से ज़कात और उश्न (सम्पत्ति का १०वाँ भाग) की यह मात्रा वसूल करेगा और गरीबों तक पहुँचाने का प्रबन्ध करेगा। कोई व्यक्ति ज़कात और उश्न देने से इनकार नहीं कर सकता। अगर करेगा तो न केवल यह कि अपनी आखिरत (परलोक) बिगाड़ेगा, बल्कि दुनिया में भी हुकूमत की कठोर कारवाइयों से दो-चार होगा।

२. अगर ज़कात और उश्न की यह मात्रा गरीबों की ज़रूरतें पूरी करने और दूसरे सामाजिक कामों के लिए पर्याप्त न होगी, तो शासन पूँजी पतियों पर कर (बु) भी लगाएगा।

३. जब कोई व्यक्ति देहान्त कर जाए तो उसकी छोड़ी हुई संपत्ति उसके विभिन्न निकट सम्बन्धियों में वितरित कर दी जाएगी और अगर निकट-सम्बन्धी मौजूद न हों तो दूर के रिश्तेदारों में बाँट दी जाएगी। (इस कार्य के लिए शरीअत में विरासत का विस्तृत क़ानून मौजूद है।) इस प्रकार संपत्ति समाज में थोड़ी जगहों पर सिमटी रहने के बजाए अनेक दिशाओं में लगातार फैलती रहती है। जिससे गरीबी का वृत्त बराबर सिकुड़ता रहा है, क्योंकि संपत्ति का गतिमान रहना और उसका उचित वितरण किसी समाज में आर्थिक ऊँच-नीच कम करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन होता है।

६. राजनैतिक व्यवस्था

इस्लामी राजनैतिक व्यवस्था की नींव दो आधारभूत वास्तविकताओं पर निर्भर है—

(क) अल्लाह तआला की हैसियत, जो वह ब्रह्माण्ड के — विशेषकर मानवजाति के — मुक्राबले में रखता है। जिस प्रकार स्रष्टा और पालनहार होने की है, उसी प्रकार उसके वास्तविक शासक होने की भी है।

(ख) इनसान की हैसियत जिस प्रकार सर्वजगत् के पालनहार अल्लाह तआला की सृष्टि और पालित होने की है, उसी प्रकार उसके गुलाम (दास) और इस भूमि पर उसके प्रतिनिधि (खलीफ़ा) होने की भी है।

इन दोनों मूलभूत वास्तविकताओं के आधार पर इस्लाम ने राजनीति की जो व्यवस्था स्थापित की है, उसकी स्पष्ट रेखाएँ ये हैं —

(१) सर्वोच्च सत्ता और यथार्थ शासन वास्तव में अल्लाह के लिए विशिष्ट है। इसमें कोई व्यक्ति या ख़ानदान या कोई वर्ग, बल्कि समस्त मानवजाति भी ज़रा बराबर उसकी शरीक व भागीदार नहीं, सब के सब उसी की जन्मजात रैयत हैं।

“निसंदेह, सत्ता और अधिकार तो बस अल्लाह का है। उसने आदेश दिया है कि उसके सिवा किसी की बन्दगी न करो।”

(क़ुरआन, १२:४०)

(२) वास्तविक विधि-प्रदाता केवल अल्लाह है। उसी का दिया हुआ संविधान मानव-जीवन का संविधान है और उसी का दिया हुआ क़ानून मानव-जीवन का क़ानून है। किसी भी व्यक्ति या संस्था को स्वयं यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह अपने लिए या किसी और के लिए संविधान एवं क़ानून की रचना करे।

(३) अल्लाह का नबी इस दुनिया में उसका प्रतिनिधि और उसके आदेशों एवं इच्छाओं का व्याख्याकर्ता होता है। इसलिए उसकी हैसियत भी अधीनस्थ विधिकर्ता की है और उसके दिए हुए आदेश भी उसकी प्रकार पालन के लिए अनिवार्य होंगे, जिस प्रकार वास्तविक विधिनिर्माता अर्थात् अल्लाह तआला के होते हैं —

“रसूल जो कुछ तुम्हें दे उसे ले लो और जिस चीज़ से तुम्हें रोक दे उससे रुक जाओ।”

(क़ुरआन, ५९:७)

रसूल का आज्ञानुपालन ठीक अल्लाह तआला का आज्ञानुपालन होती है —

“जिसने रसूल की आज्ञा का पालन किया, उसने अल्लाह की आज्ञा का पालन किया।”

(४) अल्लाह और रसूल (सल्ल.) के दिए हुए आदेश एवं विधान के ठीक-ठीक अनुपालन के लिए और समाज में उनको लागू करने के लिए एक सामूहिक व्यवस्था और एक शासनात्मक संस्था की स्थापना अनिवार्य है। इस्लामी संविधान (शरीअत) के पंडितों ने विस्तार से लिखा है कि —

“इस बात पर इस्लाम के अनुयायीगण एकमत हैं कि अमीरुलमोमिनीन (मुसलमानों का अध्यक्ष अर्थात् इमाम) की नियुक्ति अनिवार्य है।”

(शरह अक्राइद निस्फ़िया)

शरीअत की परिभाषा में इस सामाजिक व्यवस्था और शासनात्मक संस्था को “ख़िलाफ़त” या “इमामत” या “अमारत” कहा गया है और यह मौलिक रूप से एक व्यक्ति पर संगठित होता है, जिसे — ‘ख़लीफ़ा’ या ‘इमाम’ या ‘अमीर’ कहते हैं।

(५) इस्लामी राज्य में नागरिक अधिकार हर उस व्यक्ति को प्राप्त होगा, जो इस्लाम पर ईमान रखता हो। इस प्रकार केवल वही मुसलमान उस इस्लामी राज्य के नागरिक न होंगे, जो उसकी सीमा में पैदा हुए हों, बल्कि संसार के किसी भी भाग का रहनेवाला मुसलमान, जैसे ही उस राज्य में आएगा आप ही आप उसका नागरिक बन जाएगा।

“मोमिन मर्द और मोमिन औरतें वे सब परस्पर एक-दूसरे के मित्र हैं।”

(कुरआन, ९:७१)

(६) इस्लामी राज्य के अन्दर रहनेवाले जो लोग इस्लाम को अपना धर्म नहीं मानते होंगे, वे भी यद्यपि राज्य के नागरिक ही होंगे किन्तु उनकी नागरिकता कुछ भिन्न प्रकार की होगी। इस प्रकार के नागरिकों को इस्लामी परिभाषा में “ज़िम्मी” कहा जाता है। “ज़िम्मी” इसलिए कहा जाता है कि राज्य उनकी जान व माल और इज़्जत की रक्षा का ज़िम्मेदार होता है। ज़िम्मियों के अधिकार ‘खलीफ़ा’ और राज्य की इच्छा पर निर्भर नहीं होते कि वह जब चाहे उनमें कमी कर दे। बल्कि अल्लाह एवं उसके रसूल की ओर से नियत किए हुए हैं और इस्लामी शासन हर स्थिति में उन्हें पूरा करने का पाबन्द होता है।

(७) ‘खलीफ़ा’ का काम यह है कि वह वास्तविक शासक (अल्लाह तआला) के आदेश एवं उसकी इच्छाओं के अनुकूल सत्ता की व्यवस्था, स्थापित कर लोगों में न्याय की स्थापना करे, उनके अधिकारों की रक्षा करे, देश एवं समाज की रक्षा करे और सबसे अंतिम बात यह कि उस उद्देश्य को पूरा करे जिसके लिए अल्लाह तआला ने इस्लाम को अवतरित किया। नुबूवत के समापक तथा अन्तिम नबी (सल्ल.) को पैदा किया और मुस्लिम समुदाय का प्रादुर्भूत किया है। इस सम्बन्ध में वह खुदा और प्राणी जगत् के सामने उत्तरादयी होगा।

(८) खिलाफ़त की इस भारी ज़िम्मेदारी का हक़ अदा करने में ‘खलीफ़ा’ की सहायता करने हेतु एक सलाहकार समिति (मजलिसे शूरा) होगी और उस पर अनिवार्य होगा कि वह देश की व्यवस्था इस समिति की सलाह से चलाए। अल्लाह के नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) तक को अल्लाह तआला का यह आदेश था कि वह महत्वपूर्ण मामलों में अपने साथियों से मशवरों से मशवरा कर लिया करें।

(९) खलीफ़ा वह व्यक्ति बनता है जिसे इस्लामी सोसायटी इस भारी ज़िम्मेदारी के योग्य समझती है और उसकी खिलाफ़त पर राज़ी होती है। वह चुनाव के द्वारा सत्तारूढ़ होता है। अगर वह अपने कर्तव्य को पूरा करने में लापरवाह सिद्ध होता है, तो उसे पद से हटाया भी जा सकता है। यहाँ तक कि अगर यह लापरवाही कभी खिलाफ़त के मौलिक उद्देश्यों से मुख मोड़ने की सीमा को पहुँच जाए तो ऐसी स्थिति में नागरिकों का अनिवार्य कर्तव्य हो जाएगा कि उसके हाथ से खिलाफ़त की लगाम तुरन्त छीन लें।

(१०) ‘खलीफ़ा’ के चुनाव का क्या तरीका हो?— इस सम्बन्ध में शरीअत ने कोई सुनिश्चित पद्धति अपनाने का आदेश नहीं दिया है, बल्कि सिर्फ़ यह किया है कि एक ओर तो चुनाव का उद्देश्य बता दिया है, दूसरी ओर उसके तरीके के सम्बन्ध में एक सैद्धांतिक निर्देश दे दिया है। अब इस उद्देश्य को पूरा कर देनेवाला और इस सैद्धांतिक निर्देश से अनुकूलता रखनेवाला, चुनाव का जो ढंग भी अपनाया जाएगा, वह इस्लामी तरीका होगा। उद्देश्य तो यह है कि केवल ऐसा व्यक्ति सत्ता में आए जो अपने ज्ञान, अपने तक्रवा (संयम), अपने चिंतन और अपनी बौद्धिक प्रतिभाओं और व्यावहारिक शक्तियों के आधार से समष्टि रूपेण सभी में श्रेष्ठ हो, और आम लोगों को उसका विश्वास और आदर प्राप्त हो। सैद्धांतिक निर्देश यह है कि चुनाव मूलतः समाज के केवल वे लोग करें जो अपनी सूझबूझ, अपनी धर्मपरायणता और अपनी निर्णय-शक्ति की दृष्टि से समाज के “ऊलिल-उग्र” अर्थात् समस्याएँ हल करने की क्षमता रखनेवाले प्रतिष्ठित एवं आदर्य और पेशवा हों। शेष लोग यानी आम जनता उनका समर्थन करें। यह सैद्धांतिक निर्देश भी वास्तव में इसी लिए दिया गया कि चुनाव का उद्देश्य ज़्यादा अच्छी तरह हासिल हो सके।

(११) ‘खिलाफ़त’ का पद (और इसी प्रकार शासन का कोई भी पद) किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, जो उसकी स्वयं माँग करे या उसका इच्छुक हो। हुज़ूर (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि—

“खुदा की क्रसम हम इस काम पर किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं करते जो स्वयं उसकी माँग करता हो और न ऐसे व्यक्ति की (नियुक्ति करते हैं) जो उसकी इच्छा रखता हो।”

(हदीस : मुस्लिम)

इसका कारण यह है कि इस्लाम में शासन “अधिकार” नहीं है, बल्कि “ज़िम्मेदारी” और “धरोहर” (हदीस : मुस्लिम) है जिसकी खुदा के सामने भारी जवाबदेही करनी होगी। (हदीस : मुस्लिम) इसलिए कोई संवेदनशील सच्चा मुसलमान उसका याचक और इच्छुक होकर अपने आप इस बात का साहस नहीं कर सकता कि कल अल्लाह के सामने जब उपस्थित हो, तो हिसाब देने के लिए उसकी ज़िम्मेदारियों में हज़ारों और लाखों खुदा बन्दों के हक़ अदा करने की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी भी सम्मिलित हो। अतः नबी (सल्ल.) ने फ़रमाया भी है कि—

“तुम सबसे अच्छे व्यक्ति (अर्थात् उत्तम पुरुष) को पाओगे कि वह लोगों की ज़िम्मेदारियों और अध्यक्षता के पदों को सबसे ज़्यादा नापसन्द करनेवाला होता है।” (हदीस: बुखारी)

अतः कोई व्यक्ति अगर किसी पद की ओर स्वयं लपकता है, तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि उसे उस फ़रीजे (अनिवार्य कर्तव्य) की वास्तविक हैसियत और उसकी भारी ज़िम्मेदारियों का एहसास ही नहीं है और ज़ाहिर है जिसे किसी काम के वास्तविक हैसियत का और उसकी ज़िम्मेदारियों का एहसास ही न हो वह उसको सही ढंग से पूरा भी नहीं कर सकता।

(१२) किसी व्यक्ति के लिए उचित नहीं कि वह निर्वाचित ‘खलीफ़ा’ की खिलाफ़त (अर्थात् शासन) स्वीकार करने से इनकार कर

दे। अगर कोई ऐसा करेगा तो इस्लाम के राजमार्ग से हटकर अज्ञानता के मार्ग पर जा पड़ेगा। (हदीस : मुस्लिम) क्योंकि यह इनकार वास्तव में एक व्यक्ति की 'खिलाफत' का इनकार नहीं है बल्कि पूरे इस्लामी राज्य का इनकार और उसके खिलाफ बगावत का एलान है।

(१३) हर व्यक्ति पर इस्लामी संविधान के अनुसार यह अनिवार्य है कि मुसलमानों के खलीफा के आदेशों का अनुपालन करे। कुरआन में है –

“ऐ ईमान लानेवालो (अर्थात् मुसलमानो)! अल्लाह की आज्ञा का पालन करो और रसूल का कहना मानो और उनका भी कहना मानो जो तुममें खलीफा (अर्थात् अधिकारी लोग) हैं। (कुरआन, ४: ५९)

खलीफा के आदेशपालन से इनकार करना वास्तव में खुदा और उसके रसूल के आदेश का पालन करने से इनकार करना है। (हदीस : मुस्लिम) किन्तु यदि वह गुनाह का और इस्लामी शरीअत के खिलाफ किसी काम का आदेश देता है, तो ऐसी स्थिति में उसकी आज्ञा का न मानना जरूरी है। (हदीस : मुस्लिम)

मुसलमानों के खलीफा का केवल यही हक नहीं है कि उसका आज्ञानुपालन किया जाए, बल्कि यह भी है कि दिल से उसकी खैरख्वाही (शुभचिंता) की जाए। यह इस्लाम और दीनदारी (धर्मपरायणता) की अनिवार्य माँग है। (हदीस : मुस्लिम)

(१४) जनता के अनिवार्य कर्तव्यों में से ही नहीं बल्कि उसका उत्तरदायित्व है कि वे खलीफा और उसके अधीन कर्मचारियों पर निरीक्षण की कड़ी निगाह रखें। वे जहाँ भी गलती करते पाए जाएँ, तुरन्त टोक दिए जाएँ। अगर टेढ़ी राह चलें तो हर प्रकार के उचित प्रयास करके उन्हें सीधी राह चलने पर विवश कर दिया जाए। हज़रत अबू बक्र सिद्दीक (रज़ि.) ने खलीफा नियुक्त होने के बाद लोगों को उनकी यह ज़िम्मेदारी याद दिलाते हुए उनसे इस निरीक्षण की स्वयं माँग की थी और फ़रमाया था कि – “अगर मैं टेढ़ी राह अपनाऊँ तो मुझे सीधा कर देना। (तारीखे तबरी, फ़ारसी अनुवाद, भाग-४)

(१५) जिन समस्याओं और विषयों के सम्बन्ध में अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) के स्पष्ट आदेश मौजूद न होंगे, उनके लिए क़ानून बनाए जाएँगे। ये क़ानून मुसलमानों का खलीफा और उसकी सलाहकर समिति बनाएगी।

(१६) इस्लामी राज्य प्रत्येक व्यक्ति की, चाहे वह मुस्लिम हो या ग़ैर-मुस्लिम, जान माल और इज़्जत की रक्षा का उत्तरदायी होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पद्धति से उपासना करने और अन्तःकरण को सांवरने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। मत अभिव्यक्ति पर मात्र इतना प्रतिबन्ध होगा कि राज्य के विरुद्ध बगावत की दीक्षा न दी जाए और न इस प्रकार की बातें कही जाएँ जो देश में उपद्रव एवं आतंक फैलानेवाली या नैतिक गिरावट पैदा करनेवाली हों। किसी व्यक्ति का अपराध साबित किए बिना उसकी स्वतन्त्रता न छीनी जा सकेगी।

(१७) इस्लामी राज्य की स्थापना का उद्देश्य और शासन-कर्तव्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है। इसके मूलभूत बिन्दु कुरआन हकीम की ये आयतें निश्चित करती हैं –

“हमने अपने पैगम्बरों को स्पष्ट प्रमाणों के साथ भेजा और उनके साथ किताब और तुला उतारी ताकि लोग न्याय पर जमे रहें और हमने लोहा उताया।” (कुरआन, ५७: २५)

“ऐ दाऊद! हमने तुम्हें ज़मीन में अपना खलीफा बनाया है। अतः— लोगों के बीच सत्यनिष्ठता के साथ फैसला किया करो।” (कुरआन, ३८: २६)

“ये वे लोग हैं कि अगर हम उन्हें ज़मीन में सत्ता प्रदान करें तो वे नमाज़ का आयोजन करेंगे, ज़कात अदा करेंगे और भलाई का आदेश देंगे और बुराई से रोकेँगे।” (कुरआन, २२: ४१)

पहली दो आयतें इस्लामी शासन क़ायम करने का सामान्य और तीसरी उसका विशेष उद्देश्य स्पष्ट करती है। पहली आयतों से ज्ञात होता है कि शासन का काम समाज में न्याय एवं इनसाफ़ को स्थापित करना है और यह एक ऐसा उद्देश्य है जो नितान्त सामान्य प्रकार का है। न्याय की स्थापना – केवल इस्लामी राज्यों ही का मुख्य उद्देश्य नहीं होता, वरन् दुनिया की हर हुकूमत कम-से-कम अपने इरादे और दावे की हद तक इसी उद्देश्य से स्थापित हुआ करती है। एक उद्देश्य है जो शासनात्मक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए हर समाज में अपरिहार्य है। तीसरी आयत इस सामान्य उद्देश्य पर एक वृद्धि करती हुई इस्लामी राज्य का उद्देश्य यह बताती है कि समाज को नमाज़ का आयोजन करनेवाला, ज़कात देनेवाला, भलाई से स्वयं प्यार करनेवाला और दूसरों को उसका आदेश देनेवाला तथा बुराई से स्वयं बचनेवाला और दूसरों को उससे बचाने एवं रोकनेवाला बनाया जाए, और यह वह उद्देश्य है जो इस्लामी राज्य का विशिष्ट एवं सर्वोपरि उद्देश्य होता है, जिसका किसी अन्य शासन व्यवस्था में नितान्त अभाव होता है यह मक़सद जिन चार आधार योजनाओं (नमाज़ का आयोजन, ज़कात देना, भलाई का हुकम देना और बुराई से रोकना) पर अभिव्याप्त है, थोड़ा ग़ौर कीजिए तो ज्ञात होगा कि यह वास्तव में पूरे धर्म को क़ायम रखने, उसकी बरकतों के क्षेत्र को बढ़ाते रहने और समाज को सही इस्लामी समाज बनाये रखने की सर्वश्रेष्ठ ज़िम्मेदारी और

अनथक प्रयास ही का दूसरा नाम है।

७. विधीय व्यवस्था

इस्लामी वैधानिक व्यवस्था की आधारभूत बातें ये हैं –

१. विधि के मूल स्रोत दो हैं – (१) कुरआन और (२) हदीस – इनके अन्दर जितने क़ानून स्पष्ट रूप में मौजूद हैं, वे दोटूक और अटल हैं और हर परिस्थिति में अनिवार्य रूप से स्वीकार्य और अनुकरणीय हैं। उनमें कभी कोई साधारण फेरबदल भी नहीं हो सकता और न कोई खलीफ़ा (शासनाध्यक्ष) शासन-प्रबन्ध के संचालन में उनकी किंचित् मात्र अवहेलना कर सकता है और न किसी शासक के लिए वैध है कि मामलों का फ़ैसला उनसे हटकर करे। ऐसा करना इस्लाम से हाथ धो बैठना है –

“जो लोग अल्लाह के उतारे हुए क़ानून के अनुसार फ़ैसला न करें, वही सत्य के इनकारी अर्थात् अधर्मी हैं।”

(कुरआन ५:४४)

२. जिन समस्याओं और विषयों के सम्बन्ध में कुरआन और हदीस में मौजूद न हों उनके लिए सामयिक परिस्थिति और ज़रूरतों के मुताबिक़ क़ानून स्पष्ट किए जाएँगे। ये क़ानून वे लोग स्पष्ट करेंगे जो अपने ज्ञान एवं ईश-परायणता (तक़्वा), अपनी धार्मिक दूरदर्शिता, अपनी विधीय कुशलता और सामयिक माँगों से सम्बन्धित अपनी गहरी जानकारी के आधार पर उसके पात्र होंगे। यह विधि-निर्माण का कार्य आम न न होगा, बल्कि केवल उन्हीं मामलों में हो सकेगा, जिनके बारे में कुरआन एवं हदीस के स्पष्ट आदेश मौजूद न होंगे। इसी प्रकार यह कार्य न स्वच्छन्दता के साथ किया जा सकेगा, बल्कि ‘दीन’ के स्वभाव और शरीअत के निश्चित उसूलों एवं लक्ष्यों के अधीन ही होगा तथा इन्हीं को सामने रखकर किया जाएगा।

इस प्रकार के क़ानून-निर्माण को इस्लामी परिभाषा में “क्रियास” अर्थात् अनुमान कहते हैं। अनुमानित आदेशों एवं क़ानूनों की हैसियत दोटूक और अपरिवर्तनीय एवं मतभेद रहित शरीअत के आदेशों की नहीं होती, बल्कि उनमें मतभेद हो सकता है और परिवर्तन की आवश्यकता भी पड़ सकती है। मतभेद इसलिए हो सकता है कि यह मानवीय समझबूझ एवं मत का विषय है, जिसमें मतभेद का होना स्वाभाविक बात है। परिवर्तन की आवश्यकता इसलिए पड़ सकती है कि ‘क्रियास’ और ‘इज्तिहाद’ में सामयिक हालात और उसकी अपेक्षाओं को भी सामने रखना ज़रूरी होता है और ये हालात और माँगें निरन्तर बदलती रहती हैं। यद्यपि ऐसा ‘क्रियास’ जिस पर पूरी मिल्लत के इस्लामिक विद्वान व धार्मिक तथ्यान्वेषक सहमत हो गए हों मतभेद रहित होता है और उसकी हैसियत भी स्थायी क़ानून की-सी हो जाती है। इस सहमति को इस्लामी परिभाषा में “इज्माअ” अर्थात् किसी एक बात पर बहुमत का होना कहते हैं।

इस प्रकार इस्लामिक विधि के स्रोत चार हो जाते हैं – (१) कुरआन, (२) हदीस (३) क्रियास और (४) इज्माअ।

३. इस्लामी विधान सभा, प्रशासन से पूरी तरह स्वतन्त्र होगी। विधि निर्माण पर प्रशासन के किसी प्रभाव एवं अधिकार का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होता। विधि-निर्माताओं के समक्ष केवल अल्लाह और रसूल (सल्ल.) की मंशा को यथा सम्भव ठीक-ठीक अभिव्यक्त करना लक्ष्य होता है। इस्लाम में विधि-निर्माण का अर्थ यह जानने और बताने के सिवा और कुछ नहीं होता है कि अगर अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के सामने अमुक मामला या मसला पेश होता तो उसका फ़ैसला या जवाब हमारे अनुमान के मुताबिक़ यह होता।

४. इस्लामी विधान सभा की तरह न्यायपालिका भी प्रशासन से पूरी तरह मुक्त होगी। न्यायधीशों (क्वाज़ियों और जजों) की नियुक्ति यद्यपि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासन ही करेगा, लेकिन जब एक न्यायाधीश (क्वाज़ी) की नियुक्ति हो गई तो अब वह अदालत की कुर्सी पर शासन व सरकार का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि वह खुदा और उसके रसूल (सल्ल.) का प्रतिनिधित्व करता है और उसके लिए शरीअत के आदेश के सिवा और कोई चीज़ लिहाज़ करने योग्य नहीं रह जाती।

५. वैधानिक शक्ति सर्वोपरि है। कोई क़ानून से उच्च नहीं होता – धनी व निर्धन का, विशिष्ट व सामान्य का यहाँ कोई भेदभाव नहीं पाया जाता। ऊँचे से ऊँचा व्यक्ति, यहाँ तक कि वक्त्र का खलीफ़ा (शासनाध्यक्ष) क़ानून का उसी प्रकार गुलाम है, जिस प्रकार एक बेकस फ़क़ीर होता है। अगर किसी मामले में खलीफ़ा मुद्दयी(दावेदार) या मुद्दआ अलैह (जिस पर दावा किया गया हो) हो तो अदालत में उसे भी उस हैसियत से उपस्थित होना होगा, जिस प्रकार और जिस हैसियत से दूसरे लोग उपस्थित हुआ करते हैं। इसी प्रकार अगर क़ानून किसी मुक़द्दमे में उसे मुजरिम (अपराधी) ठहरा देता है, तो उसे भी सुनिश्चित दण्ड अनिवार्यतः भुगतना पड़ेगा।

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के ये शब्द क़ानून की सर्वोच्चता के इतिहास में अनुपम हैं, जिनकी मिसान कहीं नहीं मिलती।

“अगर मुहम्मद की बेटी फ़ातिमा भी चोरी करती तो खुदा की क्रसम में उसका भी हाथ काट देता।” (हदीस : बुखारी, भाग-२)

जिन अपराधों की सज़ाएँ कुरआन हदीस के अन्दर दोटूक शैली में और स्पष्ट तरीके पर निश्चित कर दी गईं, उनको लागू करने के लिए खलीफ़ा भी नहीं रोक सकता। चोरी का अपराध साबित हो जाने के बाद हाथ कट कर रहेगा, व्यभिचारी को संगसारी (पत्थरों से मार-मारकर मार डालना) की या सौ कोड़ों की सज़ा मिल कर रहेगी, व्यभिचार की झूठी तोहमत लगानेवाले को अस्सी दुर्रे (कोड़े) खाने ही

पढ़ेंगे। यहाँ “रहम की दरख्वास्त” मंज़ूर करने का किसी गवर्नर या राष्ट्रपति या और किसी को अधिकार प्राप्त नहीं।

(६) ताज़ीरात (अर्थात् फौजदारी अपराधों की सज़ाएँ) केवल उसी स्थिति में लागू की जाएँगी जबकि समाज और वातावरण वस्तुतः इस्लामी हो और परिस्थितियाँ सामान्य हों। अगर समाज व्यवहारतः इस्लामी रंग का न हो, या हालात ऐसे असाधारण हो गए हों, जिनमें अपराध करने को विवश करनेवाली परिस्थितियाँ उभर आई हों, तो सज़ाओं का लागू करना रुका रहेगा, इसीलिए अकाल की स्थिति में खलीफ़ा द्वितीय हज़रत उमर (रज़ि) ने चोरी पर हाथ काटने की सज़ा स्थगित कर दी थी।

७. न्याय हर व्यक्ति को निःशुल्क मिलेगा यहाँ कोर्ट फ़ीस नाम की कोई चीज़ न्याय पारिश्रमिक स्वरूप वसूल न की जा सकेगी।

धर्म और राजनीति

समय का एक महत्वपूर्ण पश्न

पिछले पृष्ठों में यद्यपि यह बात नितान्त स्पष्ट हो चुकी है कि इस्लाम जीवन की एक ऐसी व्यवस्था रखता है, राजनैतिक व्यवस्था भी जिसका एक अंश है; किन्तु यह बात अभी स्पष्ट नहीं हो सकी है कि राजनीति धर्म का और राजनैतिक व्यवस्था इस्लामिक व्यवस्था का कैसा अंश है? इसका क्या और कितना महत्व है और क्यों है? यद्यपि आवश्यकता कहती है, इसे स्पष्ट होना चाहिए। क्योंकि जिस चीज़ को हम राजनीति कहते हैं, वह मानवीय जीवन के लिए कोई साधारण महत्व की चीज़ नहीं है। विशेषकर वर्तमान समय में तो इसका हस्तक्षेप इतना बढ़ चुका है कि जीवन के निजी से निजी मामले तथा समस्याएँ भी इसके तर्क-क्षेत्र से पूरी तरह बाहर नहीं रह गई हैं। इसलिए नैसर्गिक रूप से जीवन के बनाव-बिगाड़ पर इसका असाधारण प्रभाव पड़ता है। जिस किसी के माथे पर दो आँखें हैं, वह देख सकता है कि समस्त दर्शन, दृष्टिकोण और अक्रीदे धरे-के-धरे रह जाते हैं और राजनीति तथा शासन की धारा समाज को अपनी दिशा पर बहाए लिए चलती रहती है। यद्यपि साथ ही मज़े की बात यह भी है कि वह धर्म व मज़हब से कोई सम्बन्ध न होने की भी उद्घोषणा करती रहती है। कहा करती है कि मेरा दीन-धर्म से कोई रिश्ता नहीं है। फिर अपनी इस बात को बुद्धिसंगत बल्कि आवश्यकता पड़ने पर बड़े खूबसूरत और दृष्टि-भ्रमित “तर्क” भी देती है और इस क्रम में अपनी किसी अपेक्षा का नहीं बल्कि स्वयं धर्म ही के हित का नाम लेती और उसकी पवित्रता की दुहाई देती है। कहती है कि — धर्म इनसान को ईश्वर से मिलाने का साधन है, अत्यन्त उच्च और पवित्र चीज़ है। इसलिए यह उसकी बड़ाई और उसकी पवित्रता की तौहीन है कि उसे संसार के बखेड़ों में घसीटा जाए। जो चीज़ पवित्र है उसे पवित्र जगहों और पुनीत कार्यों ही के लिए विशिष्ट रहने देना चाहिए। राजनीति और राजनीतियों का यह दृष्टिकोण आज लगभग पूरे विश्व की समस्या बनी हुई है, जिसके प्रभावाधीन लोग सामान्य रूप से किसी धर्म के बारे में यह मानने के लिए तैयार ही नहीं होते कि इसका राजनीति से कोई आदरणीय सम्बन्ध होगा। यहाँ तक कि वे इससे आगे की कोई बात सोच और मान सकें।

इस विषय को हम यहाँ उपेक्षित भी कर सकते थे और उसे छोड़े बिना आगे बढ़ सकते थे — अगर स्वयं इस्लाम के माननेवालों की हद तक भी यह बहस, बहस न बन गई होती लेकिन वस्तुस्थिति यह है जो लोग इस्लाम के केवल नाम लेना नहीं, बल्कि वस्तुतः अनुयायी हैं और उसे दूसरों की नहीं बल्कि स्वयं अपनी निगाह से देखने के दावेदार हैं, उनमें से भी बहुतों का कहना यह है कि इस्लाम से राजनीति और शासन का सम्बन्ध अधिक से अधिक दूसरे दर्जे का (अर्थात् नाम मात्र को) है। धर्म में उसे कोई मूलभूत महत्व प्राप्त नहीं है। न शासन इस्लाम के लिए कोई अनिवार्य चीज़ है। अनिवार्य होना तो दूर रहा, वह उसके लिए अपेक्षित भी नहीं है। न उसकी स्थापना के लिए प्रयास करना इस्लाम के अनुयायियों का कोई धार्मिक उत्तरदायित्व है। इसकी हैसियत तो मात्र एक पुरस्कार की है जो धर्म की निष्ठापूर्ण पैरवी के परिणाम में अल्लाह की ओर से ईमानवालों को प्रदान किया जाता है। शब्दों में यह कि शासन व हुकूमत यदि अपेक्षित है भी तो इस्लाम के अनुयायियों के लिए, न कि स्वयं इस्लाम के लिए।

इन कारणों से इस्लाम के बारे में भी यह प्रश्न समय का एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया है कि इसका राजनीति से क्या सम्बन्ध है? अर्थात् राजनीति यदि इसका एक अंग है तो किस प्रकार का और किस महत्व का अंग है? इसलिए बहुत ज़रूरी है कि प्रश्न को एक स्थाई महत्वपूर्ण बहस की हैसियत से लिया जाए और इसका स्पष्ट और सप्रमाण व तर्कपूर्ण जवाब मालूम किया जाए। अन्यथा पूरी आशंका है कि इसके बिना इस्लाम को अच्छी तरह समझा न जा सकेगा। जेहन में इसकी जो तसवीर आणी वह अगर ग़लत नहीं, तो धुंधली अवश्य होगी। समस्या की महत्ता चाहती है कि इसके सभी सम्बन्धित विभागों पर दृष्टि डाली जाए और क्रमानुगत उन समस्त मूलभूत बातों तथा बिन्दुओं का जायज़ा लिया जाए, जिनसे धर्म और राजनीति के सम्बन्ध की सही स्थिति निश्चित करने में सहायता या मार्गदर्शन मिलता हो

अल्लाह पर ईमान और राजनीतिक अवधारण

इस उद्देश्य के लिए हमें सबसे पहले अल्लाह तआला के गुणों को देखना चाहिए, क्योंकि यही गुण वास्तव में वह स्रोत हैं जिससे धर्म की समस्त अवधारणाएँ और शरीअत के सभी आदेश निकले हैं। इसलिए इस बात के फ़ैसले का अधिकार भी कि राजनीति का इस्लाम से क्या सम्बन्ध है, सबसे अधिक उन गुणों ही को प्राप्त है।

पुस्तक के दूसरे अध्याय “मौलिक धारणाएँ” में हम संक्षिप्त में यह जान चुके हैं कि अल्लाह तआला के मौलिक गुणों में से एक गुण ‘शासक’ होना भी है। इस गुण के प्रमाण कुरआन की जिन आयतों से मिलता है उनमें से कुछ ये हैं —

“कहो, मैं शरण लेता हूँ मनुष्यों के रब की, मनुष्यों के सम्राट की, मनुष्यों के उपास्य की” (कुरआन, ११४:१-३)

“सुन रखो! उसी के लिए है सृष्टि करना भी और आदेश देना भी।”

(कुरआन, ७:५४)

“शासन नहीं है किसी का सिवाए अल्लाह के।”

(कुरआन, १२:४०)

कुरआन ये की आयतें बताती हैं कि अल्लाह तआला इनसानों का केवल पालनहार और प्रभु-पूज्य ही नहीं है, बल्कि सम्राट, आदेश दाता और हाकिम (न्याय करनेवाला) भी है। अर्थात् वह ऐसा पालनहार और पूज्य है जिसके पालनहार होने और पूज्य होने में प्रभुत्व और शासक का भाव अनिवार्यतः सम्मिलित है। इसका स्पष्टतः अर्थ यह है कि मानवजाति का वास्तविक शासक (सत्ताधारी व परम आधिपत्य) और विधिनिर्माता (शरीअत बनानेवाला) अल्लाह तआला ही है और यह उसके सर्वमान्य और महत्वपूर्ण गुणों में से एक है। जब तक किसी को इस गुण का विश्वास न हो वह अल्लाह पर सही अर्थों में ईमान रखनेवाला माना ही नहीं जा सकता।

जब यह एक पूर्व निश्चित वास्तविकता है कि मानवजाति का वास्तविक शासक और सर्वोच्च सत्तावान और विधिनिर्माता अल्लाह के सिवा कोई और नहीं तो यह वास्तव में इस बात की चेतावनी भी है कि उसके राजनैतिक जीवन का निर्माण अल्लाह तआला की साझाहीन सत्ता पर होना चाहिए। क्योंकि राजनीति का सबसे पहला विषय और उसकी सबसे आधारभूत धारा यही प्रभुत्व का विषय और सर्वोच्च सत्तावान होने की धारा है और अल्लाह के प्रभुत्व का गुण इसी विषय का सीधा उत्तर है।

शरीअत के आदेश और राजनीतिक अनुभाग

प्रभुत्व के गुण के बाद अब शरीअत के सम्स्त आदेशों को देखिए। जिन समस्याओं से राजनीति बहस करती है और जो मानव के राजनीतिक जीवन की समस्याएँ हैं। उनमें की उत्कृष्ट बातें ये हैं—

(१) सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की अवश्यकता क्या होती है? मानव की वास्तविक सृजनात्मक स्थिति क्या है? व्यक्ति के मौलिक अधिकार क्या हैं? सत्ता के अधिकार कितने और कैसे हैं? विधि-निर्माण का अधिकार किसे है? स्वयं विधि की स्थिति क्या है? आदि। देखना चाहिए कि कुरआन व हदीस ने इन विषयों पर बहस की है या नहीं? और इन बातों के सम्बन्ध में अनिवार्य हिदायतें दी हैं या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर इस्लाम की “राजनीतिक व्यवस्था” की बहस में आप अभी देख चुके हैं, जिससे पूरी तरह ज्ञात हो चुका है कि राजनीति जिन-जिन आधारभूत विषयों से बहस करती है, इस्लाम ने इनमें से एक-एक को लिया है और उन सभी के बारे में मार्गदर्शन किया है—

अल्लाह के आदेशों का अनुपालन और सत्ता-प्रभुत्व

इस्लामी शरीअत जिन आदेशों व मार्गदर्शनों को अपने में समाविष्ट किए हुए है, उन में से अनगिनत आदेश ऐसे हैं जिनका अनुपालन एक राजनीतिक व्यवस्था और एक प्रभुत्व संपन्न सत्ता के बिना सम्भव ही नहीं। उदाहरण के रूप में निम्न कुछ आदेशों को देखिए—

(१) अगर कोई व्यक्ति किसी को क्रल्ल कर दे तो तुम्हारे लिए अनिवार्य है कि उससे क्रिसास (हत्या-दण्ड) लो—

“ऐ ईमान लानेवालो! क्रल्ल किए गए व्यक्ति के विषय में हत्यादण्ड (क्रिसास) तुम पर अनिवार्य किया गया।” (कुरआन,

२:१७८)

(२) चोर का हाथ काट दो—

“और चोर चाहे स्त्री हो या पुरुष दोनों के हाथ काट दो।”

(कुरआन, ५:३८)

(३) व्यभिचारी को सौ कोड़े लगाओ—

“व्यभिचारिणी और व्यभिचारी—इन दोनों में से प्रत्येक को सौ कोड़े मारो।”

(कुरआन, २४:२)

(४) व्यभिचार का झूठा आरोप लगानेवालों को अस्सी कोड़े मारो—

“और जो लोग शरीफ एवं पाक दामन स्त्रियों पर लाँछन लगाएँ, फिर चार गवाह न लाएँ, उन्हें अस्सी कोड़े मारो और उनकी गवाही कभी भी स्वीकार न करो।”

(कुरआन, २४:४)

(४) धर्म के शत्रुओं से लड़ो और सत्य के इनकारियों के किफ़त्ने का सिर कुचल कर रख दो—

“तुम उनसे लड़ो यहाँ तक कि किफ़त्ना शेष न रह जाए और दीन (धर्म) अल्लाह के लिए हो जाए।” (कुरआन २:

१९३)

इसी प्रकार कितने ही आदेश ऐसे हैं जिस पर सत्ता के बिना यदि अमल हो भी सकता है तो केवल आंशिक रूप में या त्रुटिपूर्ण रूप में ही हो सकता है। पूरी तरह और अपेक्षित रूप में उन पर भी अमल उसी समय सम्भव है जब राजनीति और शासन की एक प्रभुत्व प्राप्त व्यवस्था स्थापित हो। उदाहरणतः ये आदेश—

(१) बुराई को हाथ से मिटा दो।

(हदीस : मुस्लिम)

(२) न्याय और इनसाफ़ के मार्ग पर दृढ़ता से जमे रहो।

(कुरआन, ४:१३५)

(३) अल्लाह से इतर न्यायालय कभी भी इस योग्य नहीं कि कोई सच्चा मुसलमान वहाँ अपने मुकद्दमे ले जाए।

(कुरआन, ४:६०)

(४) लोगों के मामलों का फैसला उन कानूनों के मुताबिक करो, जिन्हें अल्लाह ने नाज़िल किया है।

(कुरआन, ५:४८)

(५) मुसलमान के वुजूद का उद्देश्य सारे विश्व के सामने सत्य-धर्म की गवाही देना है।

(कुरआन, २:१४३)

स्पष्ट है कि इस प्रकार के धर्मदेशों का अनुपालन भी ठीक उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार कि दूसरे आदेशों का अनुपालन अनिवार्य है। क्योंकि यह भी उसी प्रकार शरीअत के अंग हैं, जिस प्रकार कि दूसरे आदेश हैं और इनको पूरा करना भी उसी प्रकार ईमान व इस्लाम की अपेक्षा है, जिस प्रकार अन्य आदेशों को पूरा करना है। क्योंकि अल्लाह तआला ने हमें अपने आदेश में किसी चुनाव की स्वतन्त्रता नहीं दी है कि जिनका चाहें अनुपालन करें और जिन्हें चाहें छोड़ दें। उसकी माँग तो यह है कि जो कुछ भी मेरी ओर से अवतरित किया गया है, सभी की पैरवी करो। (कुरआन, ७:३) और अगर तुमने ऐसा न किया बल्कि मेरे आदेशों में अपनी इच्छा के मुताबिक अन्तर किया, जिन आदेशों पर जी चाहा चले, और जिनको की नीति होगी चाहा छोड़ बैठे, तो यह ईमान की नहीं इनकार की नीति होगी। हमारे सामने यहूदियों का उदाहरण है। उन पर इसी प्रकार के आचरण को अपनाने पर स्पष्ट शब्दों में यह अपराध लागू किया गया था कि “तुम अल्लाह की किताब (तौरात) के एक भाग पर ईमान रखते हो और एक भाग का इनकार करते हो।” (कुरआन, २:८५)

राजनीति : इस्लाम-धर्म का अनिवार्य अंग

अब इन समस्त बातों को एक साथ दृष्टि में रखकर गौर से देखिए, इस्लाम और राजनीति के सम्बन्ध का प्रश्न पूरी तरह हल हो जाएगा।—

अगर सम्प्रभुता अल्लाह तआला का एक आधारभूत गुण है और अगर इस गुण की स्पष्ट माँग यह है कि मानव के राजनीतिक जीवन का निर्माण अल्लाह तआला की साझाहीन सत्ता पर होना चाहिए, तो यह इस बात का प्रमाण है कि मानव का राजनीतिक जीवन भी धर्म की सीमा में सम्मिलित है और उसे उसकी सीमा से किसी प्रकार बाहर नहीं रखा जा सकता। अगर बाहर रखा जाएगा तो अल्लाह तआला की सम्प्रभुता के गुण पर ईमान रखने का दावा निरर्थक होकर रह जाएगा।

अगर शरीअत का एक भाग राजनीति आदेश पर भी सम्मिलित है और इस्लाम एक पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था भी रखता है, तो यह इस बात का अटल प्रमाण है इस्लाम के पूरे और वास्तविक अस्तित्व की, उसकी राजनीतिक व्यवस्था के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। जिस प्रकार कि किसी स्वस्थ और पूर्ण शरीर की यदि आप कल्पना करना चाहें, तो उसके किसी उत्कृष्ट अंग, उदाहरणतः सिर या हाथ या पाँव को अलग रखकर कभी न कर सकेंगे।

अगर सत्ता प्रभुत्व के बिना धर्म के अनगिनत आदेश निष्कृत्य होकर रह जाते हैं और उनको व्यवहार में लाना संभव नहीं रह जाता तथा दूसरी ओर शरीअत का कोई अंश भी छोड़ बैठना कुफ़्र (दीन का इनकार) का आचरण है, इस्लाम का नहीं। इसका स्पष्ट और खुला अर्थ यह है कि राजनीति इस्लाम का एक अटूट और अनिवार्य अंग है, क्योंकि स्वयं में उसका जो महत्व है वह तो है ही, साथ ही उसका यह महत्व भी है कि उसी पर बहुत से दूसरे धर्मों की पूर्णता किसी न किसी हद तक निर्भर करती है।

इन सभी पक्षों को देखते हुए हज़रत उमर (रज़ि.) के ये शब्द एक सिद्ध वास्तविकता के भाव-उद्भावक ही कहे जा सकेंगे कि—

“जमाअत के बिना इस्लाम, इस्लाम नहीं और अध्यक्षता (सत्ता-व्यवस्था) के बिना जमाअत, जमाअत नहीं।” (जामेअ बयानुल उलूम)

सुप्रसिद्ध ताबई हज़रत कअब अल्-अहबार (रह.) के इन शब्दों को वस्तुस्थिति की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति ही ठहराया जा सकेगा कि—

“इस्लाम और शासन और आम जनता— इन तीनों की मिसाल शामियाने (खेमे) और उसके खम्भे और उसके खूंटों जैसी है। शामियाना इस्लाम है। खम्भा शासन है और खूंटें आम जनता हैं। इनमें से कोई भी शेष दो के बिना अपनी ठीक हालत में नहीं रह सकता।” (अल् अक़दुल फ़रीद, भाग-१)

मतलब यह कि राजनीति और शासन की अवधारणा से यदि इस्लाम को अलग कर दिया जाए तो फिर इस्लाम वह इस्लाम न रह जाएगा जो अल्लाह का भेजा हुआ, कुरआन का बताया हुआ और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का अपनाया हुआ इस्लाम है। इस्लाम अपनी सही शकल में उसी समय देखा जा सकता है, जब उसे पूर्ण सत्ता-प्रभुत्व के तख़्त पर रख कर देखा जाए।

यहाँ पहुँचकर वस्तुस्थिति का एक और इनक़िलाबी पहलू सामने आ जाता है और वह यह कि इस्लाम राजनीतिक प्रभुत्व को संसारोपार्जन नहीं, बल्कि धर्मोपार्जन करार देता है। अप्रिय और अनापेक्षित नहीं, बल्कि मनोवांछित और अपेक्षित ठहराता है। वह इससे निस्पृह नहीं बल्कि इसका याचक और लोभी है, और यह इसलिए कि जब तक उसके पास यह प्रभुत्व प्राप्त न हो वह अपने अस्तित्व का

लक्ष्य पूरा ही नहीं कर सकता।

इस्लामी शासन और मुस्लिम शासन

इस अवसर पर उस सूक्ष्म और सबसे बड़े अन्तर को भी अच्छी तरह जान लेना चाहिए जो – “इस्लामी शासन” और “मुस्लिम शासन” के बीच होता है।

यह तो एक खुली हुई सच्चाई है कि इस्लाम कोई शरीर व प्राण रखनेवाली हस्ती नहीं है कि वह अपनी अपेक्षित प्रभुत्व को स्वयं अपनी कोशिशों से प्राप्त कर सकेगा और प्राप्त करने के बाद उसे अपने हाथों में रखेगा। इसके विपरीत यह सब कुछ इसके अनुयायियों के द्वारा ही हो सकेगा। वही इस प्रभुत्व को प्राप्त करने की कोशिशें भी करेंगे और वही उसे प्राप्त कर चुकने के बाद अपने हाथों में रख कर उसको लागू भी करेंगे। किन्तु बड़ा अन्तर है उस सम्प्रभुता में जो मुसलमानों को उनके अपने लिए अपेक्षित हो और उस सत्ता में जो उन्हें वस्तुतः इस्लाम के लिए अपेक्षित हो। पहले प्रकार की प्रभु-सत्ता “मुस्लिम सम्प्रभुता” और दूसरे प्रकार की प्रभु-सत्ता “इस्लामी सम्प्रभुता” होती है। अल्लाह तआला के निकट वह अगर दुनिया है तो यह “दीन” (धर्म) है। वह अगर बुराई है तो यह भलाई है, वह अगर दुनिया का बिगाड़ है तो यह दुनिया का श्रृंगार है। इसी आधार पर एक ओर ईमानवालों की प्रशंसा अगर कुरआन ने यह की है कि – वे ज़मीन में अपनी बड़ाई और फ़साद (बिगाड़ नहीं चाहते)। (कुरआन, २८:८३) तो दूसरी ओर उन्हें सम्बोधित करके यह भी कहा कि – “तुम्हीं सरबलन्द होंगे अगर तुम्हारे अन्दर सच्चा ईमान मौजूद हो।” (कुरआन, ३:१३९) ये दोनों अल्लाह तराला के फ़रमान मिलकर जिस वास्तविकता को रौशनी में लाते हैं वह यह है कि जो “बड़ाई” और “सम्प्रभुता” अपने लिए होती है वह वास्तव में सरकशी और अत्याचारपूर्ण होती है। दुनिया को खराबियों से भर देती है और ईमानवाला इसके बारे में सोच भी नहीं सकता। लेकिन जो उच्चता और श्रेष्ठता इस्लाम के लिए होती है, वह सर्वस्व भलाई और दयालुता होती है और मुसलमान उसका दिल से अभिलाषी होता है। स्पष्ट शब्दों में सम्प्रभुता व सत्ता की ये दोनों क्रिस्में गुणवत्तदा की दृष्टि से एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। अपनी आधार-भूत अवधारणाओं में भी भिन्न हैं और अपने परिणामों और निष्कर्ष की दृष्टि से भी भिन्न हैं। यद्यपि देखने में दोनों ही “सम्प्रभुता” और दोनों “इस्लाम के माननेवालों” ही के हाथों में होती हैं। किन्तु एक की हैसियत एक पवित्र धरोहर व अमानत की और एक भारी उत्तरदायित्व की है, जबकि दूसरे की हैसियत वैयक्तिक या सामूहिक सम्पत्ति की और अमर्यादित सत्ताधिकार की है। जो लोग गहरी समझ नहीं रखते, वे तो बाहरी रूप से ही धोखा खा सकते हैं, किन्तु जो लोग हालात पर गहरी नज़र रखते हैं और प्रखर बुद्धिवाले हैं, उनसे इतना बड़ा और आधारभूत अन्तर छिपा नहीं रह सकता। वे साफ़ महसूस कर लेंगे कि यद्यपि “बाज़” और “गिद्ध” दोनों की उड़ानें ज़ाहिर में एक ही “वातावरण” में होती है, लेकिन दोनों की “दुनिया” वस्तुतः एक नहीं होती।

नबियों का मिशन और राजसत्ता

इस्लाम-धर्म और राजनीति के परस्पर-सम्बन्ध की जो स्थिति, जो महत्व और जो अवश्यकता पूर्वोदित बहसों से स्पष्ट होती है, वह एक महान् वास्तविकता का प्रस्फुटन करती है। और वह यह कि नबी (अलै.) जिस मिशन पर नियुक्त होते थे, वह अपने अंतिम व्यावहारिकरूप के आधार से एक धार्मिक और इस्लामी राज्य की स्थापना ही हुआ करता था। क्योंकि राजसत्ता के बिना जिस प्रकार आज इस्लाम सही अर्थों में इस्लाम नहीं रह जाता और खुदा के दीन (धर्म) पर पूरा-पूरा अमल नहीं हो सकता, उसी प्रकार किसी भी नबी (अलै.) के युग में नहीं हो सकता था इसलिए हर दौर के “इस्लाम” और खुदा के धर्म की दृष्टि इस बात पर अनिवार्य रूप से रहनी ही चाहिए थी कि समाज की प्रभुसत्ता उसके अपने हाथ में आए। यह दूसरी बात है कि उन नबियों में से बहुतों का हालात ने साथ न दिया हो और इसलिए उनके धार्मिक आह्वान सम्बन्धी संघर्ष के परिणाम उस पराकाष्ठा तक न पहुँच पाए हों, लेकिन स्पष्ट है कि किसी आह्वाहक-संघर्ष का पराकाष्ठा तक न पहुँच पाना और बात है और स्वयं उस आह्वान का अपनी जगह उस पराकाष्ठा से पूर्ण अनभिज्ञ होना दूसरी बात है। नबियों का आह्वान सम्बन्धी जो इतिहास हमारे सामने मौजूद है उसमें इस बात का उल्लेख तो ज़रूर मिलता है कि उनमें से प्रायः अपनी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित न कर पाए थे। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वे ऐसा चाहते भी न थे निस्सन्देह सभी नबियों के आह्वान का आधार-भूत कलिमा – “ला इला-ह इल्लल्लाह” (अर्थात् कोई नहीं है पूज्य, सिवा अल्लाह के) ही था। “ला हाकि-म इल्लल्लाह” (नहीं है कोई सम्प्रभुता प्राप्त, सिवा अल्लाह के) नहीं था। किन्तु इस बात में भी कोई सन्देह नहीं कि “ला इला-ह इल्लल्लाह” के भाव में “ला हाकि-म इल्लल्लाह” का अर्थ भी सम्मिलित ही है और “पूज्य होने” का एक अंग “सम्प्रभुता” भी है। अर्थात् यह बात कि “अल्लाह के सिवा कोई पूज्य-प्रभु नहीं”, यह अर्थ भी रखता है – “अल्लाह के सिवा कोई शासक नहीं” “पूज्य-प्रभु” को केवल ‘शासक’ व ‘सम्प्रभु’ समझना ज़रूर ग़लत है, किन्तु इससे ज़्यादा ग़लत यह बात है कि “पूज्य-प्रभु” के भाव को “सम्प्रभुता” की अवधारणा से रिक्त समझा जाए। इसी प्रकार यह भी बिलकुल सही है कि किसी नबी (अलै.) ने अपना आह्वान इन शब्दों में नहीं किया था कि लोगों! अल्लाह का शासन स्थापित करो, क्योंकि उसके सिवा तुम्हारा कोई शासक नहीं, बल्कि हर नबी (अलै.) के शब्द यही थे कि –

“अल्लाह की इबादत करो, उसके सिवा तुम्हारा कोई पूज्य नहीं।”

(कुरआन, ७:५९)

किन्तु कौन कह सकता है कि इन शब्दों के भाव में उन शब्दों का भाव भी अपने पूरे महत्व के साथ शामिल नहीं है? ऐसा अगर कहा जा सकता था तो उसी समय कहा जा सकता था जब “इबादत” का भाव धारणा पर सीमित होता। लेकिन जब वास्तविकता यह नहीं है और “इबादत” के भाव में धारणा और आज्ञानुपालन दोनों ही शामिल हैं,^१ तो उन धार्मिक आदेशों के अनुपालन को “इबादत” के भाव से किसी प्रकार बाहर नहीं ठहराया जा सकता, जो जीवन के विविध विषयों से सम्बन्ध रखते हैं, और जिनकी आखिर कड़ी राजनीति और शासन के आदेश होते हैं। और जब उनकी आज्ञाओं की पैरवी (अनुपालन) भी “इबादत” ही है, तो इसके मानी ये हैं कि नबी (अलै.) का जो असल आह्वान था उसके ठीक भाव ही में राजनीतिक आदेशों की पैरवी की अवधारणा भी निश्चितरूप से विद्यमान रहा करती थी।

हाँ, इस जगह एक सवाल अवश्य किया जा सकता है और वह यह कि जिन नबियों के आह्वानों का कुरआन करीम ने परिचय कराया है उनमें से अधिकतर के अन्दर राजनीतिक आदेशों का सिरे से कोई उल्लेख ही नहीं मिलता। वह केवल आस्था सम्बन्धी, नैतिक संबंधी और अद्वैत अल्लाह की उपासना की शिक्षाओं ही पर व्याप्त नज़र आती हैं। इससे तो यह ज्ञात होता है कि “उअबुदू” (अर्थात्) “इबादत करो” का असल आदेश धारणा ही तक सीमित है, क्योंकि जब ये नबी (अलै.) “ला इला-ह इल्लल्लाह” की ओर आह्वान कर “उअबुदुल्लाह” (अर्थात् अल्लाह की बन्दगी करो) की चेतावनी देकर इस “अद्वैतवाद” और इस “इबादत व बन्दगी” के भाव की अपने कर्मों से और अपने आह्वान की वार्ता और क्रिया-कलापों से स्वयं एक व्याख्या प्रस्तुत कर चुके हैं, तो इसी को उन परिभाषाओं की संप्राप्त व्याख्या समझनी चाहिए। इन परिभाषाओं के भाव-क्षेत्र में यदि राजनीति भी अनिवार्य रूप से समाविष्ट होती तो उन नबियों की ज़बान से उसका कोई उल्लेख ज़रूर होना चाहिए था। उन्होंने अपने अनुयायियों को किसी कारणसे राजनीतिक आदेश न दिए थे, तो कम से कम एक इस्लामी राज्य की स्थापना का अपना अंतिम लक्ष्य-बिन्दु होना तो बता ही दिया होता। अब यदि न उनकी शिक्षाओं में राजनीतिक बातों का दूर-दूर तक कहीं कोई पता नहीं, न उन्होंने कभी इस्लामी राय को अपनी आखिरी मंज़िल बताया तो यह इस बात का प्रमाण क्यों न होगा कि उनके आह्वान “अल्लाह की बन्दगी करो” में राजनीति और इस्लामी राज्य की अवधारणा सम्मिलित न थी?

१. इस बात का प्रमाण और इस पर विस्तृत वार्ता आगे एक अलग शीर्षका धीन रही है।

किन्तु यह प्रश्न वास्तव में दो मान्य वास्तविकताओं को उपेक्षित कर देने का परिणाम है:-

१. पहली तो यह कि शरीअत का कोई भाग अपने प्राकृतिक समय और व्यावहारिक आवश्यकता से पूर्व अवतरित नहीं हुआ करता। अल्लाह तआला जीवन के किसी विषय में अपनी हिदायतें उस समय भेजता है, जब स्थितियाँ उसकी माँग करने लगी हों और लोग उसे व्यावहारिक रूप दे सकने की स्थिति में आ चुके हों। यह शरीअत का एक सार्वकालिक नियम है, जिसकी आवश्यकता और स्वस्ति-पक्ष नितान्त स्पष्ट है।

२. दूसरी यह कि इस नियम के आधार पर शरीअत के जो भाग अर्थ नहीं रखता कि वे बाद में अवतरित होते हैं, उनका बाद में अवतरित होना हरगिज़ यह अर्थ नहीं रखता कि वे धर्म में दूसरी श्रेणी का महत्व रखते हैं। इसी प्रकार इस सिद्धान्त के अधीन यदि जीवन के कुछ मामलों के बारे में धार्मिक हिदायतें अवतरित ही न हो सकी हों तो इसका हरगिज़ मतलब नहीं कि वास्तव में उनका कोई महत्व न था और किसी भी स्थिति में उनका शरीअत का अंग होने का प्रश्न ही न था।

उन सिद्धान्तों को कुछ उदाहरणों से समझिए:-

(१) जिहाद को अल्लाह के रसूल (सल्ल.) की ज़बान से “इस्लाम की चोटी”^२ और “सबसे बड़ा कृत्य”^३ कहा गया है। किन्तु सन् २ हिजरी से पहले तक न केवल यह कि इस “सबसे बड़े कृत्य” का आदेश नहीं दिया गया था, बल्कि इसका निषेध था। ऐसा क्यों हुआ? केवल इसलिए हुआ कि जिहाद के लिए जिन शर्तों का पूरा होना ज़रूरी था उस समय तक वे पूरे नहीं हो सके थे और न वे हालात प्रकट हो सके थे, जिनका प्रकट हो जाना अनिवार्य था।

(२) दूसरा उदाहरण ब्याज के विषय का लीजिए। ब्याज खाना सबसे बड़े गुनाहों में से है। इस कर्म को दुनिया में अल्लाह और रसूल के विरुद्ध बगावत ठहराया गया है,^४ और आखिरत में काफ़िरों (खुदा के इनकारियों) की-सी सज़ा का कारण कहा गया है, किन्तु इसके उपरांत इस बिलकुल आखिर ज़माने अर्थात् सन् ९ हि. में जाकर हराम किया गया। इससे पहले तक वह वैधानिक रूप में जाइज़ ही रहा। कारण केवल यह था कि इससे पहले समाज इस आदेश पर सही तरीक़े से अमल करने की स्थिति में था ही नहीं। अगर उसी स्थिति में उसे अवतरित कर दिया जाता तो देश की आर्थिक व्यवस्था एकदम बिखर कर रह जाता। यही मामला शराब का है, जो गुनाहों की “माँ” होने के उपरांत, उसी मसलेहत के आधार पर कुरआन की सूरा-५ (माइदा) के अवतरित होने तक हराम (अवैध) न की जा सकी थी – ये कुछ उदाहरण उपरोक्त दोनों सैद्धान्तिक वास्तविकताओं को स्पष्ट कर देने के लिए नितान्त पर्याप्त हैं।

यदि इन दोनों मान्य और सैद्धान्तिक वास्तविकताओं को सामने रख लिया जाए तो विचाराधीन प्रकरण की समस्त गिरहें आप से आप

खुल जाएँगी। अल्लाह तआला ने अगर कुछ नबियों (अलै.) पर राजनीतिक आदेश अवतरित नहीं किए थे और उन्हें और उनके अनुयायियों को शासन-व्यवस्था स्थापित करने की हिदायत नहीं दी थी तो इसका कारण यह हरगिज़ न था कि उन लोगों के

१. तिमिज़ी २. बुखारी

निकट भी इस व्यवस्था की कोई महत्ता न थी और न इस प्रकार के आदेश उनकी शरीअतों (धर्म-विधानों) के अनिवार्य अंग हो सके थे, बल्कि यह था कि उनके कालों में अंतिम दिनों तक उन अवसरों और स्थितियों का प्रादुर्भाव ही न हुआ था, जिनके अन्दर राजनीति और शासन की बातें की जातीं। यह तो हम सब जानते हैं कि शासन और राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए कुछ चीज़ें बिलकुल अनिवार्य होती हैं। उदाहरणतः जनता की एक उचित संख्या, सामाजिक-व्यवस्था और एकता और एक स्वतन्त्र वातावरण। इसलिए यदि किसी नबी की दावत (आह्वान) ऐसे चरण तक पहुँच ही न पाई थी जिसमें ये सारी चीज़ें उपलब्ध होतीं तो उसे और उसके अनुयायियों को राजनैतिक आदेश आखिर कैसे और किस लिए दिए जाते? शरीअत के शाही महल में उन आदेशों की हैसियत तो छत के प्लास्टर की-सी है। जब तक बुनियादें भर कर उनपर दीवारें न चुनी जा चुकी हों और फिर उन दीवारों पर छत बनाने के लिए कड़ियाँ डालकर उन पर ईंटें या सरियाँ न बिछाई जा चुकी हों – प्लास्टर करने के लिए कोई व्यावहारिक क्रदम कैसे उठाया जा सकता है? व्यावहारिक क्रदम उठाने की बात तो दूर रही, उसके लिए समय से इतने पहले हिदायतें देना भी विषयानुकूल तथा उचित नहीं कहा जा सकता। लेकिन क्या प्रस्तावित इमारत की नींव भरे जाने और दीवारें उठाई जाने से पहले छत पर प्लास्टर करने के लिए किसी मार्गदर्शन का न दिया जाना या किसी व्यावहारिक क्रदम का न उठना इस बात का प्रमाण होगा कि बननेवाली इमारत की मानसिक रूपरेखा ही बिना प्लास्टर की पछ की है और उसके प्रस्तावित नक्शे में छत का प्लास्टर शामिल ही नहीं है? स्पष्ट है, ऐसा कोई पागल ही विचार कर सकता है, अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति यह यक्रीन रखेगा कि इस इमारत के प्रस्तावित खाके में छत का प्लास्टर भी अनिवार्यतः शामिल है। किन्तु चूँकि वह चरण अभी आया ही नहीं है, जिसमें इसके लिए कुछ कहा या किया जा सके, इसलिए अभी वह चढ़ाया भी नहीं जा सका है, न उसके लिए कोई व्यावहारिक क्रदम उठाया जा सका है। अन्यथा यह चरण अगर आ गया होता तो वह भी अनिवार्यतः चढ़ाया जा चुका होता या चढ़ाया जा रहा होता।

यही स्थिति नबियों के आह्वानों की थी। जो आह्वान प्रतिकूल स्थितियों के कारण उस चरण के आने से पले ही रुक गए, जो राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए ज़रूरी था, उनकी शिक्षाओं में नैसर्गिक रूप से राजनीति और सत्ता की बातें शामिल न हो सकीं इसलिए उनके अनुयायियों की हद तक “उअबुदुल्लाह” की व्यावहारिक माँग में ईश्वरीय प्रभुसत्ता की स्थापना भी सम्मिलित न हो सकी। अर्थात् वास्तविकता हरगिज़ यह न थी कि उन आह्वानों की हद तक सत्ता की स्थापना अपनी असल हैसियत ही के आधार से अपेक्षित न थी और न इस माँग में शामिल थी – यक्रीन न थी – मगर यह स्थितियों की विवशता थी, जिसने उसे शामिल न होने दिया। अतएव जो आह्वान इस चरण तक पहुँच गए, उन्हें राजनैतिक आदेशों के दिए जाने में एक क्षण का विलम्ब भी न किया गया, और जब ऐसा हुआ तो सत्ता-प्रबन्ध की स्थापना और राजनीतिक क़ानूनों का जारी होना भी ठीक उसी प्रकार “उअबुदुल्लाह” के सटीक आदेश की व्यावहारिक माँगों में सम्मिलित हो गया जिस प्रकार कि धर्म के दूसरे अंग इससे पहले सम्मिलित हो चुके थे। और अब ईश्वरीय प्रभुसत्ता की स्थापना करनी और राजनैतिक क़ानूनों को व्यवहार में लाना भी अल्लाह का बन्दगी का हक़ अदा करने के लिए वैसा ही ज़रूरी हो गया जैसा कि शरीअत के अन्य आदेशों को व्यवहार में लाना ज़रूरी हो सकता है।

इस्लाम का आह्वान और शासन प्रभुत्व

जहाँ तक इस्लाम का सम्बन्ध है, सारा संसार जानता है कि उसका आह्वान, उन्हीं आह्वानों में से एक है, जिन्हें इस चरण तक पहुँचने में सफलता प्राप्त हो गई थी। इसलिए उसकी शरीअत (संविधान) में राजनैतिक क़ानून और अध्यक्षता और सत्ता के आदेश भी विस्तार से मौजूद हैं तथा इसके लानेवाले रसूल (सल्ल.) ने न केवल यह कि राजनीतिक शक्तियाँ प्राप्त कीं और एक नियमानुकूल शासन-व्यवस्था स्थापित की, बल्कि अपने जीवन में वह स्वयं ही इसके पेशवा बने। उनके बाद उनके बेहतरीन साथियों ने भी उसे धर्म का एक महानतम कर्तव्य समझते हुए क़ायम रखा और उसकी पेशवाई की। इसलिए कम-से-कम इस्लाम के बारे में तो यह किसी भी स्थिति में नहीं कहा जा सकता कि सत्ता की स्थापना “उअबुदुल्लाह” के असल आदेश से रिक्त है और राजनीति “धर्म” का अंग नहीं है। अतएव, यह भी एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण कारण है, जिसके आधार पर इस्लाम को वास्तविक अर्थों में और हर हैसियत से “पूर्ण धर्म” होने की श्रेष्ठता प्राप्त है। हज़रत शाह वली उल्लाह (रह.) शरीअतों के दर्जे बताते हुए लिखते हैं –

“जान रखो, सबसे पूर्ण शरीअत और सबसे पूर्ण ईश्वरीय हिदायत वह शरीअत होती है, जिसमें जिहाद का आदेश दिया गया हो।”

(हिज्जतुलाहि ल् बालिगा, भाग-२, पृ. १७०.)

“जिसमें जिहाद का आदेश दिया गया हो” अर्थात् जो राजनीति व शासन-सत्तावाली शरीअत हो क्योंकि जिहाद एक नियमबद्ध

शासन-व्यवस्था के बिना हो ही नहीं सकता।

इस्लाम न केवल यह कि एक ऐसी ही शरीअत (विधान) है जिसमें जिहाद का आदेश दिया गया है, बल्कि ऐसी शरीअत है, जिसने जिहाद को ईमान की कसौटी ठहरा दिया है। जिस प्रकार वह स्वयं हमेशा के लिए है, उसी प्रकार जिहाद का रिश्ता भी उसके साथ हमेशा के लिए बंधा हुआ है। यह इस बात का ऐसा प्रमाण है कि जिसका इनकार नहीं किया जा सकता। अतः इस्लाम के सिद्धान्तों से राजनीति और शासन की अवधारणा को किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता और अगर अलग कर दिया गया तो वह एक ऐसा लँगड़ा-लूला “इस्लाम” होगा जो – “अकूमल्-तु लकुम् दीन-कुम्” (आज मैंने तुम्हारे लिए तुम्हारे धर्म को पूर्ण कर दिया)^१ की अनुपम श्रेष्ठता का किसी प्रकार हकदार न रह जाएगा।

१. कुरआन ५:३

शरीअत और इबादत

इबादत का महत्व और उसकी हैसियत

धर्म – अल्लाह तआला की बन्दगी की वैचारिक व व्यावहारिक या बाह्य व आध्यात्मिक नक़शे का दूसरा नाम है। इसकी आवश्यकता और उद्देश्य इसके सिवा और कुछ नहीं होता कि वह लोगों को अल्लाह तआला की इबादत का ढंग बताए। क्योंकि यही “बन्दगी और इबादत” वह चीज़ है, जो मानव-आत्मा को पवित्रता और उच्चता प्रदान करती है तथा उसे अल्लाह की खुशी प्राप्त करने का इच्छुक बनाती है। इसके परिणाम स्वरूप वह अल्लाह तआला की प्रसन्नता और अनुकम्पा प्राप्त करने का पात्र बन जाता है। यह वह अवधारणा है जो धर्म के सम्बन्ध में रखी जाती है और ठीक रखी जाती है। कुरआन मजीद इसे एक पूरी तरह खुली हक़ीक़त ठहरा देता है और पूरे विस्तार के साथ कहता है कि किसी भी नबी का आह्वान इसके अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं –

“अल्लाह की इबादत करो और तागूत (अल्लाह के प्रति उद्दण्डता की नीति अपनानेवाला) से दूर रहो।” (कुरआन, १६:३६)

और ठीक-ठीक यही आह्वान था जो इस्लाम के अंतिम पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने भी किया था। सम्पूर्ण जगत् के पालनहार अल्लाह तआला ने आप (सल्ल.) से जिन शब्दों में उसे पेश करने को कहा था वे भी यही थे –

“लोगो। अपने पालन हार की ‘इबादत’ करो।” (कुरआन, २:२१)

फिर इतना ही नहीं, कुरआन मजीद तो इससे भी ज़्यादा खुलासा करता है, कहता है कि इनसान तो पैदा ही इसी काम के लिए किया गया है –

“(अल्लाह तआला फ़रमाता है कि) मैंने ज़िन्नो और इनसानों को सिर्फ़ इसलिए पैदा किया है कि वे मेरी ‘इबादत’ करें।” (कुरआन, ५१:५६)

यानी ‘इबादत’ ही वह प्रमुख कार्य है जिसके लिए इनसान को पैदा भी किया गया है और नबियों (अल्लै.) का प्रादुर्भूत भी हुआ है। स्पष्ट है कि ये दोनों बातें एक-दूसरे की पूरक हैं। जिस काम के लिए इनसानों को पैदा किया गया था, नबियों के आगे का मक़सद भी वस्तुतः उसी की याददिवहानी और शिक्षा व चेतावनी के अतिरिक्त और कुछ न ही नहीं सकता था।

इबादत का अर्थ

“इबादत” के इस गौरव और महत्व को सुनते ही मस्तिष्क में नैसर्गिक रूप से यह प्रश्न उभरता है कि इस “इबादत” में और इस्लाम में किस प्रकार का रिश्ता है जिसका पिछले पृष्ठों में उल्लेख करा चुके हैं। इस्लाम अपने पूरे और वास्तविक अर्थ की दृष्टि से तो बन्दगी और ज़िन्दगी की एक सार्वभौमिक व्यवस्था है, जो अक़्रीदों से लेकर परस्तिश तक और परस्तिश से लेकर इनसान के सांसारिक जीवन के एक-एक विभागों तक, हर चीज़ को अपने घेरे में लिए हुए है और सभी के बारे में सुविस्तृत हिदायतें देता है। तो क्या इस पूरे हिदायत के संग्रह की और उसके एक-एक अंशों की पैरवी व अनुवर्तन को “इबादत” कहा जाएगा? या उसके मात्र किसी विशिष्ट अंश या कुछ विशिष्ट अंगों ही के अनुपालन पर “इबादत” के इस कुरआनी पारिभाषिक शब्द को चस्पाँ किया जा सकेगा? यह केवल एक दृष्टिकोण सम्बन्धी प्रश्न नहीं है, बल्कि एक उत्कट व्यावहारिक महत्ता और ज़रूरत का भी प्रश्न है, क्योंकि इसका इस्लामी शरीअत के आदेशों से सीधा और गहरा सम्बन्ध है और इसका जो उत्तर होगा, उसका उन आदेशों की पैरवी पर बड़ा असाधारण प्रभाव पड़ेगा। यदि शोध से स्पष्ट हो कि इस्लाम के निकट “इबादत” का कोई सीमित अर्थ है, तो उसके केवल इन्हीं शरीअत के अंगों की पैरवी व अनुपालन, जो सीमित अर्थ के वृत्त में प्रविष्ट होंगे, पवित्रता और आस्था के असल पात्र ठहरेंगे। और यदि वस्तुस्थिति दूसरी दृष्टिगोचर हुई तो फिर यह अन्तर नहीं किया जा सकेगा और समझा जाएगा कि पूरी इस्लामी शरीअत की पैरवी इबादत है और उसके हर अंग का अनुपालन समान रूप से ध्यानपूर्वक, उत्साहपूर्ण और भावनायुक्त किया जाना अनिवार्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि “इबादत” के ठीक अर्थ का जानना स्वयं इस्लाम की ठीक-ठीक पैरवी के लिए भी बिलकुल ज़रूरी है। क्योंकि इस जानकारी और अभिज्ञान के बिना मानव अल्पधिक और असन्तुलन का शिकार होने से कभी भी नहीं बच सकता। जिस चीज़ को वह “इबादत” समझेगा, मनोवैज्ञानिक रूप से उस पर अपना ध्यान केन्द्रित किए रहेगा और जिसे इबादत का काम न समझेगा, उसे अपरिहार्य रूप से पीछे डाले रहेगा।

“इबादत” का शब्द जब कुरआन और हदीस की ज़बान से अदा होता है, तो उसका भाव क्या हुआ करता है और उसकी सीमाएँ कहाँ तक पहुँचती हैं? यह जानने के लिए हमें हर उस चीज़ पर नज़र डालनी चाहिए जो इस बारे में कोई महत्व रखती हो और इबादत का अर्थ निश्चित करने में प्रमाण का स्थान रखती हो ताकि इस अति महत्वपूर्ण धार्मिक प्रकरण के शोध का पूरा-पूरा हक़ अदा हो जाए और जो परिणाम निकले वह हर पहलू से सन्तोषजनक हो –

शब्दकोशीय अनुमान के प्रकाश में ‘इबादत’ का अर्थ

इबादत का अर्थ – अन्तिम सीमा तक पराभूत होने और समर्पित हो जाने के हैं।

(मफ़रदात इमाम

राग़िब)

‘इबादत’ से अभिप्रेत आज्ञानुपालन है

“उसने अल्लाह की इबादत की” के मानी हैं उसने अराधना (परस्तिश) एकाग्रचित होकर की। इसी प्रकार “अब्द” गुलाम को और “तरीक़े मुअब्बद” उस रास्ते को कहते हैं जो आने-जाने की अधिकता से रौंद कर बिलकुल समतल और सरल मार्ग हो गया हो।

(लिसानुल अरब)

बाह्य रूप में शब्दकोश वालों के बताए हुए “इबादत” के ये अर्थ एक-दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, बल्कि इनमें बड़ी गहरी घनिष्टता विद्यमान है। ‘इबादत’ का मौलिक अर्थ तो वही है जो सबसे पहले अंकित किया गया है, यानी किसी के आगे पूरी तरह झुक जाना, पराभूत होकर रहना, बिछ जाना। लेकिन स्पष्ट है कि आत्यांतिक झुकाव अनिवार्य रूप से पूर्ण आज्ञानुपालन का रूप अपना लेता है, इसलिए “इबादत” का अर्थ यथार्थ रूप से आज्ञानुपालन” भी हुआ। फिर यदि वह हस्ती जिसके आगे इनसान अपने को पूरी तरह डाल देता और अंतिम सीमा तक अपने को पराभूत कर देता है, उसकी दृष्टि में कृपा और अनुग्रह की उपास्यात्मक शान भी रखती हो, तो यह झुकाव नेमत के स्वीकार करने के एहसास से रिक्त नहीं हो सकता। वह झुकाव जिसके अन्दर नेमत स्वीकारने की आत्मा काम कर रही हो, अनिवार्य रूप से परस्तिश की शकल धारण कर लेता है। इसलिए नैसर्गिक रूप से “इबादत” का अर्थ ‘परस्तिश’ भी हुआ।

इन शब्द कोशीय व्याख्याओं को यदि सामने रखा जाए तो “इबादत” का धार्मिक और इस्लामी अर्थ बहुत कुछ इन्हीं से समझ में आ जाएगा। इनसे बड़ी सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि “अल्लाह की इबादत” का असल जौहर क्या है? और अल्लाह की इबादत करनेवाला कौन होता है और क्या होता है? “इबादत” का वास्तविक और मौलिक अर्थ यदि अंतिम दर्जे का झुकाव है तो इसके अर्थ अनिवार्यतः ये होंगे कि यही झुकाव “अल्लाह की इबादत” का भी वास्तविक जौहर है। फिर चूँकि अल्लाह तआला इनसान का वास्तविक शासक भी है और उसका वास्तविक उपकारक भी है इसी लिए बुद्धि मान नहीं सकती कि उसका यह झुकाव बस झुकाव बनकर रह जाएगा, आज्ञानुपालन की और फिर उपासना की शकलें न अपनाएगा। यह बात कुछ ऐसी ही असम्भव है जैसे यह बात असम्भव है कि आग तो भड़क रही हो, लेकिन इससे गरमी न निकलती हो। अभिप्राय यह कि अल्लाह तआला के सामने इनसान के झुकाव का जो स्वाभाविक रूप हो सकता है, उसकी दोटूक माँग यही है कि अल्लाह की इबादत के अन्दर तीनों चीजें मौजूद हों – आत्यांतिक झुकाव भी, आज्ञानुपालन भी और परस्तिश (उपासना व अवधारणा) भी।

धार्मिक मान्यताओं की रौशनी में “इबादत” का अर्थ

यह तो शब्द कोशीय अनुमान का निर्णय था। अब यह देखना चाहिए कि इस सम्बन्ध में धार्मिक अनुमान क्या कहता है? और धर्म की आधारभूत और मान्य वास्तविकताओं की रौशनी में इबादत का भाव क्या दिखाई देता है?

सभी पैग़म्बर (अल्लै.) इनसान की हिदायत के लिए आए थे। उन महानुभावों ने आकर लोगों को जिस बात की तलक़ीन की वह, जैसा कि अभी मालूम हो चुका, स्पष्ट और दोटूक शब्दों में सिर्फ़ यह थी कि “अल्लाह की इबादत करो” और यक़ीनन यही होना भी चाहिए था। इनसान तो पैदा ही अल्लाह की इबादत के लिए किया गया है। ऐसी स्थिति में उसकी हिदायत (मार्गदर्शन) के उद्देश्य से पैग़म्बर (अल्लै.) पर अवतरित किया जानेवाला खुदा का पैग़ाम बौद्धिक रूप से इबादत की तलक़ीन के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था।

जब वस्तुस्थिति यह है कि नबियों का मिशन सिर्फ़ एक खुदा की ‘इबादत’ का सन्देश देना और इनसानों को उसका “आबिद” अर्थात् खुदा का उपासक व दास बनाना था, तो इसका स्पष्टतः अर्थ यह है कि उन महानविभूतियों ने नबी की हैसियत से जो कुछ भी बताया और सिखाया वह पूरा का पूरा “इबादत” का काम था। उसका कोई एक शब्द और कोई शोशा भी “इबादत” के अतिरिक्त कुछ और न था। क्योंकि यह अनर्गल प्रलाप तो एक आम इनसान से भी आशा-विरुद्ध ही समझा जाएगा कि उसे मुकर्रर तो एक निश्चित मिशन पर किया गया हो, लेकिन वह अपनी उस ड्यूटी पर रहते हुए कुछ असम्बन्धित काम भी करने लगे, फिर एक पैग़म्बर के बारे में इस तरह के किसी आचरण का गुमान कैसे किया जा सकता है? पैग़म्बर तो वह होता है जो सिर से पाँव तक खुदा की आज्ञानुपालन ही में होता है। जिसकी दृष्टि सदैव अपने पद के कर्तव्य ही पर जमी रहती है। जो अल्लाह के बन्दों को वही कुछ बताता और सिखाता है, जिसका उसके पालनहार की ओर से आदेश दिया गया हो, या आज्ञा प्राप्त हो और अपनी ओर से एक शब्द भी नहीं बोलता। फिर यह किसी प्रकार सम्भव है कि अपने पद की जिम्मेदारियों को पूरा करते हुए वह कुछ असम्बद्ध बातों से भी दिलचस्पी लेने लगे और लोगों को ऐसी बातों की भी तलक़ीन करता रहे जो उसके मिशन से कोई लगाव न रखती हों? इसलिए मानना पड़ेगा कि नबी दीन के मौलिक अक़्रीदों और कर्मों से लेकर सभ्यता व समाज के विस्तृत मसलों व मामलों तक के बारे में जो कुछ भी बताता और सिखाता है, वह किसी विभाजन या किसी बँटवारे के बिना सबका-सब “इबादत” ही का काम होता है। उन आदेशों का अनुपालन भी इबादत होती है जिनमें अल्लाह की परस्तिश की तलक़ीन की गई हो, और उन आदेशों का अनुपालन भी इबादत होती है जिनमें वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के मामलों के सम्बन्ध

में नियम और क़ानून बताए गए हों। दूसरे शब्दों में यह कि पूरे धर्म और पूरी शरीरत की इत्तिबाअ (अनुपालन) ही वह “इबादत” है जिसके लिए इनसान को पैदा किया गया और नबियों को भेजा गया है। इस पूरे आदेश-समूह में से जितने अधिक आदेशों की इनसान ठीक तरह से पैरवी करेगा, उसकी इबादत उतनी ही पूर्ण होगी और जिनी ही यह पैरवी अधूरी होगी उसकी इबादत उतनी ही त्रुटिपूर्ण मानी जाएगी।

धर्म की आधारभूत वास्तविकताओं और उसके सर्वमान्य सिद्धान्तों की रौशनी में एक और दृष्टि से भी इबादत का यही अर्थ निश्चित होता है। कुरआन ने जिस प्रकार इनसान की पैदाइश का मक़सद सिर्फ़ अल्लाह की इबादत बताया है, स्वाभाविक बात थी कि उस तरह उसकी पैदाइशी हैसियत भी वह सिर्फ़ अल्लाह के “अब्द” होने की क्रार देता। अतएव उसके पृष्ठ-पृष्ठ पर इस बात को एक मान्य और स्पष्ट हक़ीक़त के तौर-पर दुहराया गया है कि इनसान की पहली और अंतिम हैसियत मात्र “अब्द” होने की है। इसके अतिरिक्त वह किसी पहलू से भी कुछ और नहीं है। गौर कीजिए कि “अब्द” और गुलाम का व्यावहारिक जीवन क्या होता है? एक व्यक्ति जब कोई गुलाम ख़रीदता है तो वह उसका चौबीस घण्टे का गुलाम होता है और वह अपने आक्रा (मालिक) के इशारों पर जो कुछ करता है वह सबका-सब गुलामी और “अब्दियत” का काम कहलाता है, यद्यपि यह व्यक्ति उसका वास्तविक मालिक और हक़ीक़ी आक्रा नहीं होता और न वह उसका मुकम्मल अब्द (गुलाम) होता है। क्योंकि वह उसकी जिस चीज़ को ख़रीदे हुए होता है वह उसकी सिर्फ़ कार्यशक्ति होती है। उसका पूरा अस्तित्व उसके मूल्यधन में नहीं आता लेकिन इनसान अल्लाह तआला का वह “अब्द” और वह गुलाम है जिसकी एक-एक चीज़ का वह हक़ीक़ी मालिक है और वह उसकी पूर्ण मिल्कियत और उसका पैदाइशी और शास्वत गुलाम है। और जहाँ तक एक मुस्लिम और ईमानवाले इनसान का सम्बन्ध है, वह तो उसका सिर्फ़ पैदाइशी गुलाम ही नहीं, बल्कि इक्ररारी गुलाम भी है। कुरान मजीद खुलकर कहता है कि –

“निस्सन्देह अल्लाह ने मोमिनों से उनकी जानें और उनके माल ख़रीद लिए हैं, इस बदले में कि उनको जन्नत मिलेगी।”

(कुरआन, ९:१११)

इसलिए एक मुसलमान अल्लाह तआला का ऐसा “अब्द” है जिसके मात्र क्रियाकलाप की शाक्ति ही नहीं, बल्कि जिसका सब कुछ अल्लाह ही का है। वह उसका पैदा किया हुआ भी है और उसका “क्रय किया हुआ” भी है और यह “क्रय-विक्रय” का मामला भी उस गुलाम के स्वतन्त्रमत से हुआ है। ऐसा जन्मजात गुलाम और अपने पूरे अस्तित्व को विक्रय कर चुकनेवाला ऐसा पूर्णदास अपने स्वामी की अधीनता में जो कुछ करेगा, उसका कोई भी अंग उसकी दासता की हैसियत से अलग और असम्बद्ध नहीं हो सकता। जब गुलामी और अब्दियत (दासता) के अतिरिक्त उसकी कोई हैसियत सिरे से है ही नहीं, तो अनिवार्यतः, उसका एक-एक कर्म “अब्दियत” और “इबादत” ही का कर्म होगा। यहाँ तक कि यदि वह खाने और पीने, सोने और जागने के काम भी स्वामी की इच्छाओं को सामने रखते हुए करता है – जैसाकि उसे करना ही चाहिए – तो ये सारे काम भी बिलकुल “इबादत” ही के काम होंगे।

कहने को तो यह उपरोक्त तर्क वितर्क केवल एक अनुमान और बात निकालना है, एक ऐसा वैचारिक निष्कर्ष है जो कुछ प्रकरणों को तरतीब देकर और दीन (धर्म) की कुछ बुनियादी हक़ीक़तों को सामने रखकर निकाला गया है। लेकिन तर्क-वितर्क बात यह है कि ये सच्ची अनुमान पर आधारित होते हुए भी कुरआन हदीस की प्रमाणित दलीलों से बस एक ही दर्जा कम है और उसे आसानी के साथ बहस के लिए भी चैलेंज नहीं किया जा सकता।

कुरआन में ‘इबादत’ शब्द का इस्तेमाल

अन्त में इस शब्द “इबादत” के कुरआनी इस्तेमालों को लीजिए। कुरआन करीम ने इस शब्द को जिन अर्थों में प्रयोग किया है, वही इसके वास्तविक अर्थ स्वीकार किए जाएंगे। इसके बाद फिर किसी सन्देह या दुविधा का स्थान भी शेष न रह जाएगा। इन प्रयोगों का ज़ाइज़ा हमें उस फ़ैसले तक पहुँचा देगा, यक़ीनी तौर पर वही सबसे अधिक मज़बूत और सन्तोषजनक फ़ैसला होगा।

कुरआन मजीद के अन्दर इस शब्द को, विविध शैलियों में अनगिनत अवसरों पर प्रयोग किया गया है। उनमें से कुछ चुनी हुई आयतों का क्रमबद्ध अध्ययन कीजिए – (उन आयतों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है) –

(अ) “तुम लोग तो अल्लाह को छोड़ कर बस ऐसे कुछ (तथ्यहीन) नामों की ‘इबादत’ (पूजा) कर रहे हो जिनको तुमने और तुम्हारे बाप-दादा ने स्वयं ही रख लिया है।” (कुरआन, १२:४०)

“उन्होंने कहा कम कुछ बुतों की ‘इबादत’ किया करते हैं और बराबर उन्हीं की सेवा में लगे रहते हैं।” (कुरआन, २६:७१)

ये आयतें बताती हैं कि किसी की पूजापाठ करना और उससे दुआएँ मांगना, उसकी ‘इबादत’ करना है। क्योंकि बहुदीववादियों ने अपने बुतों के साथ जो कुछ किया करते थे उसे इन आयतों में “इबादत” कहा गया है और साष्ट है कि बहुदेवादियों का संबंध अपने बुतों से पूजा-पाठ और हुआ व प्रार्थना ही का हुआ करता था। इससे अधिक या इसके अतिरिक्त किसी और चीज़ का संबंध न ही होता था।

(ब) “जो लोग ‘तागूत’ की ‘इबादत’ से दूर रहे और अल्लाह की ओर रुजू हुए, उनके लिए शुभ सूचना है।”

(कुरआन, ३९:१७)

“..... वे, जिन पर अल्लाह की फिटकार पड़ी और उसका प्रकोप हुआ और उनमें से कितनों ही को उसने बन्दर और सूअर बना दिया और जिन्होंने कि तागूत (अल्लाह के विद्रोहियों) की इबादत की, वे लोग (तुमसे भी) निकृष्ट दर्जे के थे।”

(कुरआन, ५:६०)

इन आयतों से ज्ञात हुआ कि किसी को आराध्य व उपास्य मान कर अपने इरादे और अपनी मर्जी से उसके आदेशों पर चलना उसकी ‘इबादत’ करना है। क्योंकि इन आयतों में उस कार्य-शैली को इबादत कहा गया है जो तागूत के साथ उसके अनुयायीगण अपनाते हैं। तागूत के शाब्दिक अर्थ “सीमोलंघन करनेवाले” और “बड़ी उद्दण्डता दिखानेवाले” के हैं। कुरआन की भाषा में ‘तागूत’ से अभिप्रेत प्रत्येक वह सृष्टि (रचना) होती है, जो अल्लाह की बन्दगी से निकल गई हो, या निकल जाने का साधन बनी हो। इस प्रकार यदि शैतान और बुत “तागूत” हैं तो वे शासक वर्ग और सरदार और वे राजनेता और सजहबी पेशवा भी “तागूत” ही हैं जो खुदा के खौफ़ से दूर और अल्लाह की हिदायत से बेनियाज़ होते हैं और अपना मत और अपनी मर्जी ही को सामाजिक कानून व विधान ठहराते व मनवाते हैं। खुदा के इन बागियों के साथ उनके अनुयायियों का रवै या यह होता है कि वह उनको अपना पूज्य समझते हैं, उनको किसी प्रतिबन्ध व शर्त के बिना कानून बनाने, हुक्म चलाने और फ़ैसले करने के योग्य मानते हैं और पूरे हार्दिक भाव के साथ उनका आज्ञानुपालन व अनुसरण करते हैं। उनके इस व्यावहारिक आचरण को कुरआन ने अगर “तागूत” की “इबादत” कहा है, तो यह इस बात का प्रमाण है कि उसके निकट वह आज्ञानुपालन (इताअत) भी “इबादत” ही होती है जिसके पीछे इरादे की स्वतन्त्रता और हार्दिक प्रसन्नता मौजूद हो और जो किसी को स्वतन्त्र आज्ञानुपालन का पात्र समझकर किया जाए।

(स) “..... तो (फ़िरऔन ने) कहा कि क्या हम अपने ही जैसे दो आदमियों की बात मान लें (और वह भी) इस स्थिति में कि उनकी क्रौम हमारी आबिद (आज्ञाधीन) है?” (कुरआन, २३:४७)

“(हज़रत मूसा अलै. ने वार्ता जारी रखते हुए फ़िरऔन से कहा) और यह है तेरा वह उपकार जो तू मुझ पर जता रहा है कि तूने बनी इसराईल को अपना अब्द (गुलाम) बना रखा है।” (कुरआन, २६:२२)

ये आयतें इस बात का सबूत हैं कि केवल वही इताअत (आज्ञानुपालन) “इबादत” नहीं होती, जिसके पीछे नीयत, हार्दिक तत्परता और बिना अंकुश व शर्त आज्ञानुपालन का पात्र होने का विचार, तीनों ही चीज़ें विद्यमान हो, बल्कि इससे आगे बढ़कर वह आज्ञा का अनुपालन भी “इबादत” ही होता है जो यद्यपि अपनी इच्छा के विरुद्ध करनी पड़ रही हो। मगर विवेक और नीयत के साथ और बिना तर्क-वितर्ककिया जा रहा हो और जिसका आज्ञानुपालन किया जा रहा हो वह स्वयं को किसी उच्चतम कानून का पाबन्द न समझता हो – क्योंकि इन आयतों में बनी इसराईल की गुलामी को क्रिब्तियों की “इबादत” करना कहा गया है। ज़ाहिर बात है कि बनी इसराईल यद्यपि अपनी गुलामी की इस दर्दनाक हालत के खिलाफ़ दम नहीं मारते थे, लेकिन उसे बर्दाश्त भी खुशी के साथ नहीं कर रहे थे, बल्कि यह केवल शासन शक्ति का भय और अपनी विशता थी, जिसके कारण वे चुपचाप फ़िरऔनी हुकमों के जूए तले अपनी गर्दन दिए हुए थे। इससे मालूम हुआ कि किसी स्वतन्त्र शासन करने की दावेदार शक्ति की वह बिना तर्क-वितर्क आज्ञानुपालन करना भी उसकी “इबादत” होता है, जिसमें यद्यपि दिल की रज़ामन्दी न हो, मगर शऊर व नीयत विद्यमान हो।

(द) “ऐ आदम की सन्तान ! क्या हमने तुम्हें इस बात की ताकीद न की थी कि ‘शैतान’ की इबादत न करना। निस्सन्देह, वह तुम्हार खुला हुआ शत्रु है।” (कुरआन , ३६:६०)

“(इबराहीम ने कहा था) पिता जी ! शैतान की इबादत न कीजिए।”

(कुरआन, १९:४४)

इन आयतों से ‘इबादत’ का एक और अर्थ या उसका एक और रूप भी ज्ञात हुआ। वह यह कि अनैच्छिक रूप से किसी की इच्छाकी पैरवी और आदेश का पूरा करना भी “इबादत” ही है। उक्त आयतों में शैतान की ‘इबादत’ करने की बात कही गई है। यद्यपि वे लोग जिनके सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है, उन्होंने शैतान को कभी अपना माबूद (पूज्य) नहीं बनाया था। बात सिर्फ़ इतनी होगी कि उनके अक्रीदे और कर्म वैसे ही थे जैसे शैतान चाहता था। अन्यथा जहाँ तक ज़ाहिरी वस्तुस्थिति का सम्बन्ध है, उनमें से कोई भी शैतान को सजदा न करता था। कोई उससे दुआए नहीं माँगता था, कोई उसको अपना स्वामी व आक्रा या रहनुमा स्वीकार नहीं करता था, कोई उससे मुहब्बत और अक्रीदत (आस्था) नहीं रखता था। बल्कि सारी दुनिया की तरह वे भी उसे बुराई की साकार मूर्ति ही मानते थे और उनके पास या उसके प्रति नफ़रत और लानत के अतिरिक्त और कुछ न था। इन समस्त तथ्यों के उपरांत अगर यह फ़रमाया गया है किये लोग शैतान की “इबादत” करते थे, तो यह इस वास्तविकता का स्पष्टतः ज्ञापन है कि चाहे इत्तिबाअ और इताअत (आज्ञानुपालन और अनुसरण) की बिलकुल नीयत न हो, यहाँ तक कि अपने अक्रीदे और अमल के बारे में यह शऊर क्या, गुमान भी न हो कि यह अमुक के आदेश और इच्छानुसार हों, लेकिन यदि वस्तुस्थिति यही हो तो यह अविवेकीय आज्ञानुपालन भी कुरआन के निकट “इबादत” ही है।

कुरआन के इन चारों प्रयोगों में से किसी एक के सम्बन्ध में भी यह कहना सही न होगा कि इसमें लक्षणात्क वर्णन शैली अपनाई गई है। क्योंकि यह एक ऐसा दावा होगा, जिसके पक्ष में कोई दलील नहीं दी जा सकती, न तो शब्द कोश से, न कुरआन से, न सही हदीसों से। ऐसा दावा अगर किया सकता था तो उसी समय किया जा सकता था, जब कुरआन मजीद की उन अनगिनत आयतों में से जिनके अन्दर “इबादत” का शब्द प्रयोग किया गया है। किसी एक से भी यह अभिप्राय निकलता होता कि “इबादत” केवल परस्तिश का नाम है। परस्तिश के कामों के अलावा और कोई काम इबादत नहीं होता किन्तु कुरआन के अन्दर किसी ऐसी आयत का पाया जाना दुर्लभ है। हाँ, इसमें ऐसी आयतें बहुत मिलेंगी जिनमें “इबादत” का शब्द बोलकर केवल परस्तिश के अर्थ-अभिप्राय लिए गए हैं (जिसके कुछ उदाहरण भी ऊपर आ चुके हैं) लेकिन बड़ा अन्तर है इस बात में कि इबादत के अर्थ केवल परस्तिश व अराधना के हैं और इस बात में कि ‘इबादत’ के मानी परस्तिश के भी हैं।

शब्द “इबादत” का जो शब्द कोशीय विवेचन ऊपर गुजर चुका है, उसको अगर सामने रखें तो महसूस होगा कि ‘इबादत’ की ये चारों शकलें जो कुरआन के अध्ययन से अभी मालूम हुईं, इबादत के चार स्थाई और पारस्परिक असम्बद्ध अर्थ नहीं हैं, बल्कि वस्तुतः एक ही सटीक अर्थ व भाव के चार भिन्न पहलू या भिन्न अंग हैं। परस्तिश भी इबादत है और शऊरी या ग़ैर शऊरी इताअत (आज्ञानुपालन) भी इबादत है। इबादत के अतिरिक्त कुछ और न यह है न वह है। लेकिन इनमें से कोई भी स्वयं में पूर्ण इबादत नहीं है। अगर इनमें से कोई चीज़ भी अकेली पूर्ण इबादत होती तो फिर दूसरी को इबादत कहने की कोई गुंजाइश और जायज़ होने का कारण शेष न रह जाता। लेकिन हम देख रहे हैं कि कुरआन मजीद ने अगर परस्तिश को इबादत कहा है, तो साथ ही आज्ञानुपालन (इताअत) की उपरोक्त तीनों शकलों को भी “इबादत” ही कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके निकट इबादत का भाव पूरा उसी समय होता है जब परस्तिश और आज्ञानुपालन – दोनों चीज़ें इकट्ठी हो जाएँ।

बहस व तहक़ीक के तीनों पहलू हमारे सामने आ चुके – (१) शब्दकोशीय अनुमान का भी (२) धार्मिक मान्यताओं की अपेक्षाओं का भी और (३) कुरआनी प्रयोगों का भी। तीनों इस बात पर मतैक हैं कि – इबादत एक सटीक और लक्ष्यानुगामी पारिभाषिक शब्द है, जो परस्तिश और इताअत (आज्ञानुपालन) दोनों को पूरी तरह समोए हुए है। इस की व्यापकता वहाँ से पहले खत्म नहीं होती जहाँ पहुँचकर शरीअत के अर्थ और आदेश खत्म होते हैं।

वह इबादत जो कुरआन को अभीष्ट है

अल्लाह तआला ने अपनी जिस इबादत को इनसान के अस्तित्व का कारण बताया है और जिसकी चेतावनी व हिदायत के लिए उसके रसूल आते रहे हैं, वह कोई अधूरी और आधी तिहाई प्रकार की नहीं है और न हो सकती थी। वह न केवल परस्तिश तक सीमित है और न केवल इताअत तक सीमित है। यही बुद्धि की भी स्पष्ट माँग है और यही कुरआन का भी स्पष्ट फ़ैसला है। बुद्धि की स्पष्ट माँग यह इसलिए है कि जो खुदा इनसान का स्रष्ट और स्वामी, अन्नदाता और उपकारी शासक और उपास्य (माबूद) सभी कुछ है, उसे सभी प्रकार की ‘इबादतों’ का हक़दार भी होना चाहिए। कुरआन का फ़ैसला यह इस तरह है कि उसकी आयतें इस्लाम के अनुयायियों से अल्लाह तआला की परस्तिश और उसकी इताअत (आज्ञानुपालन) दोनों ही बातों का समान रूप से मुतालबा करती देखी जा रही हैं। वे जहाँ यह कहती हैं कि अल्लाह ही को सजदा करो, उसी के नाम की पाकी बयान करो, उसी से दुआएँ माँगें, उसी की बड़ाई की उद्घोषणा करो, उसी को मदद के लिए पुकारें और उसी के सामने नेमत पाने का कृतज्ञता ज्ञापन करो। वहीं यह भी कहती हैं और बार-बार कहती हैं कि – अल्लाह ही को बिना शर्त व प्रतिबन्ध के आज्ञानुपालन का पात्र और वास्तविक शासक तथा हाकिम मानो, उसी को शारश्वत क़ानून निर्माता स्वीकार करो, उसी के आदेशों की पैरवी करो, उसी को दिए हुए क़ानूनों के मुताबिक़ फ़ैसले करो, उसी के प्रदत्त सिद्धांत को जीवन के सिद्धांत बनाओ और उसी के ठहराए हुए वैध को वैध और उसी के ठहराए हुए अवैध को अवैध समझो। इसलिए उस ‘इबादत’ का अर्थ जिसे इनसान की पैदाइश का उद्देश्य और लक्ष्य कहा गया है, जो हर नबी के आह्वान का शीर्षोद्देश्य रहता रहा है और जिसका कुरआन ने हमें आदेश दिया है, अनिवार्यतः वही लक्ष्यानुगामी और पूर्ण अर्थ होगा, जिसमें परस्तिश और इताअत दोनों चीज़ें सम्मिलित हों।

इस सम्बन्ध में और इत्मीनान के लिए एक और पहलू से ग़ौर कर लीजिए। कुरआन मजीद इनसान के पैदा किए जाने का उद्देश्य एक जगह इन शब्दों में भी बयान करता है:-

“अल्लाह ने मौत और ज़िंदगी का सिलसिला इसलिए जारी किया है, ताकि तुम्हें आजमाकर देखे कि तुममें से कौन लोग कर्म की दृष्टि से बेहतर हैं।”

(कुरआन, ६७:२)

एक और स्थान पर इस तरह फ़रमाता है –

“और याद करो उस समय को जब तुम्हारे ‘रब’ ने फ़रिश्तों से कहा था कि मैं पृथ्वी पर अपना एक नायब (प्रतिनिधि) पैदा करने वाला हूँ।”

(कुरआन, २:३०)

इन दोनों आयतों से मालूम हुआ कि इनसान के जन्मदाता ने उसके पैदा करने का उद्देश्य व गरज़ बताने के लिए जहाँ “इबादत” का पर्याय अपनाया है वहीं “अच्छे कर्म” और “नायब होने” के पर्याय भी अपनाए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मानो अलग-अलग शब्द हैं, किन्तु उनका उद्देश्य और मन्तव्य अलग-अलग नहीं है, बल्कि एक ही चीज़ है जिसकी अभिव्यक्ति और वर्णन के लिए अवसर की अनुकूलतानुसार तीन भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में यह कि कुरआन के निकट अल्लाह की इबादत, कर्म की बेहतरी, खिलाफ़त व नियाबत (प्रतिनिधित्व तथा स्थानापन्न) वास्तव में एक ही मुद्दे के विविध पक्ष हैं। इसलिए “इबादत” का कोई ऐसा अर्थ नहीं लिया जा सकता, जिससे श्रेष्ठ कर्म और “खिलाफ़त व नियाबत” की अवधारणाएँ पूरी तरह मेल न खाती हों, बल्कि इसका वही भाव लिया जाना ज़रूरी है जिसके अन्दर इन दोनों अवधारणाओं की आत्मा भी अनिवार्यतः विद्यमान है। खुली हुई बात है कि “अच्छा और उतम कर्म” केवल अराधना व परस्तिश को या केवल आज्ञानुपालन को नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति खिलाफ़त व नियाबत की भी है। यद्यपि इसका ऊपरी भाव परस्तिश के मुक़ाबिले में आज्ञानुपालन से अधिक निकट है, लेकिन परस्तिश भी इसके अर्थ से किसी स्थिति में विलग नहीं है। इस प्रकार इन दोनों पर्यायों से यह वास्तविकता और खुलकर सामने आ जाती है कि इस्लाम में अल्लाह की इबादत का जो अर्थ है वह परस्तिश और आज्ञानुपालन दोनों पर प्रभावी है और शरीअत का कोई दृष्टिकोण भी ऐसा नहीं जो उसके घेरे से बाहर हो,

इस्लाम के दृष्टिबन्त विद्वानों पर यह वास्तविकता छिपी न थी और न छिपी रह सकती थी। इस्लाम के शिरोमणि विद्वान (शैखुल इस्लाम) इब्ने तैमिया (रह.) से जब पूछा गया कि आयत – “ऐ लोगो! अपने रब की इबादत करो।” में जिस ‘इबादत’ का आदेश दिया गया है, उसका भाव व प्रकरण क्या है? तो अपने इस मसले पर एक सविस्तार भाषण देते कहा कि –

“इबादत एक व्यापक शब्द है इसके अन्दर वे समस्त भौतिक और आध्यात्मिक कर्म और कथन सम्मिलित हैं, जो अल्लाह तआला को प्रिय हैं और जो उसकी प्रसन्नता का साधन बनते हैं। उदाहरणार्थ – नमाज़, ज़कात, रोज़ा, हज, सच बोलना, अमानतदारी, परिवारजनों पर अनुग्रह व कृपा, सत्यनिष्ठता, माता-पिता का आज्ञानुपालन, वचन पूरा करना, भलाई का आदेश करना, बुराई से रोकना, अल्लाह की राह में जीतोड़ संघर्ष करना, पड़ोसियों और यतीमों और निर्धनों व मुहताजों और गुलामों व सेवकगण के साथ – चाहे ये सेवक मानव हों या चाहे जानवर – अच्छा सलूक, दुआ, अल्लाह का ज़िक्र, कुरआन की तिलावत और इसी प्रकार के समस्त शुभ कर्म “इबादत” के अंग हैं। इसी प्रकार अल्लाह की और उसके रसूल की मुहब्बत, अल्लाह की कृपालुता व रहमत की उम्मीद और अल्लाह के अज़ाब का डर और भय, धरोहर, निष्ठा, धैर्य कृतज्ञता, (अल्लाह पर) भरोसा और (उसके निर्णय को) स्वीकार करना और उसपर राज़ी रहना आदि समस्त अच्छे गुण इबादत के अन्दर सम्मिलित हैं।

(अल-अबूदिया)

आगे चलकर एक स्थान पर फिर फ़रमाते हैं:-

इस स्पष्ट आदेशों से जहाँ एक ओर यह सच्चाई प्रकाश में आती है कि इबादत किसी सृष्टि की श्रेष्ठता व सम्मान और उसके सौभाग्य की पराकृष्टा है, वहाँ दूसरी ओर यह बात भी बेपरदा हो जाती है कि धर्म अपने समस्त अंगों के साथ इबादत में शामिल है। समस्त पैग़म्बर अल्लाह का धर्म (दीन) सिखाने आए थे, जैसा कि कुरआन में कई जगह इसकी व्याख्या विद्यमान है और फिर प्रत्येक नबी (अलै.) ने अपने सम्बोधित लोगों को – “उसकी इबादत करो” की चेतावनी व तल्कीन की। इससे ज्ञात हुआ कि “धर्म अर्थात्” और “इबादत” एक ही मन्तव्य के दो भाव हैं।” (अल-अबूदिया)

ये व्याख्याएँ इस सम्बन्ध में कोई सन्देह शेष नहीं रहने देती कि इबादत पूरे ‘दीन’ (धर्म) की पैरवी का नाम है। धर्म के किसी अंग के बारे में चाहे वह परस्तिश के प्रकार का हो, चाहे आज्ञानुपालन के प्रकार का – यह नहीं कहा जा सकता कि वह इबादत का नाम नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि इबादत का फ़र्ज़, शरीअत के एक-एक आदेश को पूरा करने के बाद ही अदा हो सकता है। यह एक ऐसी इकाई है जिसे हम विभाजित नहीं कर सकते। ठीक उसी तरह जिस तरह कि मानवीय अस्तित्व एक पूर्ण एकत्व है, जिसे भिन्न अस्तित्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

इस्लाम के अंगों (अरकान) का विशिष्ट महत्व

जिस प्रकार मानवीय शरीर एक पूर्ण एकत्व होते हुए भी दिल और दिमाग़, हाथ और पाँव, नाक और कान आदि भिन्न अंगों पर व्याप्त है और इन समस्त अंगों का महत्व हर पहलू से एक समान नहीं है; इसी प्रकार इबादत भी अगणित अंगों पर व्याप्त है और इन सब का महत्व और आदर-मूल्य हर पहलू से एक समान नहीं है। यहाँ तक कि इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो शेष सभी अंगों की तुलना में विशिष्ट और

श्रेष्ठ महात्म्य रखते हैं, कुछ वैसा ही विशिष्ट और श्रेष्ठ महात्म्य जैसा कि दिल और दिमाग आदि सर्वश्रेष्ठ अंगों को शरीर के शेष हिस्सों के मुक़ाबले में हासिल है। इबादत के ये विशेष अंग वही हैं, जिनको इस्लाम के व्यावहारिक अंग (अरकान) कहा जाता है। – अर्थात् नमाज़, रोज़ा, हज और ज़कात। इन कर्मों को जिन कारणों से यह सर्वश्रेष्ठ महत्व प्राप्त है वे ये हैं :-

(१) ये पूरे-के-पूरे तअल्लुकबिल्लाह अर्थात् अल्लाह से लगाव पैदा करनेवाले होते हैं। उनमें से प्रायः का सम्बन्ध ज़ाहिर में भी सबसे अधिक केवल यथार्थ पूज्यप्रभु (अर्थात् अल्लाह) से रहता है। इस सम्बन्ध में किसी और के जाप या विचार का किसी ओर से भी कोई समावेश नहीं होता। इन कर्मों के पूरा होते समय एक ओर इनसान होता है, दूसरी ओर उसका अल्लाह होता है। जबकि दूसरे धार्मिक कर्मों की स्थिति इस प्रकार की यकसूई की नहीं होती। यद्यपि वे भी अल्लाह ही के आदेश की पैरवी में और उसी की प्रसन्नता के लिए होते हैं, लेकिन उनके पूरा करने के समय सृष्टि का ज़िक्र और विचार भी अनिवार्यतः विद्यमान होता है और उसके बिना वे पूर्ण हो ही नहीं सकते। जब इनसान नमाज़ पढ़ता है तो उसका सम्बन्ध सीधे अपने खुदा से होता है, किन्तु जब वह अदालत की कुर्सी पर बैठ कर शरीअत के क़ानून के मुताबिक़ फ़ैसले कर रहा होता है तो वस्तुस्थिति ऐसी नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि वह अपने 'रब' के साथ सीधे और पूरी यकसूई के साथ व्यस्त हो, बीच में किसी और का ज़िक्र व खयाल मौजूद न हो। बल्कि होता यह है कि उसका ज़ेहन अगर एक ओर शरीअत के हुक्म को पूरा करने और अल्लाह की प्रसन्नता की आकांक्षा पर केंद्रित होता है, तो दूसरी ओर मुक़द्दमे से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों के साथ भी कार्यरत रहता है और जहाँ तक उसकी ज़बान, उसके कान और उसकी आंखों का सम्बन्ध है उनकी संलग्नता तो केवल उन्हीं से रहती है।

(२) इन कर्मों का स्वरूप भी 'इबादत' ही की अवधारणा के साथ विशिष्ट है। वे जिस रूप में पूरे किए जाते हैं उस पर इबादत की वास्तविकता की गहरी छाप पड़ी होती है। उनके देखते ही ज़ेहन आप से आप इस विश्वास की ओर दौड़ पड़ता है कि यह इबादत का काम है, यह गुमान बिलकुल नहीं होता कि यह कोई और काम है। लेकिन दूसरे कर्मों का मामला ऐसा नहीं है। उनके बाह्य-रूप पर इबादत की अवधारणा की कोई छाप नहीं होती और उन्हें देखने के बाद तुरन्त ही ज़ेहन आप से आप इस तरफ़ शायद ही स्थानांतरित हो पाता हो कि यह 'इबादत' का काम है।

(३) मानव के अन्दर खुदा की दासता की आत्मा और बन्दगी का शौक पैदा करने में इन कर्मों का विशिष्ट स्थान है, जो दूसरे धार्मिक कृत्यों को प्राप्त नहीं। यद्यपि ये प्रत्येक शुभ कर्म और हर इबादत के कर्मों की विशेषता होती है कि इससे मानवीय मन में पवित्रता आती है, बन्दगी की भावना ताज़ा हो जाती है और अल्लाह से सम्बन्ध बढ़ जाता है। किन्तु जहाँ तक आम हालात का सम्बन्ध है, जितनी मात्रा में, जितनी आसानी के साथ और जिस सीधे तरीके पर यह दिल की सम्पत्ति उन विशिष्ट कर्मों से मिला करती है, किसी और कर्म से नहीं मिलती। अधिक सही बात यह है कि उन कर्मों के यानी उन ख़ास इबादतों के बिना इनसान में वह आत्मिक शक्ति पैदा ही नहीं हो सकती जो पूरी इबादत के पूरे कर्तव्य को निभापाने के लिए अनिवार्य है। यही कारण है कि उन्हें अनिवार्य कर्तव्य यानी फ़र्जे ऐन ठहराया गया है और नियमों व सिद्धान्तों के पूर्ण स्पष्टीकरण के साथ ठहराया गया है; ताकि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति के उन स्रोतों से कमी असावधान हो जाने के ख़तरे में न फँसा रहे, जिनसे ऊर्जा प्राप्त किए बिना वह पूरी इबादत के किसी अंग पर भी अमल नहीं कर सकता। मतलब यह कि विशिष्ट कर्म भी यद्यपि "इबादत" ही के अंग हैं मगर ऐसे असाधारण अंग हैं, जो स्वयं में महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ दूसरे सभी अंगों को पूरा करने के लिए भी अनिवार्य हैं।

इन महत्ताओं को अगर दृष्टि में रखकर गौर किया जाए तो साफ़ महसूस होगा कि इन चारों शरीअत के आदेशों या इस्लाम के अंगों (अरकान) को "इबादत" की परिभाषा के साथ एक विशिष्ट सम्बन्ध प्राप्त है और ये विशिष्ट सम्बन्ध उन्हें इस बात की विशिष्ट पात्रता प्रदान करता है कि उन पर इस परिभाषा का सर्वप्रथम चरितार्थ हो। जब यह शब्द कानों में पड़े तो ज़ेहन सबसे पहले उन्हीं की ओर स्थानांतरित हो। यहाँ तक कि जब इन चारों कर्मों की विशिष्ट महत्ता स्पष्ट करनी हो, तो उन्हीं को पूर्ण इबादत का नाम भी दे दिया जाए और इबादत का शब्द बोलकर केवल यही कर्म मुराद ले लिए जाएँ। चुनांचे ऐसा वस्तुतः किया भी गया है। फिर यह कोई ज्ञानरहित पर्याय देने की शैली नहीं। बल्कि नाम और उपनाम की जानी पहचानी शैली के ठीक अनुकूल है। यही शैली है जिसके अनुसार सारे आसमानी मज़हबों के वास्तव में 'इस्लाम' ही होने के उपरांत "इस्लाम" नाम केवल आखिरी धर्म (मज़हब) का रखा गया है। इसी तरीके से यहाँ भी काम लेते हुए सिर्फ़ उन्हीं चार कर्मों (आमाल) को इबादत के नाम से संज्ञा दी गई है। अर्थात् यद्यपि प्रत्येक शरीअत के आदेशों की पैरवी वास्तव में इबादत ही का काम है लेकिन नमाज़, रोज़े और हज व ज़कात के मर्तबे व मक़ाम की असाधारण श्रेष्ठता के कारण "इबादत" का शब्द केवल उन्हीं चार कर्मों के लिए विशिष्ट करके भी बोला गया है, जिसका मंशा केवल यह है और यही होना चाहिए कि इस तरह "इबादत" की समष्टि व्यवस्था में इन कर्मों की श्रेष्ठतम शान और विशिष्ट महत्व को नुमायाँ रखा जाए। यह मंशा हरगिज़ नहीं है और न हो सकता है कि इबादत के काम केवल यही हैं और बाक़ी सारा दीन (धर्म) इबादत की अवधारणा से रिक्त है।

ग़लत अवधारणाएँ और उसके कारण

“इबादत” के वास्तविक अर्थ और सटीक भाव के सम्बन्ध में बुद्धि की स्पष्ट अपेक्षा अल्लाह के कलाम की खुली गवाही और उलमा सूक्ष्मदर्शी विद्वानों (साहिबे नज़र) की सत्यपरक खोज तो यह है कि जो ऊपर की बहसों में आप के सामने आई। मगर दूसरी और आम तौर से यह विचार फैला हुआ है कि “इबादत” केवल परस्तिश का नाम है। नमाज़, रोज़ा आदि चंद जानी पहचानी “इबादतों” के अतिरिक्त धर्म में और जो कुछ है वह इबादत नहीं है। शरीअत के आदेशों के बहुत से विभाग हैं। उनमें से केवल एक विभाग इबादत का है। पूरी शरीअत और उसके समस्त विभाग इबादत नहीं हैं। यह विचार आम जनता ही के नहीं, कितने ही खास लोगों तक के ज़ेहनों में भी घर किए हुए है। इसके कतिपय बड़े दूरस्थ पारिणाम भी सामने आए हैं; इसलिए इसे नज़र-अन्दाज़ करके आगे बढ़ जाना सही न होगा। अनिवार्य है कि इसके कारण व हेतु मालूम किए जाएँ। पता चलाया जाए कि ऐसे स्पष्ट तर्कों के होते हुए आखिर ये ग़लत अवधारणाएँ कहाँ से पैदा हुईं और दिन के उजाले रौशन में इतनी बड़ी ठोकर कैसे लगी? – ताकि इसकी “वास्तविकता” का सही अनुमान हो जाए और ज़ेहन इस बात पर पूरी तरह सन्तुष्ट हो सके कि यह बहरहाल एक रद्द करने योग्य विचार है।

जहाँ तक अनुमान की बात है, इस भ्रांति के कारण वैचारिक से अधिक मनोवैज्ञानिक हैं और वे दो हैं:-

(१) एक तो यह कि इस्लाम से बाहर के लगभग समस्त धार्मिक जगत् में इबादत की यही सीमित धारणा प्रचलित है। वहाँ इबादत और पूजा-पाठ दोनों को बिलकुल समानार्थक समझा जाता है, और कितने ही धर्म तो ऐसे हैं जो उपासना-स्थलों से बाहर झाँकना भी इबादत और दीनदारी (धार्मिकता) की शान के विरुद्ध समझते हैं। जो धारणा पूर्व-पश्चिम, हर ओर फैली हुई और दूर व निकट के सारे वातावरण में छाई हुई हो, नैसर्गिक रूप में उसमें वशीकरण की असाधारण शक्ति आ जाती है और उससे उन ज़ेहनों का भी सुरक्षित रहना कुछ आसान नहीं रह जाता, जिन्हें उसे अनिवार्य रूप से ग़लत समझना चाहिए। विशेषकर ऐसे समय यह खतरा और ज़्यादा हो जाता है जब यह ज़ेहन वैचारिक गिरावट की धार में आ चुके हों। क्योंकि उस समय उनके अपने विचारों व कल्पनाओं में इतनी शक्ति शेष नहीं रह जाती कि वे दूसरे विचारों का कोई प्रभाव स्वीकार न करें। स्वयं इस्लामिक इतिहास इस बात की एक-दी नहीं बीसियों मिसालें पेश कर सकता है। इस्लाम जब तक चिंतन व व्यवहार के श्रेत्र में एक प्रभावी व्यवस्था की हैसियत से छाया हुआ था और उसके अन्दर अग्रसरता की आत्मा दौड़ रही थी, उस समय तक ग़ैर इस्लामी दृष्टिकोण और मर्तों की ज़मीन अत्यन्त तंग थी, वे इस्लामी धारणाओं से क्या आखें मिलाते। लेकिन जब यह वस्तुस्थिति शेष न रह गई तो मुसलमानों के ज़ेहन भी धीरे-धीरे विवेक शक्ति को खो बैठे और भौतिक विचारों के लिए उन्होंने अपने द्वार खोल दिए। अब तो स्थिति यहीं तक पहुँच चुकी है कि अनगिनत ग़ैर-इस्लामी दृष्टिकोण व विचार विशुद्ध इस्लाम बने हुए हैं और धर्म की अति महत्वपूर्ण परिभाषाओं तक का भी, अर्थ की दृष्टि से, सम्मान बेदाग़ नहीं रह गया है। शब्द निस्सन्देह वही हैं जो अल्लाह और रसूल (सल्ल.) से मिले थे, लेकिन उनके अर्थ ठीक-ठीक वही नहीं रह गए, जो बताए गए थे। ऐसी स्थिति में प्रभावी गुमान यही है कि “इबादत” की इस्लामी परिभाषा पर भी वैचारिक गिरावट का यही अमल जारी हो गया और उसका वही सीमित भाव, जो दूसरे लोगों में प्रचलित था, धीरे-धीरे मुसलमानों ने भी स्वीकार कर लिया।

(२) दूसरा कारण यह है कि नमाज़ आदि इबादत की खुसूसी शान देखकर निगाहें चका चौंध हो गईं। उन कर्मों की जो सर्वश्रेष्ठ विशेषताएँ ऊपर बयान की जा चुकी हैं, मानना पड़ेगा कि उनके अन्दर ऐसा हृदयाकर्षण है, जो ज़ेहनों को यथार्थ विचारों से सरलतापूर्वक हटा ले सकता है। इबादत के कुछ कर्म अगर ऐसे हों कि उनका बाह्य और अन्तर दोनों ही कुछ विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ गुणों से सुसज्जित हो, अगर वह अब्द (दास) और माबूद (पूज्य) का सीधा सम्बन्ध प्रकट कर रहे हों, अगर बन्दगी का शौक और ईमान की रूह जगाने में वह अपनी मिसाल न रखते हों और अगर उनकी सूत भी पूरे इबादत के रंग में रंगी हुई हो – तो मनोवैज्ञानिक रूप से बिलकुल सम्भव है कि कुछ लोग केवल उन्हीं को इबादत मान बैठें, यहाँ तक कि अगर इस्लाम की इबादत की सटीक अवधारणा ज़ेहनों में अच्छी तरह बैठी हुई न हो तो केवल इन्हीं कुछ कर्मों को इबादत के कर्म समझ लेना और दूसरे समस्त शरीअत के कर्मों को इबादत की सीमाओं से बाहर विचार कर बैठना न केवल सम्भव है बल्कि व्यावहारिक रूप में शायद केवल यही सम्भव है।

प्रकट में यही दो खास कारण हैं जिन्होंने इस ग़लत धारणा को जन्म दिया है, वरना वस्तुतः कोई बौद्धिक या लिखित प्रमाण ऐसा नहीं जो इस दृष्टिकोण के पक्ष में प्रस्तुत किया जा सकता हो।

इस्लाम और दूसरे धर्म

‘सर्वधर्म समभाव’ का दृष्टिकोण

इस समय धार्मिक जगत में एक दृष्टिकोण को बड़ी ख्याति और महत्ता प्राप्त हो रही है, जिसे “सर्वधर्म समभाव” का दृष्टिकोण कहते हैं। इस दृष्टिकोण का अभिप्राय यह है कि सारे धर्म सच्चे हैं, सभी खुदा तक पहुँचानेवाले हैं और सब के सब परलोक की सफलता व मुक्ति के समानरूप से सफल साधन हैं। इस दृष्टिकोण के पक्ष में ये ‘तर्क’ प्रस्तुत किए जाते हैं कि ‘पूजा’ का तरीका चाहे जो भी हो, लेकिन जब प्रत्येक ‘पूजा-पाठ’ खुदा को पा लेने ही के लिए होते हैं तो सबका सम्मान व महत्ता भी बराबर ही होनी चाहिए। असल क्रीमत रूह (आत्मा) की होती है, न कि शरीर की। इसलिए इस बात का कोई महत्व नहीं कि इबादत करनेवाला इबादत का तरीका क्या अपनाता है। महत्ता जो कुछ है वह केवल इस बात की है कि वह इबादत किसकी कर रहा है? किसकी याद में लीन है? किसके जलवों को देख लेने की कोशिश में है? और किसको पा लेना चाहता है? अगर हिन्दू और मुसलमान, ईसाई और यहूदी, पारसी और बौद्ध – सभी अपने-अपने तौर पर खुदा ही को पूजते हैं और सभी का अपेक्षित लक्ष्य वही होता है तो उनकी पूजा (परस्तिश) के बाह्य आचरण और तौर-तरीके एक दूसरे से चाहे जितने भी भिन्न हों, सबकी परस्तिश खुदा ही की परस्तिश होगी, सब बराबर के खुदा के याचक होंगे – इसी लिए सब सत्य-पथ पर होंगे।

यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से समस्त धर्मों की हैसियतें निश्चित कर देनेवाला दृष्टिकोण है। और उसके अनुसार इस्लाम की यह हैसियत निश्चित होती है कि वह एक सच्चा धर्म जरूर है, लेकिन सिर्फ वही सच्चा धर्म नहीं है, बल्कि दूसरे धर्म भी उसी के बराबर सच्चे और सच्चाई पर हैं। क्या इस्लाम को अपनी यह हैसियत स्वीकार है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर मिलना बहुत जरूरी है। क्योंकि यह कोई साधारण प्रश्न नहीं है, बल्कि इस्लाम की “हैसियत” का प्रश्न है। और इसका जो उत्तर होगा उसके परिणाम बहुत दूर तक पहुँचनेवाले होंगे। इस उत्तर को ज्ञात करने की आवश्यकता उस समय और तीव्र हो जाती है जब कहनेवाले यह भी कहते हों कि स्वयं कुरआन ने दीन (धर्म) का जो प्रयोजन और रिसालत का जो इतिहास बयान किया है वह उपरोक्त दृष्टिकोण के विरुद्ध नहीं जाता, बल्कि उससे भी किसी हद तक उसका समर्थन ही निकलता है, क्योंकि वह स्वयं स्वीकार करता है कि अल्लाह तआला ने हर क्रौम में अपने रसूल भेजे हैं और खुद मानता है कि सारे नबी (अलै.) और उनके लिए धर्म अल्लाह ही के भेजे हुए थे। वह स्वयं कहता है कि अपनी वास्तविकता के एतिबार से सारे धर्म “इस्लाम” ही थे। ऐसी स्थिति में उसे इस बात से इनकार न करना चाहिए कि जिस नबी और जिस धर्म की भी पैरवी कर ली जाए वह खुदा ही की बन्दगी होगी और इसलिए आखिरत की नजात के लिए भी काफ़ी होगी। यह अनिवार्य न होगा कि प्रत्येक व्यक्ति कुरआन और इस्लाम ही को अपनाए।

हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत (ईशदूतत्व) की विशिष्ट हैसियत

स्पष्ट है कि यह मसला वास्तव में रिसालत के बुनियादी मसले का एक पहलू या हिस्सा है। इसलिए इस्लाम इस दृष्टिकोण के बारे में अपने बारे में जो निर्णय देगा वह निश्चित रूप से हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की हैसियत पर ही आधारित होगा। अगर उसके निकट इस रिसालत की हैसियत भी ठीक-ठीक वही है, जो पिछली रिसालतों की रही है तो ‘सर्व धर्म समभाव’ के इस दृष्टिकोण के बारे में उसका निर्णय सहमतिपूर्ण होगा। यदि बात इस प्रकार नहीं है तो यह निर्णय भी कुछ दूसरा ही होगा। इसलिए हमें सबसे पहले यह खोज करनी चाहिए कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की हैसियत उसकी निगाह में क्या है? वही है जो दूसरी रिसालतों की थी, या कुछ और है? कुरआन और हदीस के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वस्तुतः सत्य पहला नहीं, वरन् दूसरा ही है; क्योंकि हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत दूसरी रिसालतों की तुलना में कई विशिष्ट श्रेष्ठताओं की स्वामिनी है।

(१) पहली विशिष्टता तो यह है कि आप (सल्ल.) की नुबूत विश्वव्यापी है। आप (सल्ल.) ज़मीन के किसी खास क्षेत्र या किसी एक क्रौम के लिए नबी बनाकर नहीं भेजे गए हैं, बल्कि समस्त जगत् के लिए और सारे इनसानों के लिए भेजे गए हैं, जिस मालिक ने अपने दूसरे तमाम रसूलों को भेजा था और जिसने आप (सल्ल.) को भी अपना रसूल बनाकर भेजा है, यह उसी की उद्घोषणा है कि –

“हमने तुम्हें (ऐ मुहम्मद) जो भेजा है तो सारे ही लोगों के लिए शुभ-सूचना सुनानेवाला और डरानेवाला बनाकर भेजा है। लेकिन बहुत से लोग नहीं जानते।” (कुरआन, ३४:२८)

“(ऐ नबी) कह दो कि लोगो! निस्सन्देह, मैं तुम सब लोगों की ओर (भेजा हुआ) अल्लाह का रसूल हूँ।” (कुरआन, ७:१५८)

और यह एक ऐसी बात है जो आप (सल्ल.) ही के लिए विशिष्ट है आप से पहले जो पैग़म्बर भी आए थे, उनमें किसी की हैसियत यह न थी। कोई भी पूरी दुनिया और सारे इनसानों के लिए नबी बनाकर नहीं भेजा गया था; बल्कि प्रत्येक का क्षेत्र सीमित था। वे किसी एक ही देश और एक ही क्रौम को अल्लाह का पैग़ाम पहुँचाने पर नियुक्त हुए थे और अगर कुछ नबियों के आह्वान की गतिविधियाँ कुछ आगे

बढ़ीं भी, तो अधिक से अधिक आस-पास के क्षेत्र तक ही सीमित रहीं, या मात्र आंशिक रूप में ही बढ़ीं। अन्यथा उनकी असल नियुक्ति केवल अपनी क्रौम ही के लिए हुई थी। आप (सल्ल.) ने स्पष्ट फ़रमाया है कि –

“मुझसे पहले का हर नबी विशेषकर अपनी ही क्रौम के पास नबी बनाकर भेजा जाता था। किन्तु मैं जगत् के समस्त लोगों के लिए नबी बनाकर भेजा गया हूँ।” (हदीस : मुस्लिम, भाग-१)

(२) दूसरी सर्वश्रेष्ठता यह है कि आप (सल्ल.) की नुबूत जिस प्रकार विश्वव्यापी है, उसी प्रकार सदैव के लिए भी है। आप (सल्ल.) के साथ वह्य और रिसालत का क्रम अपनी अंतिम सीमा को पहुँच गया। अब क्रियामत तक कोई नया रसूल नहीं आएगा। अल्लाह तआला का फ़रमान है:-

“बल्कि वे अल्लाह के रसूल और समस्त नबियों के ‘समापक’ हैं।”
(कुरआन, ३३:४०)

‘समापक’ शब्द के लिए अरबी में ‘खातिम’ शब्द प्रयुक्त ‘खातिम’ मुहर को कहते हैं। जब किसी लिफ़ाफ़े या दस्तावेज़ पर मुहर लगा दी जाती है, तो उसके बाद उसमें और कोई चीज़ नहीं डाली जा सकती; या किसी और बात की अभिवृद्धि नहीं की जा सकती। बल्कि इस प्रकार कहा जाए कि इस प्रकार की किसी बात की व्यावहारिक सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। इसलिए नबी (सल्ल.) को स्वयं अल्लाह तआला की ओर से सारे नबियों का “खातिम” (समापक) कहा जाना, इस वास्तविकता की अत्यन्त व्यापक शैली में उद्घोषणा है कि अब रिसालत का क्रम समाप्त किया जा चुका और यह अंतिम रसूल क्रियामत तक के लिए हमारा सन्देश लेकर भेज दिया गया है। इसके बाद कोई और नबी न आएगा। इस अल्लाह के फ़ैसले की खबर आप नबी (सल्ल.) ने अपने शब्दों में भी दी है। अनगिनत मौक़ों पर दी है और पूर्ण स्पष्ट शैली में दी है। उदाहरणतः

“..... मुझसे नुबूत की इमारत पूर्ण हो गई और मेरे द्वारा रसूलों का क्रम अपनी समाप्ति को पहुँचा।”
(हदीस : बुखारी, मुस्लिम, : मिश्कात के हवाले से तिरमिज़ी, खण्ड-२)

आप (सल्ल.) की तुलना में दूसरे पैग़म्बरों का जो हाल था, वह सभी को मालूम है। उनमें कोई ऐसा न था, जिसके बाद कोई और पैग़म्बर न आया हो। इसका मतलब यह है कि उनकी नुबूतें जिस प्रकार सीमित क्षेत्र के लिए थीं, उसी प्रकार सीमित काल के लिए भी थीं।

(३) हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की तीसरी विशिष्टता यह है कि आप जो धर्म और शरीअत लेकर आए हैं वह हर पहलू से पूर्ण है, जबकि पिछले तमाम धर्मों व शरीअतों में किसी को यह गौरव प्राप्त न था। निसन्देह प्रत्येक धर्म अल्लाह ही का नाज़िल किया हुआ होता था, लेकिन जब तक यह धर्म नहीं आया अल्लाह तआला की ओर से यह उद्घोषणा भी नहीं हुई कि –

“(लोगो!) आज मैंने तुम्हारे लिए तुम्हारे धर्म को पूर्ण कर दिया और तुम पर अपनी नेमत पूरी कर दी।” (कुरआन, ५:३०)

इस प्रकार यह सौभाग्य अल्लाह तआला ने सिर्फ़ इस्लाम के लिए विशिष्ट कर रखा था कि वह “पूर्ण धर्म” हो ‘इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे तमाम धर्मों को त्रुटिपूर्ण माना जाए और यह समझा जाए कि वे जिन लोगों के मार्गदर्शन व हिदायत के लिए आए थे, उनकी हिदायत व मार्गदर्शन की उनके अन्दर पूरी-पूरी सामग्री विद्यमान न थी। ऐसा समझना बिल्कुल अनर्थ होगा। क्योंकि वास्तव में मामला ऐसा बिल्कुल न था, बल्कि यह थी कि अल्लाह तआला की ओर से जो धर्म भी आया था वह उस क्रौम, उस काल और उस क्षेत्र के सुधार व मार्गदर्शन के लिए बिल्कुल पर्याप्त था, जिसके लिए उसे अवतरित करनेवाले ने अवतरित किया था, लेकिन चूँकि उनमें का हर धर्म केवल एक क्रौम के लिए था, समस्त इनसानों के लिए न था, सिर्फ़ एक सीमित क्षेत्र के लिए था, पूरी दुनिया के लिए न था, केवल एक विशेष काल और सीमित अवधि के लिए था, सदैव के लिए न था – इसलिए नैसर्गिक रूप से उनमें न विश्वव्यापी विषयों के बारे में हिदायतें होती थीं, न उसकी सभी शिक्षाओं का मिज़ाज सर्वदेशीय होता था और न वह दूर भविष्य तक के मसलों को सामने रखकर वार्ता करता था। यानी जिस प्रकार उसके सम्बोधन का क्षेत्र सीमित था, उसी प्रकार उसकी शिक्षाओं का संग्रह भी संक्षिप्त और सीमित था। लेकिन जब अल्लाह तआला की मशीयत और हिकमत का फ़ैसला यह हुआ कि जब ऐसा नबी भेजा जाए जो सभी के लिए हो और हमेशा के लिए हो, तो इस फ़ैसले की स्वाभाविक मांग यह हुई कि नबी पर अवतरित होनेवाले धर्म का स्वभाव व मिज़ाज भी अनिवार्य रूप से सार्वभौमिक हो, और उसकी शिक्षाएँ प्रत्येक काल, प्रत्येक देश और प्रत्येक मानवीय समस्याओं पर प्रभावी हों। कुरआन मजीद की उपरोक्त आयत इसी स्वाभाविक माँग की पूर्ति की उद्घोषणा कर रही है और कहती है कि अल्लाह तआला की जो हिदायत आदम (अलै.) के काल से अवतरित होनी शुरू हुई थी और जो समस्त मानवजाति के मानसिक और सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ व्याख्या और विस्तार का रंग अपनाती चली आ रही थी, वह आज हर पहलू से अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई।

(४) इस रिसालत की चौथी विशिष्टता यह है कि आप (सल्ल.) पर जो किताब अवतरित हुई है वह ज्यों कि त्यों सुरक्षित है और

क्रियामत तक सुरक्षित रहेगी। इसमें एक शब्द क्या, एक अक्षर की भी बढ़ोत्तरी व कमी नहीं हुई है और न हो सकेगी। अल्लाह तआला का यह वादा है कि –

“इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कुरआन हमने अवतरित किया है और यकीन हम स्वयं इसे सुरक्षित रखनेवाले हैं।”

(कुरआन, १५:९)

यह अल्लाह तआला का उद्घोषित वादा है और अल्लाह का वादा पूरा न हो इसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है। अतः इतिहास अनवरत गवाही देता चला आ रहा है कि कुरआन बराबर सुरक्षित चला आ रहा है। फिर कण्ठस्थ (हिफ़ज़) करने और पाठ (तिलावत) करने का असाधारण प्रचलन और पाबन्दी ही नहीं हस्तलेखन और प्रकाशन की सुविधाएँ भी कहती हैं कि अब भविष्य के अंतिम क्षणों तक बौद्धिक रूप से भी इस अल्लाह की किताब की सुरक्षा में दाग लगने का कोई अंदेशा या सम्भावना नहीं।

इसके अतिरिक्त कुरआन मजीद की भाषा भी एक जीवित भाषा है। करोड़ों आदमी उसे बोलते हैं और संसार के कोने-कोने में इसके जानने, समझने और पढ़नेवाले अनगिनत इनसान मौजूद हैं। इसकी तुलना में दूसरी कोई एक भी आसमानी किताब ऐसी नहीं जो ये विशेषताएँ रखती हो और जो ठीक-ठीक उन्हीं शब्दों व इबारत में मौजूद हो जिनमें कि वह अपने लानेवाले रसूल पर उतरी थी, जिसकी भाषा आज दुनिया की जीवित भाषा हो। प्रायः किताबों की दशा तो यह है कि अब उनका कोई एक हिस्सा भी मौजूद नहीं रह गया है और जो किताबें मौजूद रह भी गई हैं वे भी बहुत कुछ परिवर्तित स्थिति में हैं। कुछ बातें उनमें बढ़ा दी गई हैं, कुछ घटा दी गई हैं। अति प्राचीन युगों की और ऐतिहासिक काल से पूर्व की तो बात ही छोड़िए; जो किताबें ऐतिहासिक काल की हैं उनका हाल कुरआन यह बताता है कि वे अपनी असल शकल में सुरक्षित नहीं रह गई हैं। उनके अनुयायियों ने उनकी इबारतों को बदल कर रख दिया है और जो हिदायतें उन्हें दी गई थीं उनका बड़ा हिस्सा वह भुला बैठे हैं:-

“वे उसके वाक्यों को उनके वास्तविक सन्दर्भ व विषयवस्तु से हटा देते हैं और जिस चीज़ से उनको याददिहानी की गई थी

उसका एक भाग वे भुला बैठे हैं।”

(कुरआन, ५: ३)

विशिष्ट हैसियत, की अनिवार्य अपेक्षाएँ:- दूसरी रिसालतों की तुलना में हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की इस विशिष्ट स्थिति को निगाह में रखिए और फिर इस बात पर गौर कीजिए कि इस हैसियत की अनिवार्य अपेक्षाएँ क्या हो सकती हैं? क्या यह कि इन विशिष्टताओं के बावजूद उस नुबूवत का भी मर्तबा व मक़ाम हर पहलू से ठीक रहेगा, जो दूसरी नुबूवतों का रहा है? और क्या खुदा के बन्दो पर इस्लाम का हक़ भी वैसा ही होगा जैसाकि दूसरे धर्मों का है? इस प्रश्न के उत्तर में बुद्धि व न्याय और कुरआन व हदीस, हर एक का निर्णय साफ़-साफ़ नकारात्मक है। उनके निकट तर्कशास्त्र की दृष्टि से उन हक़ों की अपेक्षाएँ अनिवार्य रूप से बिलकुल दूसरी ही होती हैं और वे ये होंगी –

१. इस्लाम की पैरवी ज़रूरी है

हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की इस विशिष्ट हैसियत की पहली स्वाभाविक और अपरिहार्य अपेक्षा तो यह है कि अब अल्लाह तआला के निकट प्रिय और स्वीकृत धर्म केवल इस्लाम है। अनिवार्य है कि इस पर ईमान लाया जाए और प्रत्येक जाति, प्रत्येक देश, प्रत्येक काल का मानव उसी की पैरवी करे। क्योंकि जब यह धर्म समस्त विश्व का धर्म और उसका लानेवाला पैग़म्बर समस्त मानव जाति का पैग़म्बर है तो अब किस धर्म और किसी पैग़म्बर का अनुकरण-काल शेष नहीं रह सकता। रसूल तो आता ही इसलिए है कि जिन लोगों की ओर वह भेजा गया हो वह उसे अल्लाह का रसूल स्वीकार करें और उसकी बिना किसी शर्त पैरवी करें। अल्लाह तआला का साफ़-साफ़ कहना है कि हमने जो रसूल भेजा उसे इसी लिए भेजा कि अल्लाह की आज्ञा के मुताबिक़ उसकी पैरवी की जाए। कुरआन में हैं

“हमने जो रसूल भी भेजा, इसलिए भेजा कि अल्लाह की अनुमति से उसकी आज्ञा का पालन किया जाए।”

(कुरआन, ४:६४)

दूसरी स्थिति में पैग़म्बरे इस्लाम (सल्ल.) के विषय में यह सच्चा फ़रमान निरर्थक शब्द बनकर रह जाएगा अतः कोई कारण नहीं कि यहाँ भी उस सैद्धांतिक कथन का उसी प्रकार चरितार्थ न हो जिस प्रकार कि दूसरे तमाम नबी (अल्लै.) के बारे में होता आया है। इसलिए आप (सल्ल.) का समस्त मानवों की ओर भेजा जाना और फिर अंतिम रसूल होना इस बात की स्पष्ट अपेक्षा है कि हर इनसान और हर काल का इनसान आप (सल्ल.) पर ईमान लाए और आप (सल्ल.) के लिए हुए दीन (धर्म) की पैरवी करे। यदि कोई व्यक्ति आप (सल्ल.) की नुबूवत को नहीं मानता और आप (सल्ल.) के लिए हुए धर्म को अंगीकार नहीं करता, तो यह आप (सल्ल.) के नहीं, बल्कि उस समस्त जगत्-शासक के विरुद्ध बगावत है, जिसने आप (सल्ल.) को पूरी दुनिया का हादी (मार्गदर्शक) और अंतिम नबी बनाकर भेजा है।

इसके अलावा जब कुरआन करीम के अतिरिक्त अब दूसरी कोई एक किताब भी ऐसी नहीं रह गई है जो पूरी तरह सुरक्षित हो और जिसकी मूल भाषा दुनिया की मृतभाषाओं में शामिल हो चुकी हो, तो दूसरी किताबों और शरीअतों की ठीक-ठीक पैरवी मुमकिन भी कैसे हो सकती है ? ये परिस्थिति तो मानों कि स्वयं उन किताबों और शरीअतों का यह स्वीकार करलेनेवाला बयान है कि अब हमारा दौर खत्म हो चुका है, और हमें रद्द किया चुका है।

यह तो अनुमान और बुद्धि का फ़ैसला था। अब आइए कुरआन और इस्लाम का सैद्धान्तिक फ़ैसला सुनिए –

“कोई सन्देह नहीं कि अल्लाह के निकट (प्रिय) धर्म केवल इस्लाम है।” (कुरआन, ३:१९)

“और जो कोई इस्लाम के अतिरिक्त किसी और धर्म का याचक होगा, तो अल्लाह के यहाँ उसकी तरफ़ से यह धर्म हरगिज़ स्वीकार न किया जाएगा।” (कुरआन, ३:८५)

सैनिक अपनी वर्दी पहनकर और अपने हाथियार लेकर युद्ध-क्षेत्र की ओर जाता है, तो उसकी भावनाओं और उसके उद्देश्य को समझने के लिए शब्दों की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती, बल्कि उसका स्वरूप और वेशभूषा ही सब कुछ बता देती व समझा देती है। उसी प्रकार काबा की ओर जानेवाले की यह वेशभूषा स्वयं बोलती है कि वह अल्लाह ही के द्वार का भिखारी है और साथ ही उसकी प्रसन्नता के अतिरिक्त हर चीज से बेनियाज भी है, संसार का हर बन्धन वह काट चुका है। उसकी याद में डूबा हुआ और उसी के इशारों पर न्योछावर हो जाने के शौक में खोया हुआ है। वह अल्लाह का फ़कीर भी है और सिर पर कफ़न बाँधा हुआ सिपाही भी।

इन दोनों आयतों के शब्द सूर्य की तरह प्रकाशमान हैं और इनसे वस्तुस्थिति पूरी तरह बेनक्राब हो जाती है। पहली आयत का यह कहना कि— “अल्लाह क निकट धर्म केवल इस्लाम है।” बात को स्पष्ट कर देने के लिए बिलकुल पर्याप्त था, लेकिन दूसरी आयत ने तो यह कहकर इसे स्पष्टीकरण और व्याख्या की अंतिम श्रेणी तक पहुँचा दिया है कि अब अल्लाह के निकट कोई दूसरा धर्म अनुज्ञप्त और स्वीकार्य न होगा। और इस्लाम को छोड़कर किसी दूसरी शरीअत की पैरवी की गई तो खुदा की बन्दगी न मानी जाएगी।

यहाँ ऐसा गुमान करने की कोई गुंजाइश नहीं कि इन आयतों में “इस्लाम” से अभिप्रेत आम भाव का “इस्लाम” है, न कि विशिष्ट पारिभाषिक ‘इस्लाम’। इसलिए इससे अभिप्रेत प्रत्येक आसमानी धर्म की पैरवी होनी चाहिए। इस गुमान की यहाँ इसलिए कोई गुंजाइश नहीं है कि इन आयतों में इस्लाम का शब्द प्रयोग नहीं किया गया है। बल्कि “अलिफ़, लाम”^१ की अभिवृद्धि के साथ “अल-इस्लाम” का शब्द इस्तेमाल किया गया है। और जैसाकि अरबी भाषा के सिद्धांत की अपेक्षा है, कुरआन जब “अल्-इस्लाम” का शब्द बोलता है तो उस वक़्त उसके सामने इस्लाम का केवल शब्दकोशीय या सामान्य भाव नहीं होता, बल्कि विशेष पारिभाषित भाव ही हुआ करता है।

१. अरबी वर्णमाला के दो अक्षरों के नाम हैं।

अगर इस बात से सहमति न की जाए और अल् इस्लाम से अभिप्रेत आम भाव ही का इस्लाम समझा जाए तब भी हमारे इस दिए गए तर्क पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। सच्ची बात फिर भी वही रहेगी जो कही जा चुकी है; क्योंकि रिसालत के समापक अंतिम नबी (सल्ल.) के प्रादुर्भाव के बाद व्यावहारिक इस्लाम की आम स्थिति और अनिश्चित नहीं रह गई है कि जिस धर्म वशरीअत की भी पैरवी करली जाए, अल्लाह के निकट स्वीकृत ही ठहरेगी, बल्कि विशिष्ट और निश्चित हो चुकी है और वह यह कि आप (सल्ल.) पर ईमान लाया जाए और अनिवार्यतः आप (सल्ल.) की पैरवी की जाए। इसलिए कि कुरआन के अन्दर अल्लाह तआला विस्तार के साथ यह मुनादी का चुका है कि यह रिसालत सारी दुनिया के लिए है और हमेशा के लिए है। अब अगर कोई व्यक्ति इस रिसालत पर ईमान नहीं लाता, या आप (सल्ल.) को सच्चा रसूल स्वीकार करने के बावजूद आप (सल्ल.) ही की पैरवी का रास्ता नहीं अपनाता और किसी और पैगम्बर की पैरवी पर हठ किए जाता है, तो यह अल्लाह की मुकम्मल पैरवी नहीं, बल्कि अपने मन की पूर्ण पैरवी होगी। यह अल्लाह तआला की तो खुली हुई नाफ़रमानी ही ठहरेगी।

इस बात का प्रमाण कि इस्लाम की पैरवी ज़रूरी है, प्यारे रसूल (सल्ल.) की कार्यशैली में भी विद्यमान है। यह ऐसा प्रमाण है जिसके आगे पूर्ण समर्पित कर देने से केवल हठधर्मी और आत्मभक्ति ही रोक सकती है। यदि बात सही होती कि सारे धर्म सच्चे हैं और प्रत्येक रसूल की पैरवी समान रूप से हक़ पर है, तो तर्क शास्त्र की दृष्टि से इसकी खुली हुई अपेक्षा ये थी कि आप प्यारे रसूल (सल्ल.) यहूदियों और ईसाइयों को इस्लाम लाने का आह्वान न करते, क्योंकि वे स्वयं किताबवाले और शरीअतवाले थे और अगर करते भी तो कम से कम इस्लाम लाने की माँग पर हठ तो किसी तरह न करने। इसके विपरीत आप (सल्ल.) उनसे केवल यह कहते कि तौरात और इनजील की निष्ठापूर्ण पैरवी करो; मैं तुमसे केवल यही चाहता हूँ। अपनी नुबूत के स्वीकार करने और कुरआन की पैरवी की तुमसे कोई अनिवार्य माँग नहीं करता – किंतु सारी दुनिया जानती है कि ऐसा नहीं हुआ। आप (सल्ल.) ने उन्हें भी उसी प्रकार इस्लाम स्वीकार करने का आमन्त्रण दिया जिस प्रकार अरब के अनेकेश्वरवादियों दिया था और उनके लिए भी अपनी पैरवी को वैसा ही ज़रूरी ठहरा दिया जैसा कि उनके लिए था –

“ऐ लोगो ! जिनको किताब दी गई थी, ईमान लाओ उस किताब पर जिसे हमने (अब) उतारा है, जबकि यह उस किताब (की भविष्यवाणियों) के ठीक अनुकूल भी है, जो तुम्हारे पास है, इसके पूर्व कि हम चेहरों को बिगाड़ दें और उन्हें पीठों की ओर फेर दें या उन पर लानत कर दें।
(कुरआन, ४:४७)

न केवल यह कि आप (सल्ल.) ने उनको इस्लाम लाने का आह्वान किया, बल्कि उनमें से जिन्होंने इस्लाम स्वीकार नहीं किया, उन्हें स्पष्ट शब्दों में “कुफ़्र” अर्थात् इनकार करने का कुकर्म और “दोज़खी” अर्थात् नारकीय कहा गया। यहाँ तक कि कुछ स्थानों पर तो उनके इस्लाम के इनकार करने को मात्र कुफ़्र ही नहीं, बल्कि “बदतरीनकुफ़्र” अर्थात् ‘निकृष्टतम इनकार’ और उन्हें केवल काफ़िर ही नहीं बल्कि “पक्का काफ़िर” अर्थात् ‘घोर इनकारी’ कहा गया है –

“जो लोग अल्लाह के और उसके पैगम्बरों के साथ कुफ़्र करते हैं और चाहते हैं कि अल्लाह और उसके पैगम्बरों के बीच फ़र्क़ करें और इस तरह ‘कुफ़्र’ और ‘ईमान’ के बीच का मार्ग अपनाना चाहते हैं, वे पक्के काफ़िर हैं और ऐसे काफ़िरों के लिए हमने रुसवा कर देनेवाला अज़ाब तैयार कर रखा है।” (कुरआन, ४:१५०-१५१)

इस आयत में किताबवालों को उनकी जिस कार्य-शैली के आधार पर “अल् काफ़िरू-न हक्का” यानी पक्के काफ़िर हैं, कहा गया

है, वह केवल यह था कि वे जहाँ दूसरे नबियों को अल्लाह के रसूल मानते थे, हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) को मानने के लिए किसी प्रकार तैयार न होते थे। हालाँकि जिस प्रकार अल्लाह के रसूल वे महापुरुष थे उसी प्रकार आप (सल्ल.) भी थे। फिर उनका यहा व्यवहार व आचरण था, जिसको “ईमान और कुफ़्र के बीच का मार्ग निकालना” कहा गया है। और यह इसलिए कि दूसरे नबियों (अल्लै.) को मानकर अगर वे अल्लाह पर ईमान रखने का प्रदर्शन करते नज़र आ रहे थे, तो हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत का इनकार करके अल्लाह के आराध्य होने और संप्रभु होने को ठुकरा भी रहे थे। फिर यही आचरण था जिसको “अल्लाह का और उसके रसूलों का इनकार करना” भी कहा गया है। क्योंकि खुदा के किसी रसूल को मानना और किसी को न मानना वस्तुतः न खुदा को मानना है, न किसी रसूल को मानना है, बल्कि सिर्फ़ अपने मन की इच्छा को मानना है।

कुरआन मजीद ने एक और जगह किताबवालों के इस्लाम के इनकार करने का उल्लेख और फिर इस पर अपनी टिप्पणी इन शब्दों में की है—

“और जब उनसे कहा जाता है कि उस किताब पर ईमान लाओ, जिसे अल्लाह ने उतारा है, तो कहते हैं कि हम उस चीज़ पर ईमान रखते हैं, जो हम पर उतारी गई थी और इस प्रकार वे उसके अतिरिक्त और किसी अल्लाह की हिदायत को स्वीकार करने से इनकार कर जाते हैं।” (कुरआन, २:९१)

इस्लाम की दावत के जवाब में वे जो कुछ कहते थे और जिस शैली से कहते थे, उस पर गौर कीजिए, यह ठीक वही “दर्शन” था जो आज ‘सर्वधर्म समभाव’ के दृष्टिकोण की नींव है। अर्थात् यह कि जब हमारे पास भी खुदा ही का भेजा हुआ धर्म व जीवन पद्धति है तो क्या उस पर ईमान रखना और उसका पैरवी करना पर्याप्त नहीं है? अंततः उसके होते हुए किसी और चीज़ को अपनाना हमारे लिए ज़रूरी क्यों हो? वह अपनी जगह सत्य, यह अपनी जगह सत्य। लेकिन आप देखते हैं कि उनके इस “दर्शन” को अल्लाह तआला न केवल यह कि सही नहीं कहता, बल्कि उसे साफ़ तौर से “कुफ़्र का फ़लसफ़ा व दर्शन कहता है और उन्हें यह भी सत्य, वह भी सत्य” कहने के बावजूद असल सत्य का इनकारी (काफ़िर) कहता है।

मतलब यह कि कुरआने हकीम ने किताबवालों के इस्लाम के इनकार को भी ठीक वही हैसियत दी है जो मुश्रिकों (अनेकेश्वरवादियों) के इनकार को दी थी और कर्मफल भी दोनों के एक ही बताए हैं। उसने किताबवालों के लिए इस प्रकार की कोई गुंजाइश नहीं रखी थी कि वे इस्लाम के बजाए अपने ही धर्म पर कायम रह सकते हैं, खुदा उसे भी क़बूल कर लेगा।

फिर बात इतने ही पर ख़त्म नहीं हो जाती, बल्कि इससे भी आगे, कहीं आगे तक जाती है। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं—

“अगर मूसा (अल्लै.) जीवित होते तो उनके लिए भी इसके अतिरिक्त कोई उपाय न होता कि वे भी मेरी पैरवी करें।”

(हदीस : अहमद, बैहक्री मिशक़ात के हवाले से)

यह नबी (सल्ल.) का इरशाद इस प्रकरण को इस हद तक स्पष्ट कर देता है कि जिसके बाद और व्याख्या की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। अल्लाह के जिस नबी की हैसियत यह हो कि दूसरे पैग़म्बर (अल्लै.) अगर उस दौर में मौजूद होते तो वे भी उसी के उम्मत (अनुयायी) और पैरोकार बनते, उनकी लाई हुई शरीअतों की पैरवी की गुंजाइश स्वयं उनके अपने लिए भी शेष न रहती, उसकी पैरवी के उत्तरदायित्व और अनिवार्यता से भला कोई आम आदमी कैसे मुक्त रह सकता है? और उसके लिए हुए धर्म की मौजूदगी में कोई और धर्म किसी के लिए किस प्रकार पैरवी के क़ाबिल हो सकता है?

(२) इस्लाम की पैरवी नजात (मोक्ष) के लिए शर्त है

हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का रिसालत की विशिष्ट श्रेष्ठताओं की दूसरी अनिवार्य माँग यह है कि आख़िरत की नजात (मोक्ष) के लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस्लाम की पैरवी व अनुसरण ज़रूरी है। अब और कोई धर्म अल्लाह के निकट प्रिय और अनुसरण तथा स्थापित करने योग्य नहीं रह गया है, तो इसका अभिप्राय अनिवार्य रूप से यह होगा कि इस्लाम की पैरवी नजात के लिए शर्त है। स्पष्ट बात है कि अल्लाह तआला अपनी जिन शरीअतों को अब स्वयं अस्वीकार्य अर्थात् निरस्त ठहरा चुका है, उनकी पैरवी पर वह कोई प्रतिफल कैसे देगा। अतः यह फ़रमाने के साथ-साथ कि — “जो इस्लाम के अतिरिक्त कोई और धर्म तलब करेगा तो उसकी ओर से कुछ भी स्वीकार न किया जाएगा।” (कुरआन, ३:८५) अपने इस फ़ैसले का भी एलान कर चुका है कि — “और ऐसा व्यक्ति आख़िरत में पूरी तरह असफल रहेगा।” (कुरआन, ३:८५)

नबी (सल्ल.) अल्लाह के इस फ़ैसले की व्याख्या करते हुए फ़रमाते हैं—

“सौगंध उस सत्ता की, जिसके हाथ में मुहम्मद (सल्ल.) की जान है, इस उम्मत (अनुयायियों) में से जिस किसी भी व्यक्ति तक, उदारहरणतः किसी यहूदी या ईसाई तक, मेरी नुबूत का सन्देश पहुँचा और उसके उपरांत भी वह मेरे लिए हुए धर्म पर ईमान लाए बिना मर

गया तो वह दोज़खी होगा।”

(हदीस : मुस्लिम, भाग-१)

इस हदीस में यद्यपि नाम केवल यहूदियों और ईसाइयों के लिए गए हैं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये नाम केवल उदाहरण के तौर पर लिए गए हैं। अन्यथा इसमें जो बात कही गई है, वह अपनी जगह बिलकुल आम है और एक सार्विक सिद्धान्त और नियम की हैसियत रखती है। दुनिया का कोई गिरोह, कोई क्रौम और कोई समाज ऐसा नहीं है, जिस पर यह चारितार्थ न होती हो। यह कोई ऐसी बात नहीं जो खींचतान कर निकाली जा रही हो, बल्कि एक ऐसी वास्तविकता है, जो इस हदीस के शब्द – “अहदुम्मिन् हाज़िहिल् उम्मति” से निकलती है, क्योंकि “हाज़िहिल् उम्मति” (इस उम्मत) से अभिप्राय स्पष्टतः “उम्मते दावत” अर्थात् वह पूरा इनसानी गिरोह है, जिसकी ओर आप (सल्ल.) नबी बना कर भेजे गए हैं, और जो पूरी मानवजाति पर संकलित हैं। इसलिए यह हदीस इस सच्चाई पर कोई परदा नहीं रहने देती कि आप (सल्ल.) पर ईमान लाना हर उस व्यक्ति के लिए अनिवार्य और नजात के लिए शर्त है, जो आप (सल्ल.) के ज़माने में मौजूद था, या इसके बाद कभी पैदा हुआ। इस ख़ुदा के फ़ैसले के अधीन जिस प्रकार यहूदी और ईसाई आते हैं, उसी प्रकार दूसरी क्रौमों और मिल्लतों भी आती हैं, बल्कि एक हैसियत से तो दूसरी क्रौमों और समुदायों पर इसका चारितार्थ और अधिक तीव्रता और महत्ता के साथ होता है। दुनिया की समस्त जातियों और समुदायों में से केवल यहूदी और ईसाई ही दो ऐसे गिरोह हैं, जिनको कुरआन ने स्पष्ट और खुलेशब्दों में “अहले किताब” यानी “किताबवाले” कहा है, और उनका नाम लेकर किसी नबी का अनुयायी और किसी आसमानी शरीअत का धारक ठहराया है। यदि ऐसे समुदायों के लोगों के लिए भी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की पैरवी नजात के लिए शर्त है तो बुद्धि कहती है कि उन क्रौमों और गिरोहों के लिए इसका नजात की शर्त निजात होना और ज़्यादा ज़रूरी होगा, जिनको कुरआन ने “किताबवाले व शरीअतवाले” नहीं कहा है।

इस व्याख्या से अच्छी तरह स्पष्ट होता है कि जहाँ तक इस्लाम के अपने फ़ैसले का सम्बन्ध है, वह बिलकुल दो दूक अन्दाज़ में अपनी पैरवी को सारे इनसानों के लिए अनिवार्य और नजात की शर्त निश्चित कर देता है। इससे विमुक्त केवल वही व्यक्ति हो सकता है, जिसे उसका पैग़ाम पहुँचा ही न हो – जैसाकि “ला यस-म-उबियू” (अथातम जिसने सुना ही न हो) की कैद लगा कर आप (सल्ल.) ने स्पष्ट भी कर दिया है। क्योंकि इस परिस्थिति में वह वस्तुतः विवश होगा और जब तक कोई व्यक्ति यथार्थतः विवश हो और उसके पास सत्य-सन्देश पहुँचा ही न हो उस समय तक उस पर उसकी पैरवी व अनुकरण की ज़िम्मेदारी डालना और उसे इस सम्बन्ध में जवाबदेह ठहराना, यक्रीनन अन्याय की ही बात होगी, लेकिन जो लोग इस्लाम से सुपरिचित हो जाने के उपरांत भी उसे न मानें, उनका पकड़ा जाना किसी प्रकार अन्याय नहीं है। अन्याय अगर है तो यह कि उन्हें न पकड़ा जाए, क्योंकि उनका यह न मानना किसी छोटी बात और किसी साधारण सत्य का न मानना नहीं है, वरन् संसार की सबसे बड़ी बात और सबसे बड़े सत्य का न मानना है। यह वास्तव में अल्लाह तआला की यथार्थ संप्रभुता का ठुकराना है। इसलिए यह अत्यन्त निकृष्ट और मूर्खतापूर्ण चिंतनशैली होगी कि ऐसे लोगों के पकड़े जाने को न्याय और बुद्धि के विरुद्ध समझा जाए। दुनिया किसी ऐसे शासक की कल्पना तक नहीं कर सकती जिसने अपनी प्रजा को इस बात की खुली छुट्टी दे रखी हो कि वह उसके आदेशों के साथ अपनी मर्जी के अनुकूल व्यवहार करे। चाहे तो उसके वर्तमान गवर्नरों और प्रचलित व प्रभावी क़ानूनों को स्वीकार कर ले और चाहे तो न करे। और इनके बजाए उसके रिटायर्ड हो चुकनेवाले गवर्नरों और रद्द किए जा चुके क़ानूनों ही को मानती रहे। फिर क्या यह कोई बौद्धिक बात होगी कि ऐसी व्यर्थ धारणाओं को उस सम्राट से जोड़ने में कोई डर महसूस न किया जाए, जो समस्त बादशाहों का बादशाह और सम्पूर्ण विश्व का वास्तविक, शासक है? आखिर यह कैसे सम्भव है कि उसने अपने जिन पैग़म्बरों का दौर-ए-पैग़म्बरी (ईशदूतत्व-का) ख़त्म कर दिया और अपनी जिन शरीअतों को रद्द कर दिया है, पूर्वानुसार उनकी परवी पर हठ करनेवालों को वह अपना वफ़ादार और फ़रमाँबरदार बन्दा स्वीकार करता रहे? और अपने उस पैग़म्बर के आज्ञानुपालन और उस शरीअत की पैरवी से इनकार के उपरांत भी उन्हें बगावत की सज़ा न दे, जिसे वह इस काल के लिए अपना व्यापक और शाश्वत पैग़म्बर और अपनी विश्वव्यापी शरीअत ठहरा दिए जाने की उद्घोषणा कर चुका है। यह विचित्र “बन्दगी” और “फ़रमाँबरदारी” है कि अल्लाह तआला तो अपनी परस्तिश और इताअत और प्रसन्नता की चाह के लिए उदाहरणार्थ – “ज़ैद” को अपना मार्गदर्शक बनाने का हुक्म दे, मगर उसे जवाब दिया जाए कि नहीं, हम तो इस प्रयोजन के लिए हर हाल में “बकर” ही का दामन पकड़े रहेंगे! हाँ जिसे यह न पता हो कि इस समय के लिए अल्लाह तआला की ओर से अधिकार प्राप्त शासक और सच्चा मार्ग दर्शक कौन है, उसकी बात दूसरी है। मगर जिसे यह पता हो और जिसे यह बताया जा चुका हो, वह भी यदि ऐसी नीति अपनाता है, तो उसकी यह नीति किसी प्रकार सत्यानुकूल नहीं ठहराई जा सकती।

मुस्लिम समुदाय की ज़िम्मेदारियाँ

इस्लाम की विशिष्ट हैसियत की विशिष्ट अपेक्षा

इस्लाम के सामान्य और अनिवार्य परिचय की व्याख्या अब प्रकट रूप में बाह्यतः पूर्ण हो जाती है। किन्तु स्वयं इस परिचय ने एक ऐसी महत्वपूर्ण समस्या उत्पन्न कर दी है, जिसका स्पष्टीकरण ज़रूरी है और जिसका समाधान मालूम होना भी ज़रूरी है। यह समस्या इस्लाम की उस विशिष्ट और श्रेष्ठ हैसियत से सम्बन्ध रखती है जो उसे दूसरे समस्त धर्मों की तुलना में प्राप्त है। अर्थात् यह कि केवल वही हर हैसियत से पूर्ण धर्म है, समस्त इनसानों के लिए है, अंतिम धर्म है और मुक्ति तथा नजात के लिए ज़रूरी है कि इसी की पैरवी की जाए। बुद्धि कहती है कि इस्लाम को अगर यह विशिष्ट हैसियत प्राप्त है तो इस विशिष्ट हैसियत की एक विशिष्ट अनिवार्य माँग भी होगी और वह यह कि उसे संसार के कोने-कोने तक पहुँचना चाहिए और अनवरत रूप से पहुँचते रहना चाहिए। क्रौम-क्रौम के सामने उसका खुलासा व स्पष्टीकरण होना चाहिए और निरन्तर होता रहना चाहिए। जन-जन को इसका सन्देश दिया जाना चाहिए और लगातार दिया जाता रहना चाहिए। अन्यथा संसार उसे जान-पहचान न सकेगा और जब जान ही न सकेगा तो उस पर ईमान किस प्रकार ला सकेगा यद्यपि वह इस पर ईमान लाने का पात्र ठहराया गया है। और अगर ईमान नहीं लाता तो दुर्भाग्य का शिकार बनता है। यह तो कोई न्याय की बात न होगी कि अनगिनत लोगों के लिए उनके मालिक की भेजी हुई हिदायत एक रहस्य बनी रहे और उन्हें बेखबरी में पकड़ लिया जाए। इसलिए अगर सर्वसाधारण मानवता का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह इस्लाम ही की पैरवी करे, तो इस अनिवार्य कर्तव्य से पूर्व उसका यह हक है कि उसे इस दीन से सुपरिचित कराया जाए। यदि ऐसा नहीं होता तो यह स्वयं इस्लाम पर भी अत्याचार व जुल्म है। क्योंकि इस प्रकार वह बड़ी हद तक निष्प्रयोजन बनकर रह जाएगा और मानवता पर भी अत्याचार है, क्योंकि इस तरह वह इस नेमत से अनिवार्यतः वंचित रह जाएगी, जिस पर उसका प्रारब्ध निर्भर है। जब तक इस्लाम का लाने वाला रसूल दुनिया में मौजूद था, निःसन्देह उसने श्रेष्ठतम शैली से मानवता का यह 'हक' अदा किया लेकिन उसके चले जाने के बाद भी तो यह हक अपने अदा किए जाने की माँग कर रहा है और क्रियामत तक करता रहेगा। अब तो कोई नबी भी आनेवाला नहीं कि यह 'हक' उसकी प्रतिक्षा करे।

यदि इस्लाम की इस विशिष्ट हैसियत की इस अपरिहार्य माँग का किसी प्रकार इनकार नहीं किया जा सकता और यकीनन नहीं किया जा सकता तो ज़रूरी है कि वह पूरा हो। यद्यपि उसका पूरा होना अत्यन्त मुश्किल काम है। इसकी कोई प्रभावकारी और सुदृढ़ व्यावहारिक व्यवस्था निश्चित रूप से होनी चाहिए और इतना ही नहीं बल्कि इसका निर्धारण इस्लाम की अपनी ज़बान से होना चाहिए। क्योंकि जब वह अल्लाह का भेजा हुआ धर्म है और उसे वस्तुतः समस्त संसार के लिए और शाश्वत बनाकर भेजा गया है तो नैसर्गिक रूप से उसकी यह ज़िम्मेदारी भी ठहरती है कि वह लोगों तक अपने पहुँचने और पहुँचते रहने का कोई स्थाई और प्रभावकारी तथा कार्यकुशल व्यवस्था भी स्थापित करे और स्थापित रखे।

मुस्लिम समुदाय की खास ज़िम्मेदारी

मुस्लिम समुदाय की खास ज़िम्मेदारी क्या है? यह जानने के लिए जब हम कुरआन मजीद के पृष्ठों का अवलोकन करते हैं तो हमें ज्ञात हो जाता है कि उसने इस समस्या का हल पूरे आयोजन से कर रखा है और जितना महानतम यह सत्य प्रचार का कार्य था उसी महानतम ढंग से उसका प्रबन्ध भी किया है। इस समाधान और इस व्यवस्था के शब्द ये हैं –

“और इसी प्रकार हमने तुम (ईमानवालों) को सन्तुलित उत्तम समुदाय बनाया है, ताकि तुम दूसरे सभी लोगों के लिए (हमारे अवतरित किए हुए सत्य-धर्म के) साक्षी बनो और हमारा रसूल तुम्हारे लिए साक्षी बने।” (कुरआन, २:१४३)

अल्लाह तआला के इस फ़रमान से इस समाधान और इस व्यवस्था का व्यावहारिक रूप यह सामने आता है –

(१) इस्लाम को अल्लाह के बन्दों तक पहुँचाने का जो काम रसूल अपने जीवनकाल में करता रहा है, उसके दुनिया से रुख़सत हो जाने के बाद वह उसके अनुयायियों के ज़िम्मे हो गया है और अब ये लोग उस समय तक उस काम के ज़िम्मेदार रहेंगे, जब तक वे इस ज़मीन पर विद्यमान हैं।

(२) इस्लाम को दूसरों तक पहुँचाने का मतलब केवल आम ढंग की तब्लीग़ व सत्य का प्रसारण नहीं है, बल्कि ऐसी प्रचार-प्रसार है जिसे “साक्ष्य” (गवाही) कह सकें।

(३) इस्लाम की गवाही या सत्य के प्रचार का एक सुनिश्चित भाव है, जिसका निर्धारण अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का व्यवहार करता है। अर्थात् इस्लाम को लोगों तक पहुँचाने का काम मुसलमान अपने प्रयास भर ठीक उसी तरह करेंगे और बराबर करते रहेंगे, जिस तरह आप रसूल (सल्ल.) ने स्वयं उन तक (यानी सहाबा रज़ि. तक) उसके पहुँचाने का किया था।

ज्ञात हुआ कि पिछली उम्मतें अगर केवल एक ज़िम्मेदारी रखती रही हैं, और वह यह कि अपने 'दीन' (धर्म) की निष्ठापूर्ण पैरवी करती रहें, तो मुस्लिम समुदाय इस आम ज़िम्मेदारी के साथ-साथ विशिष्टता से एक ज़िम्मेदारी और भी रखता है। और वह यह कि बाहरी दुनिया के सामने वे इस्लाम की इस प्रकार गवाही देता रहे, जिस प्रकार की गवाही देने का हक़ है और जिसका व्यावहारिक आदर्श उसका रसूल (सल्ल.) उसके समक्ष रख गया है। वास्तव में इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति है ही यह कि नबी (सल्ल.) यद्यपि समस्त जगत् के लिए और क्रियामत (महाप्रलय) तक के लिए नबी थे, लेकिन इस विश्वव्यापी आह्वान के अनवरत जारी रहने की व्यावहारिक स्थिति अल्लाह तआला ने यह निश्चित की थी और स्वाभाविक रूप से यही सही भी थी और यही सम्भव भी थी कि आप (सल्ल.) अपना स्थानापन्न एक ऐसा गिरोह तैयार कर दें, जो अपने ईमान में इतना पक्का और अपने अमल में इतना उत्कृष्ट 'मुस्लिम' हो कि वह आप (सल्ल.) के बाद आप (सल्ल.) ही की तरह हक़ की ठीक-ठीक गवाही दे सके, और फिर यह गिरोह अपने बाद की नस्ल को इस काम के लिए तैयार करे, और यह क्रम अंतिम दिन तक यूँ ही चलता रहे। अतः हम देखते हैं कि जब अरबवाले फ़ौज दर फ़ौज इस्लाम में दाखिल होने लगे और आप (सल्ल.) के प्रशिक्षण प्राप्त सहाबा (रज़ि.) का पवित्र गिरोह अस्तित्व में आ गया, तो आप (सल्ल.) की अपनी असल ड्यूटी मानोकि पूरी हो गई। इसलिए आप (सल्ल.) को वापस बुला लिया गया।¹ इसके बाद दूसरे खुदा के बन्दों के सामने इस्लाम का प्रचार व गवाही का काम उस समय के मुस्लिम समुदाय (यानी सहाबा किराम रज़ि.) के द्वारा पूरा किया जाने लगा, जिसे आप (सल्ल.) – “तुम सारे मनुष्यों पर गवाह हो।” (कुरआन, २:१४३) – बना गए थे। इस प्रकार रस्तुस्थिति यह स्पष्ट होती है कि आप (सल्ल.) का प्रादुर्भाव तो अरबवालों की ओर सीधे हुआ था लेकिन शेष दुनिया की ओर इस “मुस्लिम समुदाय” के माध्यम से था, जिसे आप (सल्ल.) तैयार कर गए थे और जो पीढ़ी दर-पीढ़ी अस्तित्व में आती और तैयार होती रहेगी। इसलिए नबी (सल्ल.) के तशरीफ़ ले जाने के बाद अब क्रियामत तक यह काम इस समुदाय का है कि दुनिया के सामने हक़ की गवाही देती रहे और अपने बस भर उस तरह देती रहे जिस तरह देने का हक़ है। संक्षिप्त यह कि यह समुदाय अपने सामष्टिक अस्तित्व में अपने पैग़म्बर का स्थानापन्न है और अनुयायी होने की हैसियत से उसके जीवन का लक्ष्य ठीक वही है जो आप हज़रत (सल्ल.) के जीवन का था।

मुस्लिम समुदाय की यह ज़िम्मेदारी कोई मामूली ज़िम्मेदारी नहीं है, बल्कि बहुत बड़ी और पराकाष्ठा को प्राप्त विश्वव्यापी ज़िम्मेदारी है। अल्लाह तआला का यह फ़रमान कि – “हमने तुम्हें एक सन्तुलित उत्तम समुदाय बनाया है, ताकि तुम सारे मनुष्यों के लिए सत्य-धर्म के गवाह बनो।” इस समुदाय की हैसियत स्पष्ट रूप से यही निश्चित कर रहा है। इसकी और व्याख्या उसके इस फ़रमान से हो रही है –

“तुम एक उत्तम समुदाय हो जो समस्त मनुष्यों के लिए अस्तित्व में लाया गया है।” (कुरआन, ३:११०)

अल्लाह तआला के ये पवित्र शब्द साफ़-साफ़ बताते हैं कि यह समुदाय कुछ उसी प्रकार का एक समुदाय नहीं है, जिस प्रकार के समुदाय तथा उम्मतें अब तक अस्तित्व में आती रही हैं, बल्कि ऐसा समुदाय व उम्मत है जो शेष सारे इनासानों को हिदयत देने व पहुँचानेवाली और पूरी मानवता की निगहबान बनाई गई है। यही उसके अस्तित्व का प्रथम और अंतिम उद्देश्य है। किसी चीज़ की प्रतिष्ठा व मूल्य उसी समय तक शेष रहा करता है जब तक वह अपने अस्तित्व के उद्देश्य को पूरा करती रहती है। उस उद्देश्य से असंमद्ध हो जाने के बाद वह अपनी प्रतिष्ठा व मूल्य खो देती है। इसलिए मुस्लिम समुदाय की असल प्रतिष्ठा भी इसी “गवाही व साक्ष्य” पर निर्भर है। वह “सन्तुलित उत्तम समुदाय” और “श्रेष्ठतम समुदाय” वस्तुतः उसी समय तक है जब तक कि वह दुनिया के सामने सत्य का गवाह बनकर खड़ा रहता है, अन्यथा वह इन लक़बों व उपधियों की पात्रता से वंचित हो जाएगा। यहाँ तक कि वह अपने असल नाम “उम्मेते मुस्लिमा” (मुस्लिम समुदाय) – तक का पात्र न रह जाएगा। क्योंकि जैसाकि बताया जा चुका है कि इसका यह नाम कोई रस्मी क्रिस्म का नाम नहीं, बल्कि एक गुणवाचक नाम है और उसे विशिष्ट रूप से केवल इसलिए मिला है कि उसकी मुसलिमाना ज़िम्मेदारियाँ दूसरे समुदायों के मुक़ाबिले में दोहरी थीं। कुरआन की सूरा २२ (हज) के इन शब्दों पर गौर कीजिए –

“उसने तुम्हें चुना है और तुम्हारे लिए धर्म में कोई तंगी नहीं रखी है। अपने पूर्वज इब्राहीम के मार्ग की पैरवी करो। उसने पहले ही से तुम्हारा नाम 'मुस्लिम' रखा है और इसी विशिष्टता में रखा है, ताकि रसूल तुम्हारे लिए (सत्य-धर्म का) गवाह हो और तुम दूसरे समस्त मनुष्यों के लिए गवाह बनो।” (कुरआन, २२:७८)

इस आयत में मुस्लिम समुदाय की विशिष्ट हैसियत और उसकी विशिष्ट ज़िम्मेदारी दोनों चीज़ों को पूरी तरह उजागर कर दिया गया है। सबसे पहले इसके शब्द (मूल में) “इज्तबा कुम” को देखिए, “इज्तबा” के लगभग वही अर्थ हैं, जो शब्द “इस्तफ़ा” के हैं। यानी चीज़ों में से सबसे अच्छी चीज़ का चुना जाना। ये शब्द कुरआन मजीद में सामान्य रूप से नबियों के चुनाव के लिए प्रयुक्त हुआ है। एक ऐसा शब्द जो नुबूत के पद के लिए किए जानेवाले चुनाव का पर्याय हो, उसे अगर एक समुदाय के चुनाव के लिए भी प्रयुक्त किया गया है तो यह इस बात की ओर इशारा है कि उसकी हैसियत और प्रतिष्ठा पैग़म्बराना हैसियत और प्रतिष्ठा का प्रतिबिम्ब है। इसके बाद –

“हु-व-स म्माकुमुल् मुस्लिमी-न मिन् कब्ल” – (अर्थात् ‘पहले से उसी ने तुम्हारा नाम मुसलमान रखा।) के शब्दों की ओर आइए। ये शब्द बताते हैं कि विशेष रूप से इसी समुदाय को “मुस्लिम” नाम प्रदान किया गया है। यह आज नहीं, बहुत समय पहले उसका यह नाम रखा जा चुका था। यह इस समुदाय के एक सर्वश्रेष्ठ और असाधारण हैसियत का स्वामी समुदाय होने का दूसरा प्रमाण है। इसके अर्थ ये हैं कि जिस प्रकार नबियों के क्रम-समापक हजरत मुहम्मद (सल्ल.) के आने की शुभसूचना, आप (सल्ल.) के आने से सैकड़ों साल पहले ही दी जा चुकी थी और दुनिया इस शुभ-सूचना के साकार होने के लिए एक लम्बी आधि से आँखें लगाए प्रतीक्षा कर रही थी, कुछ वैसा ही मामला आप (सल्ल.) के अनुयायियों का था। अभी उसके अस्तित्व में आने में दिन-रात की हज़ारों गर्दियों शेष थीं। किन्तु उसके नाम का, उसके काम का और उसके गुणों की उद्घोषणा पहले ही से कर दी गई थी। कुछ ऐसा महसूस होता है कि यह उद्घोषणा मात्र एक उद्घोषणा न थी, बल्कि शुभ-सूचना की उद्घोषणा थी और यह शुभ-सूचना इस समुदाय के एक असाधारण समुदाय होने का प्रमाण थी, क्योंकि किसी व्यक्ति या गिरोह के अस्तित्व में आने की सूचना इतना पहले उसी समय दी जाती है, जब वह कोई विशेष महत्व रखता हो। अब तीसरी चीज़ “व-फ़ी हाज़ा” (अर्थात् “और इसी विशेषता में रखा है।”) के शब्दों को लीजिए। ये शब्द उस प्रयोजन और उस उद्देश्य के चेहरे से परदा हटाते हैं, जिसके लिए इस समुदाय को यह ऊँचा नाम और उच्च स्थान प्रदान हुआ था। ये बताते हैं कि इस समुदाय को यह नाम और यह स्थान प्रदान किया गया है, तो यँ ही नहीं प्रदान नहीं किया गया है, बल्कि उस “इज्तिबा” (अर्थात् चुनाव) के अधार पर प्रदान हुआ है, जिसका उल्लेख अभी हो चुका है। यह केवल इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह एक उच्चतम दर्जे का समुदाय है, बल्कि इस वास्तविकता का भी प्रदर्शन है कि इस समुदाय की पदानुकूल ज़िम्मेदारी बहुत बड़ी और अत्यधिक असाधारण है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस समुदाय को यह नाम केवल इसलिए प्रदान हुआ है कि उसे काम भी उसी नाम के वैभव और शान के अनुकूल करने थे। सबसे अन्त में – “लियकू-नर्-सू-लु शहीदन् अलै-कुम् व तकूनू शुह-दा-अ अ-ल-न्नासि – (अर्थात्, ताकि रसूल तुम्हारे लिए गवाह हो और तुम दूसरे समस्त लोगों के लिए गवाह बनो।) के शब्दों पर नज़र डालिए। ये शब्द इस प्रश्न का उत्तर हैं कि मुस्लिम समुदाय का “चुनाव” जिस काम के लिए हुआ है, निश्चित रूप में वह क्या है और उसे ठीक तौर पर किस शकल में अदा किया जाना चाहिए ?

मतलब यह कि इस आयत में जहाँ यह बताया गया है कि मुस्लिम समुदाय का नाम और स्थान क्या है, वहीं उस पर और सारी दुनिया पर वास्तविकता भी स्पष्ट कर दी गई है कि उसे इस नाम और मक़ाम के मिलने का कारण और आधार उसका वह काम है, जो उसके सुपुर्द किया गया है। अगर वह उस काम को पूरा करता है, तो निस्सन्देह “मुस्लिम समुदाय” (उम्मेते मुस्लिमा) है और अगर पूरा नहीं करता तो चाहे परिचय में उसका यही नाम चलता रहे, किन्तु वास्तव में उससे यह नाम छिन चुका होगा।

जब “सत्य-धर्म की गवाही” ही इस समुदाय के अस्तित्व का असल प्रयोजन व उद्देश्य है, जैसाकि ऊपर की वार्ता से पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है, तो इसका अर्थ यह, हुआ कि वह इसके सम्बन्ध में अल्लाह के समक्ष जवाबदेह भी होगा। अर्थात् अल्लाह तआला के सामने जहाँ एक-एक मुसलमान को अपनी व्यक्तिगत ज़िम्मेदारियों के बारे में जवाबदेही करनी होगी, वहीं पूरे समुदाय को भी एक समुदाय की हैसियत से सामूहिक जवाबदेही करनी पड़ेगी। यह जवाब देही कोई मामूली जवाबदेही न होगी, बल्कि कुछ उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार की अन्य नबियों (अलै.) की उनकी अपनी-अपनी पैग़म्बराना हैसियतों में, होगी क्योंकि वह (अर्थात् मुस्लिम समुदाय) यद्यपि पारिभाषिक रूप में पैग़म्बर नहीं, मगर पैग़म्बरी का अनिवार्य कर्तव्य (फ़रीज़ा) ज़रूर रखता है। क्रियामत के हिसाब-किताब के बारे में कुरआन कहता है—

“अतः हम अनिवार्य रूप से पूछगच्छ करेंगे, उन लोगों से जिनके पास पैग़म्बर भेजे गए थे और उन पैग़म्बरों से भी सवाल करेंगे।”

(कुरआन, ७:६)

इस आयत से ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार आम लोगों से उनके अपने अनिवार्य कर्तव्यों के बारे में पूछा जाएगा कि उन्होंने नबियों के दावत व आह्वान का क्या जवाब दिया था, उसी प्रकार स्वयं नबियों से भी पूछा जाएगा कि उन्होंने अल्लाह का सन्देश लोगों तक किस प्रकार पहुँचाया था और उसका उन्हें क्या उत्तर मिला था ? मुस्लिम समुदाय एक पैग़म्बर की ज़िम्मेदारियाँ रखता है, तो इस सैद्धांतिक उद्घोषणा की अपेक्षा है कि वह सवाल उससे भी हो जो पैग़म्बरों से होनेवाला है। उससे पूछा जाए कि हमारे बन्दों के सामने तूने हमारे दीन व धर्म की गवाही किस प्रकार दी थी और उन्होंने इसका क्या उत्तर दिया था ? विचार कीजिए, अगर अपने इस अनिवार्य कर्तव्य के पालन में मुस्लिम समुदाय ने कोताही की होगी तो कितनी सख्त होगी उसके लिए यह घड़ी ! और कितनी मुश्किल होगी यह जवाबदेही ! और अगर, खुदा न करे, खुदा न करे मामला इससे भी आगे का निकला और स्पष्ट यह हुआ कि न केवल इस गवाही का हक़ नहीं अदा किया गया, बल्कि उसे छिपाया भी गया, तो फिर यह जवाब देही केवल मुश्किल ही न रह जाएगी, बल्कि कुछ और बन जाएगी, क्योंकि यह एक

अत्यन्त खतरनाक अपराध है, और इसके बारे में अल्लाह तआला सचेत कर चुका है कि –

“उससे बड़ा ज़ालिम और कौन होगा, जिसने अल्लाह की किसी गवाही को, जो उसके पास थी, छिपाया हो।” (कुरआन, २:१४)

हक़ की गवाही क्या है ?

सत्य-धर्म की यह “गवाही” क्या चीज़ है ? उसका अभिप्राय और उसका व्यावहारिक रूप क्या है ? यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है, जो यहाँ पहुँचकर अनिवार्य रूप से उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात कर लेने के लिए, स्वयं इस्लाम को समझने की आवश्यकता है।

इस क्रम में सैद्धांतिक रूप में और संक्षिप्त में इतना तो ज्ञात हो चुका है कि जिस प्रकार “इस्लाम” और “सत्य-धर्म” एक सुनिश्चित चीज़ है। इसी प्रकार इस “सत्य-धर्म” की “गवाही” का भाव और उसका व्यावहारिक रूप भी निर्धारित ही है और यह निर्धारण अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का पवित्र आचरण व चरित्र करता है। किन्तु उचित न होगा कि इतनी संक्षिप्त बात को इतने महत्वपूर्ण मामले का पर्याप्त और निर्णायक उत्तर समझ लिया जाए। इसलिए आइए इस संक्षेप का विस्तार ज्ञात करें –

“गवाही” (शहादत) आम तौर से उस बात को कहते हैं कि आदमी किसी घटना या किस चीज़ के सम्बन्ध में जो कुछ यकीन के साथ जानता है, दूसरों को ठीक-ठीक बता दे। इसलिए “सत्य धर्म की गवाही” का शब्दकोशीय और आम भाव यह होगा कि लोगों के सामने इस्लाम को, जैसा कुछ वह है, पूरी तरह स्पष्ट कर दिया जाए। यह इसका कुरआनी पारिभाषिक भाव, तो यद्यपि यह भाव भी मौलिक रूप में यही है, किन्तु इसकी पूर्ण अवधारणा बड़ी व्यापकता और विभुता रखती है, जिसका स्पष्टीकरण नबी (सल्ल.) के पवित्र चरित्र व आचरण की रौशनी में यह है –

“सत्य की गवाही” के दो पक्ष हैं – एक कथनात्मक और दूसरा व्यावहारिक।

(१) कथनात्मक गवाही’ तो यह है कि इस्लाम की आधारभूत धारणाओं से लेकर उसके विस्तृत आदेशों तक को ग़ैर-मुस्लिमों के सामने अत्यन्त अनुकूल शब्दों और इबारतों में पेश किया जाए। यहाँ तक कि यह धर्म उनके लिए खुली किताब बन जाए और उनके लिए पंथ की ग़लती और इलाम की सच्चाई का अन्तर कर लेने में कोई बौद्धिक अवरोध शेष न रह जाए।

इस काम की सही तरीके से पूरा करने के लिए कुछ बातें अपरिहार्य हैं—

(१) पहली बात तो यह कि इस्लाम की आधारभूत धारणाओं (अक़ीदों) पर ज्ञान तथा बुद्धि पर आधारित ऐसी दलीलें और स्वाभाविक सूझबूझ के ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जाएँ जिनसे उनकी सच्चाई पूरी तरह खुल जाए। वैभवशाली कुरआन ने तौहीद, रिसालत और आख़िरत पर जिस बल व शक्ति के साथ और जिस व्यापकता और प्रभावपूर्ण शैली में तर्क प्रस्तुत किए हैं, उसका अनुकरण करना हर स्थिति में अनिवार्य है। इसी प्रकार जीवन के विविध क्षेत्रों में इस्लाम ने जो आदेश दिए हैं, उन्हें भी विस्तार से पेश किया जाए और सप्रमाण बताया जाए कि वह जीवन की समस्याओं को किस सुन्दरता और ख़ूबी के साथ हल कर देता है और उसकी पैरवी किस प्रकार सांसारिक जीवन की भी खुशहालियों की ज़मानतदार है।

(२) दूसरी बात यह कि ग़ैर-इस्लाम की गम्भीरतापूर्वक और सतर्क समीक्षा की जाए। इस समीक्षा के लिए ज़रूरी है कि पहले उन विचारों और दृष्टिकोणों की गहरी जानकारी हासिल कर ली जाए, जिन की ग़ैर-मुस्लिम दुनिया पैरवी कर रही है और जो इस समय के धर्मों, दर्शनों और व्यवस्थाओं की आधारशिलाएँ हैं। अच्छी तरह ज्ञात कर लिया जाए कि वे कौन से तथा कार्यत तर्क हैं जिन पर ये मत व दृष्टिकोण स्थित हैं। इसके बाद उन दृष्टिकोणों की पूरी शक्ति से काट की जाए और इस प्रकार की जाए कि उनका अबौद्धिक, अतर्किक और अस्वाभाविक होना बिलकुल खुल जाए। इसके-साथ उन दृष्टिकोणों के पैदा किए हुए उन व्यावहारिक परिणामों को भी उंगली रख-रखकर गिनाया जाए, जिन्हें किसी तरह भी मानवता के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। ग़ैर-इस्लाम की यह तार्किक काट इस्लाम की गवाही के मार्ग का एक अपरिहार्य चरण है। इसके बिना सही तरीके से अपना अनिवार्य कर्तव्य पूर्ण हो ही नहीं सकता। क्योंकि इस्लाम का आह्वान एक नए निर्माण की हैसियत रखता है। जब कोई नई इमारत बनानी हो तो अनिवार्य होता है कि पहले उसके लिए बुनियादें खोदी जाएँ। ज़मीन के ऊपर ही ऊपर से कोई इमारत नहीं उठा करती। अपेक्षित सीमा तक नींव ख़ुद जाने के बाद ही दीवारों की चुनाई शुरू की जाती है। इसी प्रकार जिन हृदयों और दिमागों में आप इस्लाम की जड़ें उतारनी चाहते हैं, पहले उनमें वह जगह पैदा की जाए, जहाँ ये जड़ें जाकर उतर सकें। स्पष्ट है कि यह जगह उसी समय बन सकेगी, जब उनके अन्दर से उन ग़लत विचारों और दृष्टिकोणों को खोद कर निकाल दिया जाए जो पहले से पीढ़ी-दर-पीढ़ी गहरे जमे चले आ रहे हैं। आप किसी बर्तन में कोई चीज़ उसी वक्रत तो रख सकते हैं, जब वह ख़ाली हो। उसी प्रकार किसी के दिल व दिमाग में इस्लाम भी उसी समय घर कर सकता है, जब वहाँ किसी और “धर्म” या किसी और “दृढ़संकल्प” ने क़ब्जा न कर रखा हो। कुरआन मजीद ने अपने आह्वान के सिलसिले में केवल इसी बात को पर्याप्त नहीं समझ

लिया था कि तौहीद, रिसालत और आखिरत पर दलीलें दे दे, बल्कि यह भी ज़रूरी समझा था शिर्क (अनेकेश्वरवाद), कुफ़्र (सत्य का इनकार) और इल्हाद (हक़ से फिर जाना) के दर्शनों और रिसालत तथा आखिरत के इनकार के दृष्टिकोणों का पूरे ज़ोर-शोर से रद्द कर दे। अतः सत्य से विमुख होने और इनकार की जो-जो शकलें थीं, उन्हें उसने एक-एक करके लिया। जिन-जिन राहों से ये धारणाएँ ज़हनों में प्रविष्ट थीं, उनमें से एक-एक को निगाह में रखा। उन दृष्टिकोणों के मध्य लोगों के पास जो कुछ भी दलीलें थीं, उन्हें एक-एक करके नोट किया, और फिर उन ग़लत विचारों व दृष्टिकोणों पर वार्ता की। उनकी निरर्थकता स्पष्ट की और उन्हें ध्वस्त कर दिया। तब जा कर अल्लाह के घर में रख दिए जानेवाले ३६० बुत सजदे में गिरे – “सही बात नासमझी की बात से अलग होकर स्पष्ट हो गई।”

(कुरआन, २:२५६)

(३) तीसरी बात यह कि इस्लाम को हक़ और ग़ैर-इस्लाम को झूठा साबित करने का यह काम मनमोहक और अत्यन्त आधुनिक ढंग का और उस भाषा में हो जिससे वक्त्र का इनसान परिचित है। बात समझ सकता है। उस ढंग का हो जो आज के ज़ेहनों को अपील कर सकता हो। उस तरीके का हो जिसे विज्ञान का यह दौर बहस व तर्क का तरीका स्वीकार करता हो, क्योंकि इस्लाम को सत्य और ग़ैर-इस्लाम को असत्य साबित करने की यह कोशिश मात्र एक व्यावहारिक शास्त्रार्थ के लिए न होगी, बल्कि सत्य-धर्म की व्याख्या और उसकी ओर आह्वान के लिए होगी। वह व्याख्या, व्याख्या नहीं होती, जिसके बाद भी सम्बोधित बात को न पा सके और वह आह्वान आह्वान नहीं कहा जा सकता जो अपने सन्देश को दिलों और दिमागों तक पहुँचा न दे। इसलिए ज़रूरी है कि अपनी बात कहते वक्त्र मुखातब का ज़ेहन् और उसकी सुर्य भी अनिवार्य रूप से सामने रहे और बहस व दलील पेश करने की शैली वह हो जिसे वह पसन्द करता व समझता हो। कुरआन मजीद ने अपनी दावत (आह्वान) पेश करने के लिए भाषा वर्णनशैली, तर्क शैली सबकुछ वही इख्तियार किया और पूरी पाबन्दी के साथ इख्तियार किया, जिससे अरबवाले परिचित थे। एक ओर तो उसने जो कुछ कहा “स्पष्ट अरबी भाषा “में कहा (कुरआन २६:११५)। सबसे अच्छी शैली में और समय की आदर्श और स्पष्ट भाषा में कहा। ताकि बात समझने में इबारत और वर्णनशैली की कोई अनुचित बात वस्तुतः अवरोधक न बन सके। अपने कलाम में आयतों के विभागों की, छोटे-छोटे वाक्यों की बिजली की कड़क जैसे सम्बोधन की पूरी-पूरी रियायत रखी। चूँकि अरब ऐसी चीज़ों के बड़े दीवाने थे, दूसरी ओर उसने दलील देने के लिए बैद्विक मान्यताओं, नैसर्गिक संकेतों और भौतिक व आन्तरिक अवलोकनों से काम लिया, क्योंकि यह तर्क देने की शैली स्वयं में लाभदायक तथा प्रभावशाली तो थी, ही इसके साथ-साथ अरबी ज़ेहन को उससे एक खास सम्बन्ध भी था।

अल्लाह तआला ने अपने नबी को सत्य की ओर आह्वान करने के बारे में हिदायत की थी कि – दुनिया को अपने पालनहार के मार्ग की ओर हिकमत (बड़ी सूझबूझ) और अच्छी नसीहत के द्वारा बुलाओ और आवश्यकता पड़ने पर सबसे उत्तम शैली में भाव-विवाद करो

–
“अपने पालनहार के मार्ग की ओर हिकमत और सदुपदेश के साथ बुलाओ और उनसे ऐसे ढंग से वाद-विवाद करो जो उत्तम हो।”

(कुरआन, १६:१२५)

ये तीनों बातें जो दावत व आह्वान के काम को ठीक-ठीक पूरा करने के लिए अपरिहार्य बताई गई हैं। वास्तव में इसी सैद्धांतिक कुरआनी हिदायत की टीका व व्याख्या थीं।

चौथी बात यह है कि इस प्रचार-प्रसार व आह्वान के पीछे कोई क्रौमी गर्व, किसी प्रकार का अभिमान, कोई अधार्मिक उत्प्रेरक – मतलब यह कि कोई भी मिथ्या भावना बिलकुल न काम कर रही हो; बल्कि ज़बान व क़लम से जो कुछ निकले निष्ठा और ईशपरायणता के साथ निकले, मात्र अपने कर्तव्य के एहसास और मानवजाति की मुहब्बत और खैरख्वाही के आधार पर निकले। इस दशा में निकले कि अल्लाह के बन्दों की गुमराहियों पर अंतःकरण से दिल कुढ़ रहा हो और उन्हें ऐसा महसूस हो रहा हो, या हो सकता हो कि यह इस्लाम की ओर बुलानेवाला हमसे कुछ ले नहीं रहा है बल्कि हमें कुछ दे रहा है और एक बड़ी नेमत दे रहा है। नबी (सल्ल.) के अन्दर लोगों के ईमान लाने के बारे में जो निष्ठापूर्ण तमन्ना और घुलादेनेवाली बेक्रारी थी, उसका उल्लेख अल्लाह तआला इनशब्दों में करता है—

“ऐ नबी! ऐसा मालूम होता है कि अगर ये लोग ईमान न लाए तो तुम उनके पीछे अपने आपको मारे ग़म के हलाक कर लोगे।”

(कुरआन, १८:६)

(२) “व्यावहारिक गवाही” यह है कि इस्लाम की जो तसवीर शब्दों में पेश की जाए, वह पेश करनेवाले की अपनी जिदगी में भी देखी जा सके। मुस्लिम समुदाय के लोग अपनी वैयक्तिक हैसियतों में और पूरा समुदाय अपनी समष्टि हैसियत में, सबके सब इस्लाम के

व्यावहारिक अनुभाव हों। उन्हें तौहीद (एकेश्वरवाद), आखिरत (परलोक) और रिसालत (ईशदूतत्व) आदि अक्रीदों पर गहर यक्रीन हो और यह यक्रीन उनकी एक-एक अदा से टपक रहा हो। उनके अख़लाक़ व आचरण वे हों जिनकी इस्लाम ने नसीहत की है। उनके मामले उन्हीं रेखा-चिहनों पर अंजाम पाएँ, जो कुरआन व हदीस ने खींच रखे हैं। उनका समाज, उनकी अर्थनीति और राजनीति, मतलब यह कि उनके जीवन की सारी व्यवस्था और उस व्यवस्था का एक-एक विभाग, उसी नक़शे के अनुकूल निर्मित हो, जो अल्लाह और रसूल ने बनाकर दे दिया है। ताकि दुनिया अपनी आँखों से भी देख ले कि इस्लाम किसे कहते हैं? वह किस प्रकार के लोग, किस प्रकार का समाज तथा किस प्रकार का राज्य अस्तित्व में लाता है?

“व्यावहारिक गवाही” का मर्तबा “मौखिक गवाही” से अग्रतम भी है और अत्यन्त महत्वपूर्ण भी। एक तो इसलिए कि जब तक कोई व्यक्ति या समुदाय स्वयं ही किसी धर्म की पैरवी न कर रहा हो, उसे किसी प्रकार शोभा नहीं देता कि वह दूसरों को उसकी पैरवी का आह्वान करे, न केवल यह कि इस निमंत्रण का देना उसे शोभा नहीं देता, बल्कि परिणाम की दृष्टि से भी यह एक ऐसी कोशिश होगी, जिसका शायद ही किसी पर कोई प्रभाव पड़ सके। दूसरे इसलिए कि लोगों की बहुत बड़ी बहुसंख्या शायद सौ में निन्यानवे से भी अधिक बड़ी बहुसंख्या वस्तुतः “व्यावहारिक तर्कों” की ही भाषा समझती है। बौद्धिक तर्कों तक उसकी पहुँच बहुत कम हो पाती है।

इस सिलसिले में नबी (सल्ल.) के शुभ-आचरण व व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या करना बिलकुल अनावश्यक होगा। सारा संसार जानता है कि आप (सल्ल.) ने जब लोगों को ईमान की दावत दी तो इस स्थिति में दी कि पहले स्वयं ईमान व यक्रीन का पैकर बन चुके थे और दूसरों को जब अल्लाह का कोई आदेश सुनाया तो इस प्रकार सुनाया कि सरे मुबारक उसके आगे पहले खुद झुक चुका होता था।

यह है इस्लाम की गवाही का पूरा भाव और आदर्श तरीका। मुस्लिम समुदाय की व्यावहारिक कोशिशें इस आदर्श के जिस सीमा तक निकट पहुँचेंगी उसी सीमा तक वे अपने कर्तव्य में सफल और अपने उद्देश्य में कामयाब साबित होंगे और जिस सीमा तक ये कोशिशें इस आदर्श से दूर होंगी उसी सीमा तक वे असफल व नाकाम रहेंगे।

रूकावटें और उनकी अपेक्षाएँ

यह दुनिया भलाई और बुराई, दोनों का निवासस्थल है। यहाँ भलाई की भी शक्तियाँ विद्यमान हैं और बुराई की भी, और दोनों को अपने-अपने तौर पर काम करना की पूरी स्वतन्त्रता मिली हुई है, जिसका परिणाम यह है कि ये दोनों आपस में टकराती रहती हैं और एक-दूसरे को परास्त करने के लिए बराबर ज़ोर लगाती रहती हैं। इसलिए यह एक स्वाभाविक-सी बात है कि इस्लाम का मार्ग भी रोका जाए, और न केवल यह कि उसके “गवाहों” की गवाही स्वीकार न की जाए, बल्कि सिरे से उस गवाही ही को सहन न किया जाए, जैसा कि प्रत्येक निमंत्रण व आह्वान का इतिहास बताता है और आए दिन का अवलोकन स्पष्ट करता है। इसलिए स्वाभाविक रूप से यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि इन रूकावटों के बारे में, जिनकी आशा पहले से है, “मुस्लिम समुदाय” का रवैया कैसा होना चाहिए? इस्लाम इस प्रश्न के जवाब में यह हिदायत देता है कि रूकावट चाहे कोई और कैसी ही हो, उसे दूर करने की भरपूर कोशिश की जाए, लगातार की जाए और अंतिम सीमा तक की जाए। इस कोशिश व प्रयास को शरीअत ने “जिहाज फ़ी सबीलिल्लाह” (अल्लाह के मार्ग में जिहाद) का नाम दिया है। “जिहाद” के शाब्दिक अर्थ ये हैं कि किसी काम के लिए अपनी समस्त कोशिशें लगा डाली जाएँ और उद्देश्य तक पहुँचने के लिए अपनी समस्त शक्ति निचोड़ डाली जाए। इसलिए “अल्लाह के मार्ग में जिहाद करने” का भाव यह है कि केवल अल्लाह की खुशी के लिए उसके धर्म की पैरवी और गवाही का हक़ अदा कर देने के लिए सही तौर पर वह सब कुछ कर डाला जाए, जो बस में हो।

ज़ाहिर बात है कि किसी उद्देश्य के लिए जो संघर्ष किया जाता है, उसका हालात से गहरा सम्बन्ध होता है। जैसे हालात होते हैं, उन्हीं की अनुकूलता से संघर्ष की शकलें भी अपनाई जाती हैं। यह अवसरवादिता नहीं है, बल्कि ठीक सिद्धांत प्रियता है क्योंकि कोई संघर्ष, मात्र संघर्ष के लिए नहीं होता, बल्कि किसी उद्देश्य के लिए होता है; और किसी उद्देश्य की यथार्थ सेवा उसी समय हो सकती है, जब उसके लिए संघर्ष का तरीका, वक्रत और स्थिति को सामने रखकर नियत किया गया हो, अन्यथा संघर्ष में तो सब कुछ लगा दिया जाएगा, किन्तु उसका हासिल शायद ही कुछ निकल सकेगा। फिर यह कोई बुद्धिमत्ता की बाद न होगी और जो बात बुद्धिमत्ता की नहीं होती वह सिद्धांत-प्रियता की भी नहीं हो सकती। इसलिए “जिहाद फ़ी सबीली लिल्लाह” की शकल कब क्या हो, इसका निश्चय हालात ही करते हैं। इस्लाम ने सैद्धान्तिक रूप से विभिन्न परिस्थितियों के लिए, उसकी जो विविध शकलें और प्रकार निश्चित कर दिए हैं, वे तीन हैं –

- (१) दाखिली जिहाद (आन्तरिक तथा गृहयुद्ध)
- (२) दावती और फ़िक्री जिहाद (वैचारिक और आह्वानात्मक युद्ध)
- (३) मुसल्लह जिहाद (सशस्त्र युद्ध)

(१) दाखिली जिहाद

‘दाखिली जिहाद’ का अर्थ यह है कि खुद इस्लामी समाज के अन्दर जो बुराइयाँ सिर उठाती नज़र आएँ, उनके विरुद्ध जंग की जाए और उन्हें कुचल कर रख दिया जाए। क्योंकि यह अन्दर की बुराइयाँ इस्लाम की गवाही के मार्ग में बड़ी खतरनाक, बल्कि सबसे खतरनाक रुकावट होती हैं। इस सम्बन्ध में नबी (सल्ल.) का फ़रमान सुनिए –

“मुझसे पहले अल्लाह तआला ने जिस नबी को भी पैदा किया था, उसको अपने अनुयायियों व समुदायों में से ऐसे निष्ठावान पैरवी करनेवाले और साथी ज़रूर मिले, जो उसके तरीक़े को दृढ़ता से अपनाए रहते, और उसकी हिदायतों व मार्गदर्शन का अनुसरण करते रहते। फिर उनके बाद उनकी जगह ऐसे उद्दण्ड और नाफ़रमान लोग आते जिनका हाल यह होता कि कहते वह जिस पर अमल न करते और वह जिसकी उन्हें हिदायत न होती। अतएव, जिसने उनके विरुद्ध अपने हाथ से जिहाद किया, वह मोमिन (सत्यनिष्ठ ईशपरायण) है, जिसने अपनी वाणी से जिहाद किया वह भी मोमिन है और जिसने अपने अंतःकरण से जिहाद किया, वह भी मोमिन है। इसके बाद राई बराबर भी ईमान का कोई दर्जा नहीं होता।”

(हदीस : मुस्लिम, भाग-१)

स्पष्ट है कि यह फ़रमान केवल एक ख़बर ही की हैसियत नहीं रखता, बल्कि एक हिदायत और आदेश की हैसियत रखता है। और उसका उद्देश्य वस्तुतः मुस्लिम समुदाय को यह बताना है कि भविष्य में भी ऐसी स्थितियाँ पेश आनेवाली हैं, और जब ये स्थितियाँ पेश आजाएँ तो इस हदीस से दोनों बातें स्पष्ट हो जाती हैं –

(१) एक तो, यह कि मुस्लिम समाज के अन्दर जो बुराई और गुमराही भी पैदा हो, उसे ख़त्म कर देने की कोशिश “जिहाद” है।

(२) दूसरी यह कि उस कोशिश या “जिहाद” की व्यावहारिक सूरतें विविध प्रकार की हो सकती हैं, जिनके ईमानी मर्तबे भी विविध प्रकार के होंगे।

(क) सबसे उत्तम बात तो यह है कि उस बुराई या गुमराही के विरुद्ध उचित शैली में शक्ति का प्रयोग किया जाए और अपने हाथों से पकड़ कर उसका गला घोट दिया जाए।

(ख) लेकिन अगर कोई वास्तव में ऐसी पोज़ीशन रखता ही न हो या उसके अन्दर इतना साहस न हो कि किसी अर्थ और किसी रूप में हाथ की शक्ति प्रयोग कर सके, तो फिर वाक्यशक्ति से काम ले। बुराई को स्पष्ट शब्दों में बुराई कहे, निन्दा करे, समझाए, परलोक व आखिरत याद दिलाए, अल्लाह तआला की नाराज़ी से डराए और जब इन बातों से काम न चले तो मौक़ा व स्थिति के मुताबिक़ डाँट-फटकार तंबीह भी करे।

(ग) और अगर इतना साहस भी न हो तो ऐसा तो ज़रूर करें कि उस बुराई के विरुद्ध उसका दिल बेचैनी से भर जाए। आंखों में वह कांटा बनकर चुभाती रहे। अभिलाषा करे कि यह बुराई शीघ्र अति शीघ्र मिट जाए। दुआ करे कि ‘ऐ खुदा! अपने इस गुनहगार बन्दे को शैतान के हमले से बचा ले। उसके अन्तःकरण को जीवित और जागृत कर दे, ताकि उस बुराई से उसे घृणा हो जाए और उस गन्दगी से वह अपने को पाक कर ले।’

मुस्लिम समाज व वातावरण को पाक व पवित्र करते रहने के ये तीन व्यावहारिक उपाय हैं और यही तीन उपाय सम्भावित भी हैं। इनमें का प्रत्येक उपाय “जिहाद” है। क्योंकि प्रत्येक उपाय सत्य के क़ायम रहने और दीन की गवाही पूरा करते रहने की किसी-न-किसी दरजे की कोशिश ही होती है। और हक़ के लिए कोशिश करते रहने ही का नाम आल्लाह की राह में जिहाद (जिहाद फ़ी सबी लिल्लाह) है।

बुराइयों को मिटाने की जिन कोशिशों को, इस हदीस में जिहाद कहा गया है, ठीक उन्हीं कोशिशों को कतिपय हदीसों में “ताईर मुन्कर” (अर्थात् बुराइयों को बदल देना) भी कहा गया है। उदाहरणार्थ –

“तुममें से जिस किसी को कोई बुराई नज़र आए तो चाहिए कि उसे अपने हाथ से बदल दे। अगर हाथ से ऐसा न कर सकता हो तो अपनी ज़बान (वाणी) से यह कर्त्तव्य पूरा करे और अगर इसकी भी शक्ति न रखता ही तो यह काम अपने दिल से करे और यह ईमान की सबसे निचली श्रेणी होगी।”

(हदीस : मुस्लिम)

फिर इन्हीं कोशिशों को “नही अनिल्मुनकर (अर्थात् बुराइयों से रोकना) भी कहा गया है। अदाहरणार्थ –

“भलाई की ओर प्रेरित करो और बुराई से रोको।”

(कुरआन, ३१:१७)

“नेकी की ओर एक-दूसरे को प्रेरित करो और बुराई से एक-दूसरे को रोको।”

(हदीस : अबूदाउद,

भाग-२)

इन उद्धरणों से ज्ञात हुआ कि मुस्लिम समाज के बुरे लोगों से “जिहाद” करना उनकी “बुराइयों को बदल डालना” और उन्हें “बुराइयों से रोकना” ये सब वास्तव में एक ही उद्देश्य के वर्णन करनेवाले भिन्न शब्द हैं और हम इनमें से जिस शब्द या परिभाषा को भी लें, उसके प्रयोजन व अर्थ में कोई अन्तर न होगा।

फिर एक बात इन हदीसों से यह भी मालूम हुई कि यह “जिहाद” इस्लाम के अनुयायियों का आम और व्यापक और शाश्वत कर्तव्य है। इस कर्तव्य से न तो लोग विमुक्त हैं न समुदाय और राज्य। बल्कि अपनी-अपनी शक्ति के मुताबिक इस सबसे बड़े उत्तरदायित्व में सभी सम्मिलित हैं। और अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता हो तो कुरआन मजीद के ये फ़रमान भी सुनिए। लोगों के सम्बन्ध में वह कहता है—

“मोमिन पुरुष और मोमिन स्त्रियाँ — एक-दूसरे के मित्र हैं। वे भलाई का आदेश देते और बुराई से रोकते हैं।” (कुरआन, ९:७१)

इस फ़रमान का स्पष्ट अर्थ यह है कि भलाई (मअरूफ़, का आदेश देना और बुराई (मुन्किर) से लोगों को दूर रखना मुसलमान की कभी न प्रथक होनेवाला गुण है, यह ईमान का स्वभाव है, यह इस्लाम की प्रकृति है। जहाँ मुसलमान होगा, यह काम भी वहाँ अवश्य किया जा रहा होगा और जो मुसलमान होगा वह यह काम अवश्य करेगा।

इस्लामी राज्य के सम्बन्ध से फ़रमान जारी होता है:-

“ये वे लोग हैं, जिन्हे अगर हम ज़मीन में संप्रभुता और सत्ता प्रदान कर दें, तो वे नमाज़ क़ायम करेंगे ज़कात देंगे, भलाई का हुक्म करेंगे और बुराई से रोकेंगे।” (कुरआन, २२:४१)

इससे ज्ञात हुआ कि मुसलमान जिस प्रकार अपनी सामान्य और वैयक्तिक हैसियत में बुराई को पनपते देखना सहन नहीं कर सकता, उसी प्रकार सत्ताधारी होकर भी वह ऐसा ही करे और बुराइयों को मिटाना उसकी सत्ता के आधारभूत उद्देश्यों और कर्तव्यों में सम्मिलित होगा।

२. दावती और फ़िक्री जिहाद

“दावती और फ़िक्री जिहाद” का अर्थ यह है कि ग़ैर मुस्लिम क्षेत्रों की ओर से इस्लाम के खिलाफ़ जिन शंकाओं को पेश किया जाए, जो एतिराज़ उठाए जाएँ, जो तर्क दिए जाएँ — उनका उचित जवाब दिया जाए और कोई सन्देह या एतिराज़ या तर्क ऐसा न रहने दिया जाए जो इस्लाम के चेहरे का बारीक-सा हिजाब (परदा) भी बना लिया जा सकता हो। मक्की दौर आदि से अंत तक इसी जिहाद का दौर था। जब अल्लाह तआला ने अपने नबी (सल्ल.) को आदेश दे रखा था कि —

“अतः तुम इन इस्लाम के इनकारियों की बात न मानो और कुरआन के द्वारा उनसे पूरा-पूरा जिहाद करते रहो।” (कुरआन, २५:५२)

“कुरआन के द्वारा जिहाद करने” का अर्थ यह है और यही हो सकता है कि इस्लाम के इनकारियों के समक्ष उन कुरआनी दलीलों को बराबर पेश करते रहो जो इस्लाम की सच्चाई को और उनके इनकार करने के कारणों को निरर्थक होने को खोल कर रख देती हैं और इस दलील पेश करने की शैली से उनकी संकल्पनाओं की कमज़ोरी बराबर स्पष्ट करते रहो, जो कुरआन ने तुम्हें सिखाया है। यह काम पूरी दृढ़ता के साथ करते रहो, यहाँ तक कि उनके पास अपने इनकार के पक्ष में कहने के लिए कोई किंचित् मात्र बुद्धिसंगत बात न रह जाए और हर ओर से घिर कर रह जाएँ।

नबी (सल्ल.) ने भी इस काम को “ज़बान का जिहाद” कहा है। आप (सल्ल.) फ़रमाते हैं —

“अनेकेश्वरवादियों से अपने धन, अपने प्राणों और अपनी ज़बानों के द्वारा जिहाद करो। (हदीस : अबू दाऊद,

भाग-१)

“दावती और फ़िक्री जिहाद” वास्तव में बुद्धि और तर्कों के कथियारों से लड़ने का नाम है। यह लड़ाई उस समय तक लड़ी जानी चाहिए जब तक कि इस्लाम के विरोध के समस्त वैचारिक और तार्किक गढ़ ध्वस्त न हो जाएँ; चाहे वे ब्रह्मज्ञान (इल्मीर्षीरश्न थळीवे) से सम्बन्ध रखते हों, चाहे प्राकृतिक ज्ञान से, सभ्यता व सांस्कृतिक मैदान के हों या आर्थिक व राजनीति के, विज्ञान से प्राप्त किए हुए हों या दर्शन से। कुरआन मजीद ने अरबों की एक-एक दलील और उनके उठाए हुए एक एक एतिराज़ की जिस प्रकार धज्जियाँ उड़ाई है, वह किसी परिचय का मुहताज नहीं। उसकी स्थिति जान लेने के लिए अल्लाह तआला के इस वादे के शब्दों को सुन लेना पर्याप्त होगा, जिसकी उसने इस सम्बन्ध में उद्घोषणा की थी —

“ऐ नबी (सल्ल.) ! ये लोग तुम्हारे समक्ष जो अनोखे से अनोखे एतिराज भी ले आएँगे, हम उसके उत्तर में तुम्हें ठीक बात और सर्वोत्तम ढंग से सुस्पष्ट कर देनेवाले तर्क बता दिया करेंगे।”

(कुरआन, २५:३३)

यह वैचारिक और तार्किक लड़ाई जिस ढंग से लड़ी जानी चाहिए, उसके लिए कुरआन हकीम ने यह सैद्धांतिक हिदायत दी है कि – “तर्क-वितर्क की वह शैली अपनाओ, जो सबसे उत्तम हो।” (१६:१२५) किसी शैली की अच्छाई और बुराई का फ़ैसला यह बात करती है कि जिस उद्देश्य के लिए उसे अपनाया गया है, सही तौर पर वह उसे किस सीमा तक प्राप्त हो सका है। इसलिए इस्लाम के लिए तर्क-वितर्क का सही और कुरआनी तरीका वही हो सकता है, जो मुखातिब को उसके निकट लाए। उसके दिमाग को उसकी सच्चाई का स्वीकार करनेवाला बनाए और उसके दिल के दरवाज़े उसके लिए खोल सके। यह ऐसा उसी समय हो सकता है, जबकि इस्लाम के पक्ष में बोले जानेवाले शब्द एक ओर तो बुद्धि को अपील करनेवाले हों, दूसरी ओर वे मुखातिब के ज़ेहन और उसकी सोच को सामने रखकर कहे गए हों, तीसरी ओर उनमें दिल की निष्ठा और शैली में दर्द भरा हो।

“इस वैचारिक और तार्किक लड़ाई” के अतिरिक्त “आह्वानात्मक और चिंतनात्मक जिहाद” का एक गौण (अप्रधान) पहलू भी है, जो यद्यपि है गौण, किन्तु व्यावहारिक रूप में उसका बड़ा महत्व है और उसके बिना यह “जिहाद” कभी सफल नहीं हो सकता। यह पहलू धैर्य और अविचलता का पहलू है। इस सच्चाई को कौन नहीं जानता कि इस्लाम के आह्वान की सज्जनता का जवाब सर्वसाधारण सज्जनता से नहीं मिला करता। जिस बातिल (झूठ) के ध्वजावाहकों के समक्ष आप ‘सत्य-धर्म’ (दीने हक़) को पेश करेंगे वे इतने विशाल-हृदय और इतने सत्यप्रिय बहुत कम निकलेंगे कि आपकी बातों को ठण्डे दिल से और गंभीरता के साथ सुन लें और फिर उन्हें मान लें या बात का जवाब बात से और तर्क का जवाब तर्क से देकर चुप हो जाएँ। इसके विपरीत प्रायः यही होगा कि इन पर एक कशमकश की कैफ़ियत तारी हो जाएगी और ग़लत प्रकार का पक्षपात उनके बौद्धिकसन्तुलन को अस्-व्यस्त करके रख देगा। जिसके फलस्वरूप वे गम्भीरतापूर्ण वार्ता और बौद्धिक तर्कों के प्रत्युत्तर में कटु वचन बोलने, दिल दुखाने व सताने और तकलीफ़ पहुँचाने तक – पर उतर आएँगे। सहाबा किराम (रज़ि.) से अधिक सहानुभूतिशील और हितचिंतन में डूबी हुई और मनमोहक व तर्कपूर्ण आह्वान की शैली और कौन अपना सकता है? मगर उन्हें भी न केवल यह कि इस परिस्थिति से दो-चार होना पड़ा बल्कि अउल्लेखनीय सीमा तक दो-चार होना पड़ा। इस क्रम में अल्लाह तआला ने उन्हें पहले ही से जिन शब्दों में ख़बरदार कर दिया था, उन्हें ज़रा ग़ौर से पढ़िए –

“..... और तुम्हें उन लोगों की ओर से भी, जिन्हें तुमसे पहले किताब दी गई थी और बहुदेववादियों की ओर से भी, बहुत-सी कष्टदायक बातें सुननी पड़ेंगी। यदि ऐसे समय तुमने धैर्य से काम लिया और संयम के आचरण पर जमे रहे, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बड़ी महानता की बात होगी।” (कुरआन, ३:१८६)

ज्ञात हुआ कि इस्लाम की इस “क्रौली शहादत” (मौखिक गवाही) का स्वयं में तकलीफ़ों की बदलियाँ बन जाना यक़ीनी है और यह बदलियाँ टूट-टूट कर बरसती हैं। ऐसा होकर रहता है कि ख़ैरख्वाही (हितचिंतन) का जवाब अज्ञानतापूर्ण पक्षपात से, मीठे बोल का जवाब गलियोंम से और दलीलें का जवाब पत्थरों से दिया जाए। माँग की जाए, बल्कि आदेश दिया जाए कि ज़बानें बन्द कर लो। लेकिन “हक़ की गवाही” की अपेक्षा यह है कि इन माँगों और हुक़मों को ठुकरा दिया जाए और सारी मुखालिफ़त के उपरांत भी अल्लाह के बन्दों को अल्लाह की बन्दगी की दावत (आह्वान) लगातार दी जाती रहे और किसी निन्दा के डर के बिना दी जाती रहे। हालात का दबाव चाहे कैसा ही सख्त हो किसी समझौते का विचार तक दिमाग़ में न लाया जाए नबी (सल्ल.) को यह हिदायत ऐसी ही स्थिति के लिए दी गई थी कि –

“जिस काम का तुम्हें आदेश दिया गया है, उसे स्पष्ट रूप से पूरा करो और अज्ञानियों की परवाह न करो।” (कुरआन, १५:९४)

वास्तविकता तो यह है कि दावती व सत्य की ओर आह्वान करने की गतिविधियों पर “जिहाद” का सही अर्थों में चरितार्थ होता ही उसी वक्रत है जब वे मुखालिफ़त (विरोध) के तूफ़ान में की जाएँ।

३. मुसल्लह जिहाद

“मुसल्लह जिहाद” का अर्थ यह है कि इस्लाम का मार्ग रोकनेवालों के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध किया जाए और उस समय तक किया जाए, जब तक कि वह उस मार्ग को खुला छोड़कर हट नहीं जाते। यह ‘जिहाद’ का अंतिम रूप है। इसका दूसरा और विशिष्ट नाम “क्रिताल” अर्थात् संग्राम है। व्यावहारिक रूप में यह जिहाद का सबसे मुशकिल और धैर्य-परीक्षक रूप है। लेकिन धर्म की रक्षा के लिए इसकी भी ज़रूरत आ पड़ा करती है। जैसाकि उसी वक्रत स्पष्ट कर दिया गया था, जिस वक्रत कि इस सशस्त्र जिहाद का सबसे पहले आदेश

दिया गया था –

“ईमानवालो ! तुम पर लड़ाई अनिवार्य कर दी गई है, यद्यपि वह तुमको नागवार महसूस हो रही है, लेकिन बहुत सम्भव है कि तुम एक चीज़ को नागवार महसूस करो और (वस्तुतः) वह तुम्हारे लिए बेहतर हो।” (कुरआन, २:२१६)

यह क़िताल और सशस्त्र जिहाद, इस्लाम और इस्लाम के अनुयायियों के पक्ष में ‘बेहतर’ और भलाई का साधन किस प्रकार है ? इसका स्पष्टीकरण इन दूसरी आयतों में मिलेगा, जिनमें क़िताल का उद्देश्य बताया गया है। उदाहरणतः

“और उनसे लड़ो, यहाँ तक कि ‘फ़ित्ना शेष न रह जाए और ‘दीन’ (धर्म) अल्लाह तआला के लिए हो जाए।” (कुरआन, २:१९३)

अल्लाह तआला के इन शब्दों से स्पष्ट और सुनिश्चित रूप में मालूम हो जाता है कि सत्य के दुश्मनों से लड़ने का आदेश एक बहुत बड़ी ज़रूरत के अधीन दिया गया है। वह ज़रूरत यह है कि अल्लाह का नाम लेने और उसके आदेशों के मुताबिक़ जीवन गुज़ारने का मार्ग साफ़ हो जाए और ‘फ़ित्ने’ की स्थिति ख़त्म हो जाए। ‘फ़ित्ना’ कुरआन का एक पारिभाषिक शब्द है और इसका भाव यह है कि लोगों को दीन (धर्म) की पैरवी का हक़ न दिया जाए और उन्हें अपने वास्तविक पूज्य-प्रभु की उपासना से ज़बरदस्ती रोक दिया जाए। स्पष्ट है कि यह एक ऐसा अत्याचार व जुल्म है, जिससे बड़ा और कोई जुल्म व अत्याचार नहीं हो सकता, यहाँ तक कि क़त्ल व ख़ून की चंगेज़ियत भी इसके मुक़ाबिले में तुच्छ होकर रह जाती है। क्योंकि अगर किसी की जान ले ली गई तो इसका पर्याय ज़्यादा से ज़्यादा यह है कि उसे दुनिया की चंद रोज़ा बहार से वंचित कर दिया गया, लेकिन अगर किसी से उसकी ‘ख़ुदापरस्ती’ (ईशपरायणता) ले ली गई और अपने पालनहार का उपासक (बन्दा) बनने से उसे बलात् रोक दिया गया तो इसका मतलब यह है कि उसका असल जीवन तबाह कर दिया गया और उसे आख़िरत (परलोक) की शाश्वत नेमतों से वंचित कर दिया गया। निस्सन्देह दोनों ही चीज़ें अप्रिय हैं। लेकिन जब इन दोनों अप्रिय चीज़ों में से एक को चुनना पड़ जाए तो एक मूर्ख़ व्यक्ति भी पहली के मुक़ाबिले में दूसरी का चुनाव नहीं करेगा। इसलिए कुरआन मज़ीद जब यह कहता है कि –

“फ़ित्ना क़त्ल से भी ज़्यादा बुरी चीज़ है।” (कुरआन, २:१९१)

तो एक ऐसी बात फ़रमाता है, जिसकी सच्चाई में दोराएँ नहीं हो सकती और यदि इस बात में दोराएँ नहीं हो सकती तो कोई कारण नहीं कि अपनी जानों की कुरबानियाँ देकर अगर सत्य के रास्ते की बलात् रुकावटें दूर कर दी जाएँ तो इसके उत्तम होने में दो राएँ हो सकें।

एक और आयत देखिए, जिसने सशस्त्र जिहाद की आवश्यकता पर नकारात्मक शैली में रौशनी डाली है –

“और अगर अल्लाह कुछ लोगों को कुछ लोगों के द्वारा दूर न किया करता तो ढहा दिए जाते उपासनागृह और गिरजे और कनीसे^१ और मसजिदें जिनमें अधिकता से अल्लाह का नाम लिया जाता है। और अल्लाह उन लोगों की ज़रूर सहायता करता है, जो उस (के दीन) की सहायता करते हैं।” (कुरआन, २२:४०)

इस आयत से और अधिक स्पष्ट हो गया कि अगर धर्म के लिए कभी तलवार न उठाई जाए और “फ़ित्ने” की जड़ न काट दी जाए तो ख़ुद धर्म की जड़ कट कर रहेगी फ़ित्ना पसन्द करनेवाले ख़ुदा का नाम लेना दूधर कर देंगे और ख़ुदा की परस्तिश के एक-एक निशान को मिटा कर दम लेंगे इस लिए धर्म की रक्षा और उसकी उन्नति के लिए सशस्त्र जिहाद भी एक अपरिहार्य आवश्यकता बन जाया करता है।

१. यहूदियों और ईसाइयों के उपासनाग्रह

सशस्त्र जिहाद के प्रकार

जहाँ तक उन अवरोधों का सम्बन्ध है जिन्हें दूर करने के लिए सशस्त्र जिहाद का आदेश दिया गया है स्पष्ट तथ्य यह है कि वे सभी एक ही प्रकार के नहीं हो सकते – इसलिए उनके विरुद्ध किये जानेवाले जिहाद के प्रकार भी हमेशा एक ही से नहीं हो सकते बल्कि उसमें भी अन्तर होगा। अवलोकन बताता है कि ये रुकावटें सैद्धांतिक रूप में दो प्रकार की होती हैं –

१. एक प्रकार की रुकावट तो वह होती है जो इस्लाम के माननेवालों के सम्बन्ध से पेश आती है – यानी यह की जो लोग मुसलमान हों उन्हें मुस्लिम होने के अपराध में सताया जाए और उनसे माँग की जाए कि इस्लाम धर्म को मानने से बाज़ आ जाएँ और इसके लिए उनके विरुद्ध शक्ति का भी प्रयोग किया जाए –

२. दूसरी रुकावट वह होती है जो ग़ैर-मुस्लिम हलक़ों से पेश आती है अर्थात् यह कि ग़ैर-मुस्लिमों के सामने इस्लाम को पेश ही न करने दिया जाए या उनके ऊपर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था नियुक्त रखी जाए जिसके होते हुए उन्हें इस्लाम को क़रीब से देखने और

समझने का अवसर ही न मिल सके—

और जब रुकावटें दो प्रकार की होती हैं तो उनकी अनुकूलता से जिहाद भी दो अलग-अलग प्रकार के होगा जो उनके हटाने के लिए किया जाना चाहिए।

जहाँ तक पहले प्रकार की रुकावट का सम्बन्ध है वह अत्यन्त कठोर और बहुत ज़्यादा नागवार ही नहीं बल्कि अत्यन्त आक्रामक भी होती है — उसके खिलाफ जो सामरिक क़दम उठाया जाएगा उसकी स्थिति स्पष्टतः बचाव की होगी इसी कारण इसे रक्षात्मक जिहाद कहना चाहिए। अल्लाह तआला ने मुसलमानों को सबसे पहले इस जिहाद का आदेश दिया था। क्योंकि वह रुकावट जिसको हटाने के लिए जिहाद किया जाता है व्यवहारतः पहले पेश आई थी जैसा कि स्वभावतः आमतौर से पहले पेश आया ही करती है। कुरआन में इस सम्बन्ध में आया है—

“उन लोगों को (मुक़ाबले की) अनुमति दे दी गई जिनसे जंग की जा रही है, क्योंकि उन पर अत्याचार किया गया है और निस्सन्देह अल्लाह उनकी सहायता करने की पूरी शक्ति रखता है, जिन्हें केवल यह कहने पर कि हमारा पालन हार अल्लाह है, उनके अपने घरों से अनाधिकार निकाल दिया गया है” (कुरआन, २२:४०)

यह आयत मदीना के आरम्भिककाल में अवतरित हुई थी। इसमें इस बात का स्पष्टीकरण विद्यमान है कि मुसलमानों को मक्का के उन लोगों के मुक़ाबले में जो मुसलमानों को सता रहे थे तलवारे उठाने की इजाज़त दी गई है। यह इजाज़त उनके उत्पीड़न और मज़लूमियत के कारण से दी गई है और इसलिए भी कि खुद उनपर हमला किया गया है। यही बात विभिन्न शैलियों में कही जाती रही जब तक कि कुरैश की यह आक्रामक कारी हैसियत बरकरार और जंग की यह हालत क़ायम रही। इसलिए उस वक़्त तक के समस्त मशरूफ़ जिहाद केवल रक्षात्मक प्रकार के थे।

(२) रही दूसरे प्रकार की रुकावट, तो उसके खिलाफ़ किए जानेवाले जिहाद से पहले स्वयं उसकी अपनी स्थिति को ज़रा विस्तार से समझ लेना चाहिए “इस्लाम” की हैसियत और “मुस्लिम समुदाय” के जीवन-कर्तव्य”, इन दोनों चीज़ों का वर्णन सविस्तार पिछले पृष्ठों में आ चुका है। ‘इस्लाम’ समस्त संसार के लिए आया है। वही हक़ और नज़ात (मुक्ति) के लिए शर्त है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह या तो बातिल (झूठ) है या अल्लाह के निकट अस्वीकार्य है। मुस्लिम उम्मत (समुदाय) इस बात की ज़िम्मेदार है कि इस्लाम की उस हैसियत की अपेक्षाओं को पूरा करे, उसे समस्त संसार में फैलाए। उसके सत्य होने की गवाही दे और हर सम्भव तरीक़े से इस बात की कोशिश करे कि खुदा के बन्दे वस्तुतः उसके बन्दे और आज्ञानुपालक बन जाएँ और उसके भेजे हुए उस सत्य-धर्म (दीने हक़) से दूर रहकर अपना इहलोक तबाह और अपना पारलौकिक जीवन बरबाद न करते रहें। इन दोनों बातों की यह खुली हुई अपेक्षा है कि इस्लाम के माननेवाले अपने दायरे में सिमटे न रहें, बल्कि आगे बढ़ें। अल्लाह के धर्म को लेकर संसार के गोशे-गोशे तक पहुँचें और अपने इस मार्ग में किसी को अवरोधक न बनने दें। जिन लोगों के सीने इस आह्वान के लिए न खुल सकें, उन्हें इस्लाम लाने के लिए विवश कभी न करें। क्योंकि इसका कोई लाभ ही नहीं। लेकिन उन्हें इस बात की इजाज़त भी न दें कि वे दूसरों के दिलों और दिमाग़ों पर पहरेदार बनकर बैठ जाएँ, या ऐसा वातावरण बनाए रखें, जो इस्लाम से लोगों को परिचित ही न होने दे। प्रत्येक दृष्टिवान् महसूस करेगा कि इस्लाम को ऐसा खुला हुआ महौल उस समय तक नहीं मिल सकता, जब तक कि ज़िन्दगी की सामाजिक व्यवस्था ‘असत्य’ के हाथों से निकलकर स्वयं उसके अपने हाथों में न आ जाए। क्योंकि मानव समाज पर जो व्यवस्था नियुक्त होती है, वह लोगों के ज़ेहनों को भी अपने दृष्टिकोणों की गिरफ़्त में लिए रहती है। या कम से कम यह कि अपनी पकड़ में लिए रहने की कोशिश करती रहती है तथा उनके लिए किसी दूसरी वैचारिक व व्यावहारिक व्यवस्था की ओर ध्यान देने का कोई अवसर शेष नहीं रहने देना चाहती है। इसलिए जब तक कोई ग़ैर-इस्लामी व्यवस्था किसी समाज पर छाई रहेगी, व्यावहारिक और भावनात्मक रूप में, इस्लाम के लिए आम ज़ेहनों के द्वार बन्द ही रहेंगे। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे इस्लाम के मार्ग में रुकावट व अवरोधक ही कहा जाएगा। कम से कम इस्लाम तो यही कहता और यही समझता है। जो व्यक्ति भी उसकी उपरोक्त हैसियत को सामने रख कर ग़ौर करेगा वह निश्चित रूप से यह स्वीकार करेगा कि निश्चय ही इस्लाम को अपनी हद तक ऐसा ही कहना और ऐसा ही समझना चाहिए। अब अगर हर ग़ैर-इस्लामी राजनीतिक व्यवस्था इस्लाम के मार्ग की रुकावट है तो उसकी स्वाभाविक अपेक्षा यह है कि इस्लाम संसार में कहीं भी किसी ग़ैर-इस्लामी राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावी व आच्छादित रहने का हक़दार स्वीकार न करे। उसकी आकांक्षा हो कि शासन सत्ता उसके हाथ में मुसलमानों के नहीं वरन् इस्लाम के हाथ में — रहे। जहाँ भी इस्लाम की शासन-सत्ता को स्वीकार करने से इनकार किया जाए, वहाँ उसे स्वीकार कराके रखा जाए। अतः कुरआन मजीद ने जहाँ एक मुद्दत तक स्वरक्षात्मक जिहाद की चेतावनी पर बस कर रखा था, वहाँ आगे चलकर अपना अंतिम लक्ष्य यह बताया —

“वही (अल्लाह) है जिसने अपने रसूल को हिदायत और सच्चा धर्म देकर भेजा है, ताकि उसे सारे धर्मों पर प्रभावी कर दे, चाहे

यह बात बहुदेववादियों को कितनी ही नागवार क्यों न हो।”

(कुरआन, ९:३३)

“सारे धर्मों पर प्रभावी” करने से अभिप्रेत सैद्धांतिक व वैचारिक वर्चस्व भी था, और राजनीतिक वर्चस्व भी। यही कारण था कि उसने इस उद्घोषणा के साथ ही साथ यह आदेश भी दिबा कि –

“तुम सब मिलकर बहुदेववादियों से लड़ो, जैसाकि वे सब मिलकर तुमसे लड़ते हैं।” (कुरआन, ९:३६)

और फिर यही वास्तविक रहस्य है जिसको देखते हुए नबी (सल्ल.) ने भी इस क़िताल और जिहाद को कभी न ख़त्म होनेवाली आवश्यकता और ज़िम्मेदारी बताते हुए अपने अनुयायियों को सचेत कर रखा है कि –

“जिहाद मेरे समय से लेकर उस समय तक जारी रहेगा, जब तक कि मेरे अनुयायियों का अंतिम व्यक्ति दज़्जाल से न लड़ ले। यह जिहाद न तो कभी किसी ज़ालिम शासक के जुल्म के कारण से साक्रित (त्यक्त) ठहराया जाएगा और न किसी न्यायशील शासक के न्याय के नतीजे में।” (हदीस : अबू दाउद, भाग-१)

नबी (सल्ल.) ने अपने अंतिम दौर में और खुलफ़ा-ए राशिदीन (सत्यपथगामी खलीफ़ाओं) ने अपने युगों में अरब से बाहर के शासकों को इस्लाम की ओर आह्वान किया और उनके इनकार पर जिस प्रकार शक्ति के द्वारा उन्हें इस्लामी सत्ता के अधीन किया, वह उसी फ़र्ज़ (अनिवार्य कर्तव्यों) के तहत और उसी उद्देश्य के लिए था।

चूँकि इस जिहाद की स्थिति स्वरक्षा की नहीं, बल्कि इज़्दाम (पहल) की है, इसलिए इसे ‘इज़्दामी जिहाद’ कहना चाहिए।

“इज़्दामी जिहाद” के सम्बन्ध में दो बातें ज़ेहन के अन्दर बिलकुल साफ़ रहनी चाहिए –

पहली बात यह कि इसका उद्देश्य यह क़तई नहीं है कि लोगों को इस्लाम लाने पर विवश किया जाए। क्योंकि इस्लाम का सम्बन्ध दिल से है और दिल बल प्रयोग व बलात् कोशिश से किसी चीज़ का माननेवाला व श्रद्धालु नहीं हुआ करता। इसलिए इस्लाम भी बलप्रयोग से पैदा नहीं किया जा सकता। कुरआन मजीद में यह बात बार-बार दुहराई गई है कि अगर अल्लाह तआला चाहता कि उसके बन्दों में कोई गुमराह और नाफ़रमान न रहे तो वे उन्हें पैदा ही मोमिन और मुस्लिम बनाकर करता या पैदा करने के बाद उन्हें खुद अपने नैसर्गिक आदेश से मुस्लिम बना देता। (कुरआन, १३:३१) यह काम नबी या उसकी उम्मत के लिए उठा न रखता कि वे उन्हें ज़बरदस्ती सच्च और नेक मुस्लिम बनाएँ। लेकिन इनसान जिस मक़सद के लिए पैदा किया गया है, उसकी दृष्टि के सामने यह ज़बरदस्ती का इस्लाम चूँकि किसी काम का न होता, न किसी प्रकार उचित ठहराया जाता, इसलिए उसने ऐसा नहीं किया। अतएव, उसका साफ़ एलान है कि – धर्म के विषय में मैंने इनसान को आज़ाद पैदा किया है, किसी बल से काम नहीं लिया है –

“धर्म के विषय में कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं।”

(कुरआन, २:२५६)

ऐसी स्थिति में वह इस बात को कैसे सही ठहरा सकता था कि इस्लाम के मामले में यद्यपि मैंने तो किसी ज़बरदस्ती से काम नहीं लिया है, मगर मेरे नबियों और मेरे मुस्लिम बन्दो को इसकी खुली छूट है! यह एलान तो साफ़ बताता है कि इस्लाम क़बूल कर लेने के लिए ज़बरदस्ती किसी हाल में नहीं की जा सकती। इस मामले में हर व्यक्ति को पूरी आज़ादी है, चाहे तो उसे स्वीकार करे, चाहे तो न करे।

दूसरी बात यह कि यह किसी एक जाति व क्रौम को आक्रा (स्वामी) और दूसरी क्रौमों को उसका गुलाम बनाने का अभियान हरगिज़ नहीं है। यानी जिस चीज़ को इस्तेमारियत या साम्राज्य कहा जाता है उससे उसका दूर का भी कोई रिश्ता नहीं। इसके विरुद्ध यह कुछ ऐसी आधारभूत सच्चाइयों का केवल राजनीतिक प्रभुता स्वीकार कराने का अभियान व आन्दोलन है जिनपर इस पूरे ब्रह्माण्ड की व्यवस्था निर्भर है और जिनके स्वीकार कर लेने पर इनसान की दुनिया और आखिरत दोनों की सफलता निर्भर है। फिर जो लोग दूसरों से इन आधारभूत सच्चाइयों की केवल राजनीतिक व अंशीय प्रभुता स्वीकार कराने उठे होते हैं, उनकी दशा यह होती है कि वे स्वयं उनकी पूर्ण प्रभुता स्वीकार किए होते हैं। सोचिए, जो गिरोह स्वयं सबसे बड़े आक्रा (स्वामी) सबसे पूर्ण दास की हैसियत रखता हो, वह किसी दूसरे को क्या और कैसे अपना दास व गुलाम बनाएगा? इसके अतिरिक्त दूसरों से उन आधारभूत सच्चाइयों की यह अंशीय प्रभुता भी वह अपने किसी लाभ के लिए नहीं, बल्कि स्वयं उन्हीं के लाभ के लिए स्वीकार कराते हैं। वे उनका कुछ लेते नहीं, अलबत्ता कुछ देने की कोशिश अवश्य करते हैं। क्योंकि इस तरह वे उन्हें उस सत्य को निकट से देखने का अवसर प्रदान करते हैं जिसमें उनकी दोनों जहान की खुशियाँ छिपी हुई हैं। उनके स्वाभिमान को यह राजनीतिक परा धीनता असहनीय हो सकती है, किन्तु यह स्वाभिमान एक ग़लत ढंग का स्वाभिमान होगा और स्वयं उनके हित के विरुद्ध होगा। इसलिए वह वस्तुतः कोई महत्व नहीं रखता।

सशस्त्र जिहाद की शर्तें

सशस्त्र जिहाद, चाहे वह आक्रामक हो, चाहे आत्मरक्षात्मक, हर स्थिति में नहीं किया जा सकता। यह केवल विशिष्ट स्थिति में ही किया जा सकता है। इसके लिए कुछ आवश्यक शर्तें हैं। जब तक ये शर्तें पूरी न हो रही हों, वह किसी प्रकार सही न होगा और न केवल यह कि ऐसे 'जिहाद' की कोई क्रम व क्रिमत न होगी, बल्कि वह सिरे से जिहाद ही न होगा और किसी शुभप्रतिफल व सवाब के बजाए अल्लाह की नाराज़ी का कारण बन जाएगा।

ये शर्तें निम्नानुसार हैं

(१) जिहाद करनेवाले मुसलमान स्वतन्त्र और स्वाधीन हों और उनकी अपनी एक नियमबद्ध सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो और एक खलीफ़ा या अमीर (ज़ीशीख़वशफ़ी) उनका पेशवा हो। बिना इस स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था के कोई सामरिक क्रम नहीं उठाया जा सकता। सामरिक पहल, चाहे वह रक्षात्मक प्रकार की ही क्यों न हो, एक स्वतन्त्र वातावरण में और एक स्वाधीन अमीर के नेतृत्व में ही कीया जा सकती है।^१ अतएव, मुसलमानों को मक्का की पराधीनतापूर्ण ज़िदगी में अपने प्रतिरक्षण के लिए भी हाथ उठाने की अनुमति नहीं दी गई। यद्यपि क़ुरैश के जुल्म अपनी चरम सीमा को पहुँचे हुए थे। यह अनुमति हिजरत के बाद और मदीने का स्वतन्त्र वातावरण उपलब्ध होने के बाद ही मिल सकी, जहाँ आप (सल्ल.) के नेतृत्व में वैधानिक रूप से इस्लामी स्टेट कायम हो सकी थी। यही हाल उन समस्त नबियों (अलै.) का रहा, जिनका आह्वान सशस्त्र जिहाद के चरण में प्रविष्ट कर चुका था।

जब तक यह शर्त पूरी नहीं हो जाती उस वक़्त तक धर्म के लिए पहुँचाई जानेवाली तकलीफ़ों का बर्दाश्त करना ही असल जिहाद है।

(२) विरोधी शक्तियों से लड़ने के लिए अपेक्षित शक्ति प्राप्त हो। क्योंकि शरीअत ने अपने आदेशों की पैरवी के सिलसिले में जगह-जगह यह उमूल बयान कर दिया है –

“किसी व्यक्ति पर उसकी सामर्थ्य के अनुरूप ही ज़िम्मेदारी डालटा है।” (कुरआनड, २:२८६)

इसी सिद्धांत के अनुसार उसने यह आदेश भी दिया है –

“अल्लाह का तक्रवा अपनाओ, जितना कि तुम्हारे बस में हो।”

(कुरआन, ६४:१६)

इसलिए जब तक दुश्मन से लड़ने के लिए अपेक्षित शक्ति मौजूद न हो, जिहाद करने का उत्तदायित्व भी मुसलमानों पर लागू होगा।

(३) यह जिहाद और क़िताल पूरी तरह “फ़ी सबीललिल्लाह” (अल्लाह के मार्ग में) हो। लड़नेवाले मुसलमान केवल धर्म के लिए और अल्लाह के कलिमे को बुलन्द करने के लिए रहे हों। बुराई और जुल्म व अत्याचार को मिटाना और भलाई और न्याय को समृद्धि प्रदान करना ही उनका उद्देश्य हो तथा यह सब कुछ भी केवल इसलिए हो कि उनका अल्लाह उनसे राज़ी हो जाए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उद्देश्य और उत्प्रेरक इस जंग के पीछे कार्यरत न हो। नबी (सल्ल.) से पूछा गया कि “एक व्यक्ति माले ग़नीमत के लिए लड़ता है, दूसरा शहरत (प्रसिद्धि) के लिए और तीसरा दिखावे के लिए लड़ता है, इनमें से किसकी लड़ाई अल्लाह के मार्ग में होती है?”

१. इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी देश के मुसलमान अगर स्वतंत्र और स्वाधीन न हों और उन पर जुल्म व अत्याचार किया जाता हो, तो वे उस जुल्म व अत्याचार का प्रतिरोध भी नहीं कर सकें। किसी ज़ालिम के जुल्म का मुकाबिला करना स्वयं में एक सवाब का काम है। यदि इस प्रतिरक्षणात्मक युद्ध में कोई मुसलमान मारा जाए तो वह भी अल्लाह के निकट शहीद का दर्जा पाएगा।

(अबू दाऊद)

मगर स्पष्ट है कि पारिभाषिक जिहाद व क़िताल की यहाँ चर्चा हो रही है वह और चीज़ है और अपनी जान व माल के बचाव के लिए ज़ालिमों और आक्रमण कारियों का सामना करना बिलकुल दूसरी चीज़ है।

आप (सल्ल.) ने फ़रमाया –

“जो व्यक्ति केवल अल्लाह का कालिमा बुलन्द करने के लिए लड़ता है, बस उसी का लड़ना अल्लाह के मार्ग में होता है।”

(हदीस : बुख़ारी, भाग-१)

एक और मौक़े पर किसी ने पूछा, “ऐ अल्लाह के रसूल (सल्ल.)। एक व्यक्ति है जो अल्लाह की राह में जिहाद करना चाहता है, लेकिन साथ ही दुनिया का कोई लाभ भी उसके सामने है, इस सम्बन्ध में आप (सल्ल.) क्या फ़रमाते हैं?”

आप (सल्ल.) ने फ़रमाया, “ला अज़-र-ल-हू” अर्थात् उसे कोई अज़्र व सवाब न मिलेगा।

पूछनेवाले ने तीन बार यही सवाल किया और आप (सल्ल.) ने तीनों बार यही जवाब दिया।

(हदीस :

अबूदाऊद, भाग-१)

इसी प्रकार आप (सल्ल.) ने यह भी फ़रमा दिया है कि –

“..... नहीं है हममें से वह जो किसी पक्षपात व भेदभाव के कारण लड़े, तथा नहीं है हममें से वह जो किसी पक्षपात

व भेदभाव के कारण जान दे।”

(हदीस : अबू दाऊद, भाग-२)

जिहाद की पहली दो शर्तों की जरूरत तो बिलकुल स्पष्ट है, लेकिन इस तीसरी शर्त की जरूरत को समझने के लिए थोड़ा-सा गौर करना पड़ेगा। इस्लाम ने लड़ाई का हुक्म बुराई और कितने (उपद्रव) को मिटाने और भलाई व खुदापरस्ती (ईशपरायणता) की स्थापना करने के लिए दिया है, जैसा कि ऊपर विस्तार से मालूम हो चुका है, तो क्या वे लोग जो स्वयं अपने अन्दर गलत भावनाएँ पाल रहे हों और उन्हीं भावनाओं के अधीन लड़ रहे हों, वे अपनी लड़ाई के नतीजे में नेकी और खुदा परस्ती को समृद्धि प्रदान कर सकेंगे? स्पष्ट है कि नहीं। ऐसे लोग तो जो कुछ करेंगे वह केवल यह होगा कि एक बुराई के स्थान पर दूसरी बुराई को लाकर स्थापित कर देंगे। और बात न केवल यह कि इस्लाम की कोई खिदमत नहीं, बल्कि उलटी उसकी शत्रुता है, क्योंकि ऐसे लोग बुराई का यह खेल इस्लाम के नाम पर खेलेंगे। जिसके परिणामस्वरूप अल्लाह के बन्दे इस्लाम से कुछ और दूर ही हो जाएँगे।

धर्म में जिहाद का महत्व

जिस जिहाद पर धर्म का अस्तित्व निर्भर हो और जो ईमान की स्वाभाविक माँग हो, धर्म में उसका स्थान कोई साधारण नहीं हो सकता। यही कारण है जो आप देखते हैं कि कुरआन मजीद जब कभी सच्चे ईमानवाले की आधारभूत विशेषताओं का उल्लेख करता है, तो उनमें जिहाद को अनिवार्य रूप से शामिल रखता है। उदाहरणार्थ :-

“और वे लोग जो ईमान लाए और जिन्होंने अल्लाह की राह में घरबार छोड़े और जिहाद किया, और वे लोग जिन्होंने उन्हें शरण दी और उनकी मदद की यही लोग सच्चे मोमिन हैं।” (कुरआन, ८:७४)

“ऐ ईमानवालो ! क्या मैं तुम्हें वह व्यापार बताऊँ, तो तुम्हें (आखिरत के) दर्दनाक अज़ाब से बचा ले ? (वह यह है कि) अल्लाह पर और उसके रसूल (सल्ल.) पर ईमान रखो और अपने मालों और अपनी जानों से खुदा की राह में जिहाद करो।” (कुरआन, ६१:१०-११)

मानो कि उसके निकट जिहाद के बिना दुनिया में “सच्चे दीन (धर्म) व ईमान” की आरै आखिरत में “दर्दनाक आज़ाब से निजात” की कोई कल्पना ही बाक़ी नहीं रह जाती।

इन आयतों में उल्लेख यद्यपि सशस्त्र जिहाद ही का है, मगर उनमें जिहाद का जो महत्व और गरिमा बयान हुई है वह उसी जिहाद के लिए विशिष्ट नहीं, बल्कि आम है और जिहाद की दूसरी किस्मों का भी मरतबा व मक़ाम ऐसा ही है मानो कि अपने अवसर पर जिहाद की हर शक़ल और हर प्रकार, स्वयं में ईमान की कसौटी है। आइए अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) की ज़बान से इस वस्तुस्थिति की पुष्टि और उसका स्पष्टीकरण सुनिए -

(१) दाखिली जिहाद:- सबसे पहले दाखिली (आंतरिक) जिहाद को लीजिए। ऊपर यह ज्ञात हो चुका है कि कुरआन मजीद ने इस जिहाद को ईमान और निक्फ़ा (कपटाचार) के बीच अन्तर करनेवाली रेखा बनाई है और हदीस में इसे ईमान का अनिवार्य लक्षण बताया गया है। अर्थात् अल्लाह और रसूल (सल्ल.) दोनों का फ़ैसला यह है कि जिस दिल में भलाई की ओर बुलाने और बुराई से रोकने का कोई जज़्बा नहीं होता, उसमें निफ़ाक़ (कपटता) की अँधियारी ही हो सकती है, ईमान का प्रकाश नहीं हो सकता। क्योंकि एक ईमान रखनेवाले के लिए — यदि वह वास्तव में ईमानवाला है — बुराइयों को बर्दाश्त करते रहना सम्भव ही नहीं है। किसी बुराई को देखकर अगर वह कुछ नहीं कर सकता यहाँ तक कि उसके खिलाफ़ उसकी ज़बान भी नहीं खुल पाती, तो कम-से-कम दिल में तो उसे अनिवार्यतः बुरा समझना ही चाहिए। यह ईमान का कम-से-कम और कमज़ोर-से-कमज़ोर दर्जा है। अगर कोई मुसलमान ऐसा दिल भी नहीं रखता तो अल्लाह और रसूल (सल्ल.) के निकट वह मुसलमान भी नहीं है।

ईमान से इस जिहाद का नैसर्गिक सम्बन्ध इतना गहरा है कि वह क्रौमों की मौत व ज़िन्दगी का फ़ैसला कर दिया करता है। ऐसी क्रौम का इस ज़मीन पर कोई मूल्य शेष नहीं रह जाता, जिसके अन्दर के भले लोग बस अपने ही भलेपन से सम्बन्ध रखते हों, और उनके चारों ओर बुराई की जो बाढ़ उमड़ती रहती है उसकी उन्हें कोई चिंता न रहती हो। जिस प्रकार जंगल की सूखी घास जला दी जाती है, उसी प्रकार ऐसी क्रौम भी तबाह करके रख दी जाती है। और जब यह तबाही आती है तो दुराचारियों और बुराई पर चुप रहनेवाले सत्कर्मियों, दोनों, सहित पूरी आबादी आज़ाब में मुब्तिला (ग्रस्त) कर दी जाती है। इस आम अज़ाब से अगर कुछ लोग बचते हैं तो केवल ऐसे लोग बचते हैं जो बुराई के इस तूफ़ान में भी अपने कर्तव्य (फ़र्ज़) को भूले न रहे हों और अपनी सामर्थ्य भर लोगों को बुराई से बाज़ रहने को सचेत करते रहे हों। क्रौमों का पिछला इतिहास वस्तुतः अल्लाह के इसी क़ानून के प्रभावी किए जाने का इतिहास है। कुरआन मजीद मुसलमानों को शिक्षा प्राप्त करने और स्वयं अपनी जगह उन्हें होशियार रहने की चेतावनी देते के उद्देश्य से उस इतिहास पर इस तरह टिप्पणी करता है -

“तो तुम से पहले की क्रौमों में ऐसे भलाई चाहनेवाले क्यों न हुए, जो लोगों को ज़मीन में बिगाड़ फैलाने से रोकते, उन थोड़े से

लोगों के अतिरिक्त जिन को उनके अन्दर से हमने अज़ाब से बचा लिया।”

(कुरआन, ११:११६)

नबी (सल्ल.) अज़ाब व नजात के इसी क़ानून से ख़बरदार करते हुए फ़रमाते हैं कि –

“क़सम है उस ज़ात की जिसके हाथों में मेरी जान है, तुम हर स्थिति में नेकी का हुक्म देते रहना और बुराई से रोकते रहना। अन्यथा निकट होगा कि अल्लाह तुम पर अपना अज़ाब भेज दे और फिर तुम उसे पुकारते रहो, लेकिन तुम्हारी एक न सुनी जाए।”

(हदीस : तिरमिज़ी, खण्ड-२)

ये और इसी प्रकार के दूसरे बहुत-से अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के फ़रमान अल्लाह के उस फ़रमान की व्याख्या हैं कि –

“उस फ़ितने से बचते रहो, जिसकी मार तुम में से केवल उन्हीं लोगों तक सीमित न रहेगी, जिन्होंने ‘ज़ुल्म’ की राह अपनाई होगी और जान रखो कि अल्लाह कठोर दण्ड देनेवाला है। (कुरआन, ८:२५)

बनी इसराईल की क्रौम अल्लाह तआला के अत्यन्त कठोर प्रकोप की चपेट में उसी समय आई थी जिस समय उसके अन्दर से इस “आंतरिक जिहाद” का एहसास लगभग ख़त्म हो चुका था। बुराइयों जंगल के पौधों की तरह आज़ादी के साथ पल-बढ़ रही थीं और उनको समाज से दूर करने का कोई उल्लेखनीय प्रयास शेष न रह गया था। ऐश्वर्यवान कुरआन का बयान है कि –

“बनी इसराईल में से जिन लोगों ने इनकार करनेवालों (विधर्मियों) का आचरण अपना रखा था उन पर दाऊद और ईसा इब्न मरियम की ज़बानों से लानत कर दी गई। ऐसा इसलिए हुआ कि वे (ख़ुदा के) नाफ़रमान हो गए थे और सीमोल्लंघन करते रहते थे। जो बुरा काम वे करते थे, उससे वे एक-दूसरे को रोकते न थे। निश्चय ही बहुत बुरा था यह आचरण, जो वे अपनाए हुए थे।” (कुरआन, ५: ७८-७९)

जिहाद का यह रूप “सत्य की गवाही” के लिए सकारात्मक पहलू से भी बहुत बड़ा महत्व रखता है, बल्कि एक दृष्टि से तो उसका महत्व सबसे अधिक है; क्योंकि दूसरे लोगों के सामने इस्लाम की गवाही देने के उद्देश्य में सफलता का अधिकतम दारोमदार इस बात पर है कि स्वयं उस गवाही के देनेवालों का समाज भी अपने कर्मों से उस गवाही में शरीक हो। अन्यथा, अगर एक ओर लोगों पर इस्लाम का ही सच्चा-धर्म होना साबित किया जा रहा हो और दूसरी ओर स्वयं इस्लाम के अनुयायी व्यावहारिक रूप से कुफ़्र (ग़ैर-इस्लाम) और फ़िस्क़ (अल्लाह के आदेशों को उल्लंघन) की नीति अपनाए हुए होने कच सबूत दे रहे हों, इस स्थिति में दुनिया उस “गवाही” का क्या असर लेगी? वह उसे सम्भवतः केवल मुस्लिम क्रौमियत के फ़ख़र करने की भावना और अपने को बड़ा समझने का एक प्रदर्शन ही समझेगी और ऐसा समझने पर बड़ी हद तक विवश भी होगी। इसलिए जब तक मुस्लिम समुदाय स्वयं अपने अन्दर की बुराइयों के ख़िलाफ़ खिंची हुई तलवार न बना हो, उस स्थिति में कभी नहीं हो सकता कि दूसरों के सामने इस्लाम के पैग़ाम और कुरआन का आमन्त्रण लेकर जाए। दावती और फ़िक्री जिहाद :- अब आह्वान और चिंतन संबंधी जिहाद के महत्व को लीजिए। अगर एक समुदाय की हैसियत से मुस्लिम समुदाय के उत्पन्न करने का मक़सद केवल इस्लाम की गवाही देना है – जैसाकि यह सर्वसत्य है – उसके लिए यह जिहाद अपनी अवश्यकता की दृष्टि से भी अपनी विस्तीर्णता की दृष्टि से भी स्पष्टतः असाधारण महत्व रखनेवाला अमल होगा। इसकी आवश्यकता तो बिलकुल स्पष्ट है। जब तक आप इस्लाम को दूसरों के सामने इस तरह रखें ही नहीं, जिस तरह उसे रखना चाहिए, उस वक़्त तक उसकी गवाही की जिम्मेदारी को अदा कर चुकने का कोई प्रश्न ही कहाँ पैदा हो सकेगा। इसलिए यह बात बिलकुल अपरिहार्य है कि लोगों के समक्ष उसकी ठीक-ठीक तर्जुमानी की जाए। स्पष्ट और मनमोहक शैली में की जाए, उसे जरूरी तर्कों से सुसज्जित करके प्रस्तुत किया जाए और सम्बोधक के मस्तिष्क की गांठें एक-एक करके खोल कर रख दी जाएँ। रही उसकी विस्तीर्णता की बात तो वह भी कुछ ढकी-छिपी नहीं है। “इस्लाम” अगर एक है, तो “ग़ैर-इस्लाम” एक से बहुत ज़्यादा है। इसलिए जहाँ तक इस्लाम के एक सादा से स्पष्टीकरण और रस्मी तब्लीग़ा का सम्बन्ध है, उसके लिए तो एक अभिभाषण भी पर्याप्त हो सकता है, किन्तु जिस चीज़ का नाम ‘इस्लाम की गवाही’ है वह इस सादा-से स्पष्टीकरण और रस्मी तब्लीग़ा से बिलकुल भिन्न वस्तु है। क्योंकि एक तो ‘मन की गवाही’ का भाव ही तथा कथित धर्म प्रचार से बहुत ऊँचा है, दूसरे “ग़ैर-इस्लाम” के जिन लोगों के सामने यह गवाही देनी है, वे एक ही विचार और एक ही मत को माननेवाले लोग नहीं हैं, बल्कि विविध दृष्टिकोणों, मतों, दृढ़ संकल्पों और धर्मों के माननेवाले हैं। और मुस्लिम समुदाय को इस्लाम की गवाही उन सब के सामने देनी है, अनुमान लगाइए कि इस युग में इस अनिवार्य कर्तव्य से विमुक्त होने के लिए कितने विस्तृत अभियानों पर लड़ना होगा? कैसे रंगारंग हथियारों का सामना करना होगा? कितने मुश्किल मोर्चों को जीतना होगा? फिर जहाँ तक जिहाद के तीसरे प्रकार का सम्बन्ध है वह तो विशिष्ट परिस्थितियों में और कई शार्तों के पूरा होने के बाद ही किया जा सकता है, जैसा कि अभी विस्तार से मालूम हो

चुका ! किन्तु इस “चिन्तन और आह्वान सम्बन्धी जिहाद” का मामला यह है कि इसके लिए समय और वातावरण का न कोई प्रतिबन्ध है न कोई शर्त बल्कि हर स्थिति में, हर वातावरण, हर ज़माने में और हर जगह अनिवार्य रूप से पूरी की जाने वाली ज़िम्मेदारी है और ज़िम्मेदारी भी ऐसी जिसका न कोई आदि है न कोई अन्त। जिसे कभी स्थगित किया ही नहीं जा सकता, जब तक सशस्त्र जिहाद के लिए अपेक्षित स्थितियाँ और शर्तें उपलब्ध न हो जाएँ। सत्य के लिए जिहाद करने की सारी निर्भरता इसी आह्वान सम्बन्धी जिहाद पर रहती है। चुनाँचे प्रायः नबियों का इतिहास बताता है कि उनकी नुबुवत का पूरा काल इसी जिहाद तक सीमित रहा और सशस्त्र जिहाद का वक़्त आया ही नहीं। वास्तविकता तो यह है कि मौलिक रूप से यह आह्वान और चिन्तन सम्बन्धी जिहाद ही बाहरी दुनिया से किया जानेवाला असल जिहाद है। जिहादा सशस्त्र तो एक मजबूरी का नतीजा है, क्योंकि धर्म की ओर आह्वान करने और हक़ की गवाही का उद्देश्य लोगों को ख़ुदा को पहचाननेवाला, उनके दिलों में ईमान पैदा करना होता है, ताकि दोनों जहान की सफलता प्राप्त करने के योग्य बन जाएँ और दिलों में ख़ुदा की पहचान और ईमान अच्छी बातों और उचित व बुद्धिदसंगत तर्कों ही से पैदा होता है, न कि तलवारों से ! तलवार तो केवल इसलिए उठाई जाती है कि उन “अच्छी बातों” और “बुद्धि संगत दलीलों” के पेश किये जाने के लिए मार्ग के अवरोधों को दूर कर दिया जाए।

यह आह्वान और चिन्तन सम्बन्धी जिहाद अल्लाह तआला की निगाहों में इतना उच्चतम स्थान रखता है कि वह उसे “अपनी मदद” का नाम देता है और इस जिहाद के करनेवालों को, जो वस्तुतः उसके गुलाम होते हैं, “अपना मददगार” कहता है –

“ऐ ईमान वालो ! अल्लाह के मददगार बनो, जैसाकि मरियम के बेटे ईसा ने हवारियों (साथियों) को सम्बोधित करके कहा था कि कौन हैं अल्लाह के रास्ते पर मेरे मददगार ? तो हवारियों ने जबाब दिया था कि हम हैं अल्लाह के मददगार।”

(कुरआन, ६१:१४)

सभी जानते हैं कि हज़रत ईसा (अलै.) का आह्वान उस काल में प्रविष्ट ही न हो सका था “जो सशस्त्र जिहाद” का काल होता है, और वह पूरी तरह चिन्तन और आह्वान सम्बन्धी जिहाद तक सीमित रहा था इसके बावजूद उनके हवारियों को “अल्लाह के मददगार” कहा गया। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि उन्हें यह असाधारण सौभाग्य व प्रतिष्ठा वाली उपाधि जिस आधार पर प्रदान की गई थी वह केवल यह था कि उन्होंने अल्लाह के दीन को लोगों तक पहुँचाने का हक़ अदा कर दिया था। इस जगह “हक़ अदा कर देने” के शब्दों को अच्छी तरह ज़हन में बिठा लीजिए। इनका उद्देश्य यह है कि अल्लाह के मददगार होने का सौभाग्य एक सच्चे मुसलमान को उसी वक़्त प्राप्त होता है जब वह उसके धर्म को दूसरों तक पहुँचाने में अपनी चिन्तन और कोशिश पूरी तरह लगा देता है, जब वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी पुकार बुलँद करता रहता है, जब ख़तरों के तूफ़ान में भी चुप नहीं रहता। यह केवल अनुमान की बात नहीं है, बल्कि कुरआन मजीद की बताई हुई वास्तविकता है। सूरा आले इमरान की आयत ५२ व्याख्या करती है कि हज़रत ईसा (अलै.) ने – “कौन हैं अल्लाह के रास्ते पर मेरे मददगार” – की व्याकुलता से भरी आवाज़ उस वक़्त लगाई थी जब उनके मुखातब बनी इसराईल ने उनको अंतिम रूप से झुठला दिया था। और अब उनकी तरफ़ से हज़रत ईसा के खिलाफ़ शैतानी कार्रवाइयाँ अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचने वाली थीं। उस आयत में कहा गया है —

“फिर जब ईसा (अलै.) को महसूस हो गया कि ये लोग (मेरे आह्वान का अन्तिम रूप से) इन्कार कर चुके हैं तो उन्होंने कहा ‘अल्लाह की राह में मेरे मददगार कौन हैं ? हवारियों जवाब दिया, ‘हम अल्लाह के मददगार हैं हम अल्लाह पर ईमान लाए, आप गवाह रहिए कि हम उसके आज्ञाकारी हैं।’”

मालूम हुआ कि मोमिन के “अल्लाह के मददगार” बनने का फ़ैसला उस समय होता है, जब सत्य धर्म का आह्वान अपने आम प्रचार-प्रसार व समझने – समझाने की मंज़िलों से गुज़रकर घोर विरोधों की चपेट में आ चुका होता है, जो लोग उस समय भी चुप नहीं रहते और हर मुश्किल बर्दाश्त करके अल्लाह का पैग़ाम उसके बन्दों तक पहुँचाते ही रहते हैं, वही “अल्लाह के मददगार” ठहराए जाते हैं क्योंकि इसी प्रकार के आह्वान की कोशिशें वास्तविक अर्थों में “जिहाद” और “अल्लाह के दीन की मदद” होती हैं।

(३) सशस्त्र जिहाद:- अंत में “सशस्त्र जिहाद” के मर्तबे व मक़ाम का जायज़ा लीजिए। कुरआन मजीद और हदीसों के पृष्ठ इस अमल की बड़ाई के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। उनके देखने से साफ़ मालूम होता है कि जितना प्रिय अल्लाह की दृष्टि में यह अमल (कर्म) है, नमाज़ के सिवा कोई और अमल उतना प्रिय नहीं है। सत्य के दुश्मनों के मुक़ाबले में “आह्वान और चिन्तन संबंधी जिहाद” करनेवालों को जब वह “अपना मददगार” ठहराता है, तो अनुमान लगाए, वह उन लोगों को क्या कुछ न ठहराएगा, जो उसके धर्म व दीन की खातिर अपनी अंतिम पूँजी भी न्योछावर कर देने के लिए मैदान में उतर आते हैं। अतः वह ऐसे लोगों को अपना मददगार ही नहीं, अपना प्रिय कहता है। –

“निस्सन्देह, अल्लाह उन लोगों से मुहब्बत रखता है जो उसके मार्ग में इस प्रकार पंक्तिबद्ध होकर लड़ते हैं, मानो कि सीसा पिलाई हुई दीवार हैं।”

(कुरआन, ६१:४)

इस प्रियतम होने की संक्षिप्त व्याख्या नबी (सल्ल.) की ज़बान से सुनिए –

“एक रात व दिन की, सीमाओं की निगरानी एक महीने के लगातार रोज़ों और नमाज़ों से भी श्रेष्ठ है।” (हदीस : मुस्लिम, भाग-२)

“हर मरनेवाले के कर्म पर उसकी मौत के साथ ही मुहर लगा दी जाती है, लेकिन उस व्यक्ति का मामला इससे भिन्न है, जो अल्लाह के मार्ग में सामरिक (जंगी) पड़ाव डालनेवाला होता है। क्योंकि उसका (यह) कर्म (सवाब के लिहाज़ से) क्रियामत तक बराबर बढ़ता ही रहता है।”

(हदीस : तिमिज़ी, भाग-१)

“सौगंध है उस ज़ात की जिसकी मुट्ठी में मुहम्मद (सल्ल.) की जान है, अल्लाह की राह में जिहाद करने के लिए एक सुबह या एक शाम का सफ़र, दुनिया और जो कुछ भी उसमें है, उससे बढ़कर है और खुदा की राह में दुश्मन के मुकाबिले में जमकर ठहरे रहना घर की सत्तर वर्ष की नमाज़ों से भी श्रेष्ठ है।”

(हदीस : तिमिज़ी)

“खुदा की राह में जिहाद करनेवाले की दशा ऐसी है, जैसे कोई व्यक्ति उस समय तक, जब तक कि यह मुजाहिद (जिहाद करनेवाला) अपने जिहाद से वापस न आ जाए, लगातार रोज़े रखता और नमाज़ें अदा करता और उनमें कुरआन पढ़ता रहे और न तो उसे कोई सुस्ती आए, उस रोज़े और उस नमाज़ में।” (हदीस : मुस्लिम)

केवल यही नहीं कि अल्लाह का बोलबाला औ उसके कलिमे को बुलन्द करने के लिए लड़ना और उसके प्यार, क्षमा करने और अनुकम्पा का अधिकारी बना देता है, बल्कि उसकी दृष्टि में तो वे लोग भी ख़ास ऊँचा मक़ाम कर लेते हैं जो लड़नेवालों की किसी के द्वारा मदद करते हैं और जिहाद की तैयारियों में बस उनका हाथ बटा देते हैं। रसूल (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि –

“जिसने अल्लाह के मार्ग में जिहाद करनेवाले किसी व्यक्ति को जिहाद का साज़ोसामान उपलब्ध कर दिया, उसने (मानोकि) खुद जिहाद किया और जिसने किसी मुजाहिद के परिजनों की, उसकी अनुपस्थिति में देख-भाल की, वह (मानो कि) स्वयं जिहाद में शामिल रहा।”

(हदीस: मुस्लिम, भाग-२)

“अल्लाह तआला केवल एक तीर के द्वारा तीन आदमियों को जन्मत में प्रवेश करता है – एक उस व्यक्ति को जो सवाब की नीयत से यह तीर बनाता है, दूसरे उस व्यक्ति को जो उसे दुश्मन पर चलाता है और तीसरे उस व्यक्ति को जो यह तीर उसे उपलब्ध कराता है।”

(हदीस: अबूदाऊद, भाग-१)

जिस जिहाद के लिए हथियार बनाने और उलब्ध करानेवाले तक को इतनी बड़ी दौलत हाथ आ जाती हो, वह उस व्यक्ति को क्या कुछ न प्रदान करता होगा, जो उसके लिए अपने घर से निकल खड़ा हुआ हो, मैदाने जंग में पहुँचकर लड़ा हो, ज़ख्मी हुआ हो, खून में नहाया हो, यहाँ तक कि उसने अपनी जान अपने मालिक के सुपुर्द कर दी हो। ऐसे व्यक्ति के सौभाग्य का कुछ अन्दाज़ा अल्लाह तआला के इस फ़रमान से लगाइए –

“उन लोगों को हरगिज़ मुर्दा न समझो, जो अल्लाह के मार्ग में मारे गए हों (वे वस्तुतः मुर्दा नहीं है) बल्कि वे अपने रब के पास जीवित है, रोज़ी पा रहे हैं। और इस हाल में है कि अल्लाह ने अपनी उदार कृपा से जो कुछ उन्हें प्रदान किया है, वे उस पर बहुत प्रसन्न हैं। अल्लाह तआला की नेमतों की उसी उदार कृपा और अनुग्रह की और इस बात की कि निस्सन्देह अल्लाह मोमिनों का बदला नष्ट नहीं करता, खुशाखबरी हासिल कर रहे हैं।”

(कुरआन, ३:१६९-१७१)

याद रहे कि पूरे कुरआन में इस प्रकार की प्रियोक्तियाँ केवल उन्हीं लोगों के पक्ष में आई हैं जो अल्लाह के मार्ग में लड़ते हुए अपनी जान दे देते हैं उनके बारे में कुरआन मजीद की यह विशिष्ट उद्-घोषणा बताती है कि इस कर्म को अल्लाह की दृष्टि में जो प्रेम-पात्रता प्राप्त है वह कोई साधारण प्रकार की नहीं, बल्कि एक श्रेष्ठतम गरिमा रखनेवाली प्रेम-पात्रता है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने इस सिलसिले में जो कुछ कहा है, उससे इस “श्रेष्ठतम गरिमा रखनेवाली प्रेम-पात्रता” की बहुत कुछ व्याख्या हो जाती है। फ़रमान होता है –

“कोई भी व्यक्ति जो जन्मत में प्रवेश करेगा, इस दुनिया की ओर पलटना न चाहेगा। चाहे इस ज़मीन की एक-एक चीज़ उसी की संपत्ति क्यों न हो। किन्तु शहीद की स्थिति यह न होगी, शहीद अपनी इस इज़्ज़त और सम्मान को देखकर जो उसे खुदा के समक्ष प्राप्त होगा, तमन्ना करेगा कि काश। वह दुनिया में दस बार वापस जाए और दस बार अल्लाह के मार्ग में क़त्ल किया जाए।”

(हदीस : बुखारी, भाग - १)

यह तो आखि़त का मामला रहा। खुद इस दुनिया में भी खुदा के मार्ग में होनेवाले ये शहीद एक श्रेष्ठतम गरिमा से सुशोभित होते हैं। हर मरनेवाले को गुस्ल दिया जाता है और जिस्म की कपड़े उतार कर साफ़-सुथरा कपड़ा (कफ़न) पहनाया जाता है, किन्तु शहीद के बारे में शरीअत का आदेश यह है कि उन्हें न तो गुस्ल दिया जाए न कफ़न पहनाया जाए, बल्कि उनके ऊपर के उन्हीं खून से सने हुए कपड़ों में जिनमें वे क़त्ल हुए हों, दफ़न कर दिया जाए। हज़रत इब्ने अब्बास (रज़ि.) बयान करते हैं कि –

“उहुद के शहीदों के बारे में आप हुज़ूर (सल्ल.) ने आदेश दिया कि उनके जिस्मों पर से हथियार और ज़िरहें उतार ली जाएँ और फिर उनके खून और उनके कपड़ों समेत (ज्यों का त्यों) उन्हें दफ़न कर दिया जाए।”

(हदीस : अहमद, भाग-५ पृ.-२६६)

इस विशेष श्रेष्ठता का कारण एक और रिवायत से ज्ञात होता है कि शहीदों का खून वह खून न ही होता जिसे इस्लामी धर्मशास्त्र की भाषा में “नापाक” कहा जाता है, बल्कि वह खून होता है, जिससे अधिक पाक (पवित्र) चीज़ शायद कोई और होती ही नहीं अल्लाह के निकट वह ज़ाफ़रान जैसा अच्छा रंग और मुशक जैसा खुशबूदार होता है। (हदीस : अबू दाऊद)

मतलब यह कि अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) के फ़रमानों के अनुसार यह एक सर्वमान्य सत्य है कि अल्लाह के मार्ग में क़त्ल होनेवालों की हैसियत विभिन्न पहलुओं से सर्वोच्चतम श्रेष्ठ और लालसा करने योग्य होती है। विचार कीजिए तो ज्ञात होगा कि यह वास्तविकता दो और सच्चाइयों को स्पष्ट कर रही है – एक तो यह कि “सशस्त्र जिहाद” जिहाद का सबसे विशिष्ट और श्रेष्ठ रूप है। दूसरी यह कि यह जिहाद सबसे बड़ी नेकी और सबसे बड़ी इबादत और सबसे बड़ी खुदापरस्ती (ईशपरायणता) है। अतएव, नबी (सल्ल.) से जब पूछा गया कि ऐ अल्लाह के रसूल (सल्ल.) सबसे श्रेष्ठ जिहाद कौन-सा है, तो आप (सल्ल.) ने फ़रमाया –

“सबसे श्रेष्ठ जिहाद यह है कि आदमी (धर्म के शत्रु) बहुदेववादियों से अपने माल और अपनी जान के द्वारा जिहाद करे।”

(हदीस: अबू दाऊद)

इसी प्रकार जब यह पूछा गया कि “सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति कौन है?” तो कहा गया,

“सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति वह मोमिन होता है जो अपनी जान और अपने माल से अल्लाह के मार्ग में लड़ता है।” (हदीस: बुखारी, भाग-१)

“अल्लाह के मार्ग में अपनी जान-माल से लड़नेवाला मोमिन सबसे श्रेष्ठ होता है।” यही बात दूसरे शब्दों में अगर कही जाए तो इस प्रकार कही जाएगी कि अल्लाह के मार्ग में अपनी जान और माल से लड़ना सबसे श्रेष्ठ अमल और सबसे बड़ी नेकी है।

जो अमल सबसे ऊँचा हो, कोई कारण नहीं कि उसका बदला भी सबसे ऊँचा न हो। ऊपर जिन कुरआन की आयतों और हदीसों के हवाले गुज़रे, उनमें इस चीज़ के सम्बन्ध में भी स्पष्ट संकेत, बल्कि स्पष्टीकरण मौजूद हैं। और अधिक इत्मीनान के लिए रसूल (सल्ल.) के ये फ़रमान भी सुन लीजिए –

“दो आखों को जहन्नम की आग न छुएगी – एक वह जो अल्लाह के डर से रो पड़ी हो। दूसरी वह जिसने अल्लाह के मार्ग में पहरा देते हुए रात गुज़ारी हो।”

(हदीस: तिर्मिज़ी)

“अल्लाह के मार्ग में जिहाद करने के दौरान उसके मार्ग की गर्द और जहन्नम का धुआँ, ये दोनों चीज़ें किसी व्यक्ति के ऊपर इकट्ठी नहीं हो सकती।”

(हदीस: तिर्मिज़ी, भाग-१)

“जिसने अल्लाह के मार्ग में उतनी देर भी जंग की जितनी देर तक ऊँटनी दूहने में दो धारों के बीच हुआ करती है, उसके लिए जन्नत का मिलना ज़रूरी हो गया।”

(हदीस: तिर्मिज़ी, भाग-१)

हुनैन की जंग के मौक़े पर एक सहाबी हज़रत अनस बिन अबी मुरसद ग़नवी (रज़ि.) ने रात भर एक घाटी पर पहरा दिया। सुबह के वक़्त जब वह अपनी इस ड्यूटी से वापस लौटे और हुज़ूर (सल्ल.) की सेवा में उपस्थित हुए तो आप (सल्ल.) ने उन्हें सम्बोधित करके कहा –

“तुमने अपने लिए जन्नत वाज़िब (अनिवार्य) कर ली। कोई हरज नहीं यदि इस कर्म के बाद कुछ और न करो।”

(हदीस: अबूदाऊद, भाग-१)

जिन लोगों ने बद्र की लड़ाई लड़ी थी, उनके बारे में आप (सल्ल.) ने एक मौक़े पर हज़रत उमर (रज़ि.) को सम्बोधित करके कहा –

“तुम्हें क्या मालूम, सम्भवतः अल्लाह तआल ने बद्र (की जंग में शामिल होने) वालों की तरफ़ देखकर कह दिया हो कि – जो चाहो करो, मैं बख़्शा चुका हूँ।”

(हदीस: मुस्लिम, भाग-२)

‘सशस्त्र जिहाद’ को अल्लाह की निगाह में जो इतना ऊँचा स्थान प्राप्त है, इस पर कोई ताज्जुब न करना चाहिए, क्योंकि इसमें ताज्जुब की कोई बात ही नहीं।

अल्लाह की बन्दगी ही जब मोमिन का जीवन-उद्देश्य है और जब मुस्लिम समुदाय वुजूद में लाया ही गया इसी प्रयोजन से कि दुनिया के सामने सत्य की पूरी-पूरी “गवाही” दे, तो उस बन्दगी से बड़ी बन्दगी और उस “गवाही” से ऊँची गवाही और क्या हो सकती है, जो अपने प्राण न्योछावर करके पूरी की गई हो ? निसन्देह यह अल्लाह की सबसे बड़ी बन्दगी और सत्य की सबसे ऊँची गवाही होगी। दूसरे शब्दों में यह कि आदमी के अस्तित्व का जो उद्देश्य है, यह ‘सशस्त्र जिहाद’ इस उद्देश्य पूर्ति के लिए सबसे बड़ी कोशिश है। और जिस समय वह इस जिहाद में अपने प्राण को भी न्योछावर कर चुका होता है, उस समय अल्लाह की बन्दगी और सत्य की गवाही की अन्तिम मंज़िल पर जा पहुँचता है। क्योंकि किसी उद्देश्य या अपने अनिवार्य कर्तव्य के लिए अपने प्राण तक को न्योछावर कर देना, निश्चित रूप से उसकी सेवा का अंतिम हक़ अदा कर देना है। और वस्तुतः ऐसा ही व्यक्ति इस बात का पात्र होता है कि उसे उस मक़सद का वास्तविक ध्वजावाहक और उस फ़र्ज़ का सच्चा सेवक कहा जाए। यही कारण है कि यद्यपि वह मुसलमान जो अपनी करनी और कथनी से गवाही देता है, अपनी जगह दीन (सत्य-धर्म) का शहीद यानी गवाह होता है। मगर जहाँ तक नाम और उपाधि का सम्बन्ध है, पारिभाषिक रूप में “शहीद” की उपाधि उन्हीं लोगों के लिए विशिष्ट है, जो अल्लाह के धर्म के लिए अपने प्राण भी न्योछावर कर चुके हों। क्योंकि ये वे लोग होते हैं, जो इस्लाम की गवाही देने में अपनी अन्तिम पूँजी लुटा कर अपना अंतिम सम्भाव्य प्रयास कर चुके होते हैं। इसलिए वास्तविक अर्थों में ‘शहीद’ की उपाधि उन्हीं लोगों को शोभा देती है।

इस वर्णन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यह जान की कुरबानी एक व्यक्ति के अन्दर ख़ुदा पर दृढ़ विश्वास और उसकी आज्ञानुपालन की पराकाष्ठा की स्थिति है। जिस वक़्त इनसान जिहाद के मैदान में केवल अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्ति के लिए मौत को गले लगाता है, उस समय उसके प्रति दृढ़ विश्वास और आज्ञानुपालन की कोई श्रेणी शेष नहीं रह जाती, जिसका पाना सम्भव हो और अब वह उसे न पा चुका हो, यहाँ तक कि अगर उसकी अब तक की ज़िन्दगी भी भलाई व तक्रवे की आदर्श ज़िन्दगी रही हो तो वह अपने उस कर्म के कारण उस मक़ाम पर जा पहुँचता है जिसके आगे केवल नबियों (अलै.) ही का ख़ास मक़ाम बाक़ी रह जाता है। हज़रत उल्बा बिन अब्दुल सलीमी (रज़ि.) से उल्लिखित है कि –

“अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने फ़रमाया कि “लड़ाई के मैदान में क़त्ल होनेवाले मोमिन तीन प्रकार के होते हैं – (जिनमें से) एक मोमिन तो वह होता है, जो अपनी जान-माल से अल्लाह के मार्ग में जिहाद करता है, जब दुश्मन से मुठभेड़ होती है तो उससे लड़ता है, यहाँ तक कि क़त्ल कर दिया जाता है।” नबी (सल्ल.) ने ऐसे मक़तूल (वधित) के बारे में फ़रमाया कि “यह सच्चा और पक्का शहीद है, यह अर्श के नीचे अल्लाह के एक शामियाने में रहेगा। नबियों को उससे अधिक जो बड़ाई प्राप्त होगी, वह केवल उनके नुबूत के मर्तबे की बड़ाई होगी।” (हदीस: दारमी, अध्याय जिहाद)

“सशस्त्र जिहाद” के विषय का एक पक्ष स्पष्ट करने के लिए अब भी रह जाता है, उसे भी समझ लेना चाहिए। कुरआन मजीद में इस जिहाद के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उससे ज्ञात होता है कि धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से यह जिहाद हमेशा एक ही प्रकार का महत्व नहीं रखता। बल्कि कभी तो वह मात्र एक बड़ाई और महत्ता का काम होता है और कभी अनिवार्य और फ़र्ज़ होता है। इस संक्षेप की व्याख्या यह है कि जिस समय दुश्मन के मुक़ाबले में आम लोगों को लगाने की ज़रूरत न हो, बल्कि कुछ लोग ही उस समर को जीत लेने के लिए पर्याप्त हों, उस समय यह सामरिक सेवा केवल एक बड़ाई का काम होगी। उस सेवा को पूरा करनेवाला यद्यपि बड़े बदले और सवाब का पात्र होगा और उस पर वह समस्त नवाज़िशें (अनुकम्पाएँ) होंगी जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, मगर जो उस सेवा में सम्मिलित न होगा, उस पर कोई आरोप भी न लगेगा। अलबत्ता उस बदले व सवाब से वंचित रहेगा जो उस जिहाद में शामिल लोगों को मिलेगा। ऐसे ही जिहाद के एक अवसर पर लोगों की कर्म शैली का जायज़ा लेते हुए कुरआन मजीद में फ़रमाया गया था कि यद्यपि अल्लाह तआला के क्षमा कर देने के वादे के पात्र दोनों ही प्रकार के मुसलमान हैं – वे भी जो घर बैठे रहे और जिहाद में शामिल न हुए और वे भी जो बढ़कर मैदान में पहुँचे और लड़े। लेकिन घर बैठे रहनेवालों के मुक़ाबले में लड़नेवालों का मर्तबा बहुत ऊँचा है। –

“अल्लाह ने बैठे रहनेवालों के मुक़ाबले अपनी जान और माल से जिहाद करनेवालों का दर्जा बढ़ा रखा है। यद्यपि प्रत्येक के लिए अल्लाह ने अच्छे बदले का वचन दिया है।” (कुरआन, ४:९५)

लेकिन जिस समय वर्तमान परिस्थिति यह न हो, बल्कि कोई बड़ा अभियान सामने हो और अमीरुल मोमिनीन (मुस्लिम शासन का सर्वोच्च) ने ज़रूरत महसूस करके आम लोगों को भी शामिल होने का एलान कर दिया हो, उस समय यह सामरिक सेवा केवल बड़ाई की चीज़ नहीं रह जाती, बल्कि धर्म की अनिवार्य अपेक्षा और ईमान की कसौटी बन जाती है। चुनाँचे नबी (समल.) के दौर में आम उद्घोष के

बावजूद जिन लोगों ने जिहाद के लिए निकलने में ढील दिखाई उनसे स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया कि –

“ऐ ईमानवालो ! तुम्हें क्या हो गया है कि जब तुमसे अल्लाह के मार्ग निकल खड़े होने को कहा जाता है, तो तुम ज़मीन से लगे पड़ते हो। क्या तुम आखिरत की अपेक्षा दुनिया को पसन्द कर बैठे हो ? (याद रखो,) अगर तुम लोग (युद्ध के लिए) न निकलोगे तो अल्लाह तुम्हें दर्दनाक अज़ाब देगा और तुम्हें हटाकर तुम्हारी जगह दूसरे लोगों को लाएगा।”

(कुरआन, ४:९५)

इसी प्रकार जिन लोगों ने नबी (सल्ल.) से हीले-बहाने बनाकर छुट्टियाँ प्राप्त करनी शुरू कर दीं उनके बारे में कहा गया –

“जो लोग अल्लाह पर और आखिरत के दिन पर ईमान रखते हैं, वे तुमसे इस बात की दरख्तास्त न करेंगे कि उन्हें अपने माल और अपनी जान के साथ जिहाद करने से माफ़ रखा जाए। अल्लाह डर रखनेवालों को भली-भाँति जानता है। तुमसे छुट्टी तो केवल वही लोग माँगते हैं, जो अल्लाह और आखिरत पर ईमान नहीं रखते।”

(कुरआन, ९:४४-४५)

इन आयतों से जहाँ यह ज्ञात होता है कि आवश्यकता पड़ने पर सशस्त्र जिहाद से कतरा जाना ईमान के बिलकुल विरुद्ध है, वहाँ यह भी ज्ञात हो जाता है कि अल्लाह के मार्ग में लड़ने की भावना और इच्छा रखना ईमान का एक कभी न अलग होनेवाला गुण है। यह एक अलग बात है कि लड़ाई का मौक़ा हर वक़्त और हर स्थिति में मौजूद नहीं हुआ करता, इसलिए व्यावहारिक रूप में तो यह अनिवार्य कर्तव्य उसी वक़्त पूरा किया जा सकेगा, जब उसके लिए अपरिहार्य परिस्थितियाँ पैदा हो की हों और उसकी ज़रूरी शर्तें भी पूरी हो रही हों – मगर जहाँ तक कर्तव्य के एहसास का सम्बन्ध है उसे मोमिन के दिल में हर स्थिति में विद्यमान रहना चाहिए। सच्चे ईमान की मनोवृत्तियाँ यही हुआ करती हैं। नबी (सल्ल.) के ये शब्द ईमान और सशस्त्र जिहाद के नैसर्गिक सम्बन्ध को पूरी तरह बेनकाब कर देते हैं –

“जो व्यक्ति इस स्थिति में मृत्यु को प्राप्त हुआ हो कि उसने न तो धर्म के लिए युद्ध किया हो, न अपने दिल में उस युद्ध का विचार लाया हो, वह किसी न किसी सीमा तक निफ़ाक़ (निष्ठाहीनता) की स्थिति में मृत्यु को प्राप्त हुआ।”

(हदीस: मुस्लिम)

इसका कारण बिलकुल स्पष्ट है। मुस्लिम गिरोह इसलिए अस्तित्व में नहीं लाया गया है कि दूसरे लोगों की तरह वे भी, जिस प्रकार चाहे अपना जीवन व्यतीत करता रहे, बल्कि वह एक विशेष कार्य के लिए अस्तित्व में लाया गया है। यह काम इतना बड़ा और इतना महत्वपूर्ण है कि ठीक रूप से पूर्ण करने के लिए इनसान का सब कुछ माँगता है। इसलिए इस अनिवार्य कर्तव्य से भारमुक्त केवल वही व्यक्ति हो सकता है, जो इसकी अपेक्षा संसार की किसी चीज़ को, यहाँ तक कि अपनी जान को भी प्रिय न रखता हो, और वास्तविक “मुस्लिम समुदाय” वस्तुतः ऐसे ही व्यक्तियों के जलथे का नाम है जिनके अन्दर कुरबानी का यह जौहर विद्यमान हो अन्यथा वह इनसानों की एक जमाअत और एक समुदाय तो ज़रूर होगा, लेकिन “मुस्लिम समुदाय” न होगा और उससे वह काम कभी न हो सकेगा जिसके लिए उसे बरपा किया गया है। इस सम्बन्ध में कुरआन हकीम का निर्णायक कथन भी हमारे सामने मौजूद है। कुछ लोगों ने जब मुसलमान होते हुए भी वह आचरण अपनाने से आना-कानी करनी चाही, जो उन्हें “मुस्लिम समुदाय” से अपनाना चाहिए था, तो उनको सचेत करते हुए फ़रमाया गया –

“ऐ ईमान लानेवालो ! तुम में से जो लोग अपने धर्म से फिर जाएँगे तो (अल्लाह को उसकी कोई परवाह न होगी) अल्लाह उनकी जगह ऐसे लोगों को लाएगा जिन से उसे प्यार होगा और जो उससे प्यार करते होंगे। जो मोमिनों के प्रति बिलकुल नरम और इनकार करनेवालों के प्रति कठोर होंगे, अल्लाह के मार्ग में जिहाद करेंगे और (इन सम्बन्ध में) किसी निन्दक की निन्दा की चिन्तन करेंगे।” (कुरआन, ५ : ५४)

इस अल्लाह के फ़रमान का उद्देश्य स्पष्ट रूप में यह है कि अल्लाह तआला को अपने धर्म के लिए जिस प्रकार के लोग अपेक्षित हैं, उनमें कुछ गुण अनिवार्य रूप से पाए जाने चाहिए। उनमें से एक गुण अल्लाह के मार्ग में जिहाद करनेवाला भी है। जो लोग इस गुण से रिक्त हों, वे दीन (धर्म) की सेवा, समर्थन और गवाही के अनिवार्य कर्तव्य को कभी भी पूरा नहीं कर सकते। फिर जो मुसलमान यह काम नहीं कर सकता वह मानो कि अपने वास्तविक पद (गवाही देने के पद) से अपने को स्वयं ही च्युत कर लेता है। यही कारण है कि जिहाद से दूर भागनेवालों को इस आयत में “धर्म से फिर जाना” कहा गया है। यही बात सूरा तौबा की उपरोक्त आयत में भी हम देख चुके हैं, जिसमें कहा गया है कि –” अगर तुम लोग जंग के लिए न निकलोगे तो अल्लाह तुम्हें दर्दनाक अज़ाब देगा और तुम्हें हटाकर तुम्हारी जगह दूसरे लोगों को लाएगा।” किसी व्यक्ति या गिरोह को उसकी जगह से उसी समय हटाया जाता है, जब वह उसके योग्य न रह गया हो और वह काम उससे पूरा ही न हो सकता हो, जिसके लिए उस जगह पर उसे नियुक्त किया गया था।

इस्लाम की सांसारिक बरकतें

सांसारिक सफलता और नबियों वाला आह्वान

ऊपर के पृष्ठों में इस्लाम का जो साधारणतया परिचय कराया गया है, उसमें एक वास्तविकता बार-बार उभरकर सामने आई है और वह यह कि – “इस्लाम” वास्तव में अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जीने और उसी के लिए मरने का नाम है और “मुसलमान” वह है जो अपनी नज़रें हमेशा आखिरत पर जमाए रखे और उसके फ़ायदे पर दुनिया के फ़ायदे को कभी भी प्राथमिकता न दे। ऐसी स्थिति में नैसर्गिक रूप से यह प्रश्न पैदा होता है कि इस दीन (इस्लाम-धर्म) की सही पैरवी के बाद मुसलमान की “दुनिया” का क्या हाल होगा ? क्या उसके पास इस संसार की कोई उल्लेखनीय भलाई शेष रह जाएगी ? क्या वह वैयक्तिक हैसियत से खुशहाल और सामूहिक हैसियत से सम्माननीय व प्रभु-संपन्न भी हो सकेगा ? स्पष्ट है कि यह एक साधारण प्रकार का प्रश्न है और उसे केवल एक इस्लाम ही के बारे में नहीं, बल्कि प्रत्येक उस धर्म के सम्बन्ध में उठना चाहिए जो अल्लाह तआला की ओर से आया हो। क्योंकि अपनी यथार्थ वस्तुस्थिति की दृष्टि से “इस्लाम” और दूसरे आसमानी धर्मों में कोई अन्तर नहीं रहा है। इस्लाम ही की तरह प्रत्येक धर्म, धर्म-परायणता (दीनदारी) और ईशपरायणता (खुदा परस्ती) का जौहर यही बताता रहा है मानव अपने आप को अल्लाह के सुपुर्द कर दे और दुनिया पर आखिरत को प्राथमिकता देता रहे। इसलिए उचित यह है कि इस सम्बन्ध में कुरआनी आह्वान का उत्तर सुनने से पूर्व दूसरे नबियों के आह्वान का उत्तर भी सुन लिया जाए –

इस उद्देश्य के लिए जब हम नबियों के आह्वानों का विवेचन करते हैं तो हमें इस प्रश्न का उत्तर वह नहीं मिलता जिसका बाह्यतः विचार करते हैं। यानी यह कि धर्म की सच्ची पैरवी और आखिरत की चाह का नतीजा दुनिया की अनिवार्य रूप से महरूमी ही की शक्ति में निकल सकता है। इसके विपरीत हमें देखने को यह मिलता है कि जिस नबी ने भी अपनी क्रौम को अल्लाह के दीन (धर्म) की ओर बुलाया, यह विश्वास दिलाते हुए बुलाया कि मेरी पैरवी तुम्हें आखिरत ही की नहीं, दुनिया की भी भलाई प्रदान करेगी उदाहरणतः हज़रत नूह (अलै.) ने अपनी क्रौम को सम्बोधित करके कहा था –

“अपने पालनहार से क्षमा माँगो, निस्सन्देह, वह बड़ा ही क्षमा करनेवाला है (अगर ऐसा करोगे तो) वह तुम पर मूसला धार बारिश बरसाएगा, तुम्हें धन और सन्तान प्रदान करेगा, (हरियाले) बाग़ उपलब्ध करेगा और तुम्हारे लिए नदियाँ जारी करेगा।”
(कुरआन, ७१: १०-१२)

इसी प्रकार हूद (अलै.) ने भी अपनी क्रौम को हक़ की ओर आह्वान करते हुए उसे सन्तोष दिलाया था –

“ऐ मेरी क्रौम के लोगो ! अपने पालनहार से क्षमा माँगो और फिर उसकी ओर उन्मुख रहो, वह तुम पर मूसलाधार बारिश बरसाएगा और तुम्हारी शक्ति में अनवरत अभिवृद्धि करता रहेगा।”

(कुरआन, ११:५२)

नबियों के आह्वानों का यह यकीन दिलाना समय पर किस प्रकार पूरा होकर रहता था, अगर यहाँ यह भी देख लेना हो तो बनी इसराईल के उस इतिहास पर नज़र डालिए जो हज़रत मूसा (अलै.) की पैदाइश के पूर्व से आरम्भ होता है। उस समय से लेकर हज़रत मूसा (अलै.) के नुबूत पाने तक की उन लोगों को ज़िन्दगी अत्यन्त ज़लील, दर्दनाक और ठुकराई हुई ज़िन्दगी थी। लेकिन जब वे अपने पालनहार की ओर पलटे और उसके धर्म की पैरवी में उन्होंने साबित क्रदमी दिखाई तो उनकी ज़मीन व आसमान बदल गए। ज़िल्लत की ज़िन्दगी की जगह इज़ज़त की ज़िन्दगी ने ले ली। कुरआन का बयान है कि –

“और तेरे पालनहार का अच्छा वादा बनी इसराईल के पक्ष में पूरा हो गया, इस कारण से कि वे (सत्य-पथ पर) डटे रहे थे।”

(कुरआन, ७:१३७)

केवल यही नहीं कि उन्हें अपने पालनहार की ओर पलटने और सत्य-मार्ग में डटे रहने पर ज़िल्लत की ज़िन्दगी की जगह इज़ज़त व प्रभु-संपन्नता का जीवन मिल गया, बल्कि एक सर्वसामान्य रूप में यह शाश्वत शुभ-सूचना भी उन्हें दे दी गई कि अल्लाह की शुक्रगुजारी (कृतज्ञता) और उसके आदेशों के अनुपालन में तुम जितना ही आगे बढ़ोगे उसकी नेमतों से उतने ही अधिक नवाज़े जाओगे –

“और जब मूसा ने अपनी क्रौम से कहा था कि अल्लाह के उस एहसान को याद रखो, जिससे उसने तुम्हें नवाज़ा है, जब उसने तुमको फिर औनियों से मुक्ति प्रदान की।” (कुरआन, १४:६)

“..... और याद करो उस वक़्त को (भी) जब तुम्हारे पालनहार ने तुम्हें अवगत किया था कि यदि तुमने कृतज्ञता का

आचरण अपनाया तो तुम्हें और अधिक नवाज़ूंगा।”

(कुरआन, १४:७)

अतः जब तक वे शुक्रगुजारी और कृतज्ञता का आचरण अपनाए रहे, संसार ने देखा कि अल्लाह तआला का यह शुभ वचन भी पूरा होने से न रहा, बल्कि इस गरिमा के साथ पूरा हुआ कि वे क्रौमी सम्मान और सौभाग्य की पराकृष्टा पर पहुँचा दिया गए और इस ज़मीन पर कोई क्रौम ऐसी न रही जो महानता और ऐश्वर्य में उनकी समतुल्य होती। उनके इस स्वर्ण काल की अभिलाषा पूर्ण याद कुरआन मजीद ने इन शब्दों में उन्हें दिलाई है –

“ऐ बनी इसराईल! याद करो मेरी उस नेमत को जिससे मैंने तुम्हें नवाज़ा था और यह बात कि मैंने तुम्हें दुनिया की सारी क़ामों पर श्रेष्ठता प्रदान की थी।” (कुरआन, २:४७)

फिर जब उन्होंने “कृतज्ञता” अर्थात् खुदापरस्ती और दीन की पैरवी का यह आचरण छोड़ दिया, तो उनके ऊपर से महानमा और ऐश्वर्य का यह चोगा भी उतार लिया गया। अंतिम नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) के प्रादुर्भाव के वक़्त यह क्रौम ज़िल्लत की उसी हालत में ग्रस्त थी। कुरआन करीम ने उनकी इस दुर्दशा का कारण और उससे छुटकारे की तद्बीर दोनों चीज़ों की ओर संकेत करते हुए कहा –

“अगर ये किताबवाले तौरात को और इनजील को और उन हिदायतों को क़ायम करते, जो उनके पालनहार की ओर से उनको भेजी गई थीं, तो उन्हें ऊपर से भी खाने को मिलता और नीचे से भी।” (कुरआन, ५:६६)

अन्त में अलग-अलग क्रौमों के बजाए इकट्ठी सारी क्रौमों के बारे में अल्लाह तआला का यह सर्वसामान्य आदेश भी सुन लीजिए।

“और अगर बस्तियोंवाले ईमान लाते और तक्रवा के मार्ग पर चलते तो हम उनके ऊपर ज़मीन और आसमान की बरकतों के दरवाज़े खोल देते।” (कुरआन, ७:९६)

यह अल्लाह का फ़रमान तो उन लोगों से सम्बन्धित था, जो ईमान और खुदा परस्ती के रास्ते से दूर जा पड़े थे और इसी कारण से तिरस्कार और दरिद्रता उनका भाग्य बन गई थी। इसकी अपेक्षा उन समस्त क्रौमों और गिरोहों के सम्बन्ध में, जिन्होंने हक़ की दावत पर लम्बैक (मैं हाज़िर हूँ) कहा था, अल्लाह तआला का आम फ़रमान यह है –

“और कितने ही नबी ऐसे रहे हैं, जिन के साथ होकर बहुत से खुदापरस्तों ने युद्ध किया, अल्लाह ने उन्हें दुनिया का भी बदला दिया और आखिरत का भी बेहतरीन बदला दिया।”

(कुरआन, ३:१४६-१४८)

नबियों के आह्वानों की ये गवाहियाँ हमारे सामने हैं। उनसे अल्लाह तआला के जिस स्थायी वादे और कभी न बदलनेवाले फ़ैसले का पता चलता है, वह क़तई तौर पर यही है कि अपनी इताअत (आज्ञानुपालन) और बन्दगी के बदले वह आखिरत की सफलता के साथ-साथ इस संसार की भी सफलता और सम्पन्नता, इज़्ज़त और सम्प्रभुता प्रदान करता है। अतः जब भी किसी क्रौम ने इताअत और बन्दगी की यह राह अपनाई उसके पक्ष में यह नियम और वादा अनिवार्यतः पूरा हुआ और वह, जिन की आखिरत सँवर रही थी, उनकी दुनिया भी सदबहार बनी रही।

इस्लाम सांसारिक सफलता का ज़मानतदार

कोई कारण नहीं कि इस्लाम और मुस्लिम समुदाय के बारे में भी अल्लाह की ओर से ऐसा ही वादा न होता और उसे भी हक़ की इत्तिबा (अनुपालन) के नतीजे में सांसारिक सफलता का भी विश्वास न दिलाया गया होता। अतएव, ठीक उसी प्रकार का वादा इस मुस्लिम समुदाय से भी किया गया, जैसाकि विगत समुदायों से किया जाता रहा है और प्रत्येक चरण में किया गया। मक्का के अंधकारमय वातावरण में भी किया गया और मदीने के खतरनाक दौर में भी किया गया। उन्हें भी सम्बोधित करके किया गया, जो अभी इस्लाम नहीं लाए थे और उन्हें भी सम्बोधित करके किया गया जो इस्लाम ला चुके थे। उदाहरणार्थ – मक्का में कुरैश को ईमान की दावत देते हुए अल्लाह तआला ने सपष्ट शब्दों में कहा था –

“और यह कि तुम अपने पालनहार से क्षमा चाहो, और उसकी ओर पलट आओ, वह तुम्हें एक नियत अवधि तक जीवन व्यतीत करने का अच्छा सामान प्रदान करता रहेगा।” (कुरआन, ११:३)

और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि –

“अगर तुम मेरा लाया हुआ पैग़ाम स्वीकार कर लोगे तो वह दुनिया में भी तुम्हारे सौभाग्य का साधन होगा और आखिरत का भी।”

(सीरत इब्ने हिशाम, भाग-१)

इस सांसारिक “सौभाग्य” की व्याख्या आप (सल्ल.) ने एक और अवसर पर अपने चचा अबू तालिब के सामने इस प्रकार की थी

“मैं उन्हें (यानी कुरैश को) केवल एक बात की चेतावनी देता हूँ, ऐसी बात की चेतावनी, जिसके कारण सारा अरब उनका आज्ञाकारी और सारा अजम (ग़ैर-अरब) उनकी प्रजा बना जाएगा।”

यह तो उन लोगों से किए गए वादे की बात थी, जो अभी इस्लाम की परिधि में प्रवेश नहीं हुए थे। जो लोग प्रवेश हो चुके थे उन्हें तो उनकी दुर्बलता और कमजोरी के दौर में इस बात का और अधिक विस्तार से विश्वास दिलाया गया था। मक्का में विश्वास दिलाए जाने के शब्द ये थे –

“तुम में जो लोग ईमान लाए हैं और सुकर्म करते हैं, अल्लाह का उनसे यह वादा है कि उन्हें ज़मीन में सत्ताधिकार प्रदान करेगा, जिस प्रकार कि उसने उनसे पहले के लोगों को सत्ताधिकार प्रदान किया था, और उनके लिए उनके उस धर्म की जड़ें मज़बूती से जमा देगा, जिसे उसने उनके लिए पसन्द किया है और निश्चय ही उनके मौजूद ख़ौफ़ के पश्चात् उसे उनके लिए शांति और निश्चिंतता में बदल देगा।”
(कुरआन, २४:५५)

मदीना के आरंभिक काल में यही बात इस प्रकार कही गई थी –

“न कमज़ोर पड़ो, न दुखी हो; तुम्हीं प्रभावी रहोगे, अगर तुम ईमानवाले हुए।” (कुरआन, ३:१३९)

“इमान और सुकर्म” की शर्तें पूरी हो जाने के बाद ये वादे किस प्रकार पूरे हुए इससे दुनिया अपरिचित नहीं है। वह अच्छी तरह जानती है कि इस्लाम ने मुसलमान को वह सब कुछ दिया जो दुनिया में किसी क्रौम अपेक्षित हो सकता है।

धर्मानुपालन और सांसारिक सफलता का सम्बन्ध

इन समस्त व्याख्याओं और गवाहियों के बाद ज़ेहन इस बात पर तो बिलकुल सन्तुष्ट हो जाएगा कि इस्लाम अपने पैरवी करनेवालों को सांसारिक सफलता से भी बहुत ज़्यादा नवाज़ता है। लेकिन अब वह यह जानना चाहेगा कि ऐसा क्यों और कैसे होता है? धर्म तो इनसानों को आखिरत की ओर भगाता और दुनिया से बेपरवा बनाता है, फिर धर्म का दामन पकड़ने के नतीजे में उसे यह दुनिया भी किस प्रकार हाथ आ जाती है? इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात करने और इस मसले को समझने के लिए हमें पहले कुछ सैद्धांतिक सच्चाइयाँ समझ लेनी चाहिए।

एक तो यह कि यह सम्पत्ति यह सत्ताधिकार जिन्हें “सांसारिक सफलता” कहा जाता है, धर्म की दृष्टि में स्वयं में कोई बुरी चीज़ नहीं हैं, बल्कि अल्लाह तआला की “नेमतें” और उसका “अनुग्रह” हैं। चुनांचे कुरआन हकीम ने अपने बयानों में उन चीज़ों को यही हैसियत दी है। उदाहरण के रूप में सूरा माइदा की बीसवीं आयत को देखिए, जिसमें बनी इसराइल का उल्लेख करते हुए उनकी उस साम्प्रदायिक पराकाष्ठा और उस सत्ताधिकार को अल्लाह तआला ने स्पष्टतः अपनी “नेमत” कहा है, जो भूतकाल में उन्हें प्राप्त था –

“..... अल्लाह की उस नेमत को याद करो जो उसने तुम्हें प्रदान की है। उसने तुममें नबी पैदा किए और तुम्हें शासक बनाया और तुमको वह कुछ दिया जो संसार में किसी को नहीं दिया था।”

(कुरआन, ५:२०)

इसी प्रकार सूरा नहल की उस आयत पर नज़र डालिए जिसमें जीवन-साधनों और आजीविका की प्रचुरता को “अल्लाह की नेमतें” कहा गया है—

“अल्लाह ने एक मिसाल बयान की है, एक बस्ती थी जो निश्चिन्त और सन्तुष्ट थी, हर जगह से उसकी आजीविका प्रचुरता के साथ चली आ रही थी कि वह अल्लाह की नेमतों के प्रति अकृतज्ञता दिखाने लगी।”
(कुरआन, १६:११२)

इसी प्रकार कुरआन के बहुत-से स्थानों पर उन चीज़ों को अल्लाह का “अनुग्रह” (फ़ज़्ल) भी ठहराया गया है। उदाहरणतः—

“ज़मीन पर फैल जाओ और अल्लाह का अनुग्रह (आजीविका) तलाश करो।” (कुरआन, ६२:१०)

दूसरी यह कि इनसान इस संसार में अल्लाह तआला का “ख़लीफ़ा” और प्रतिनिधि बनाकर पैदा किया गया है। उसका इस पद के प्रति उत्तरदायित्व ही यह है कि वह इस भूमि का प्रबन्ध अपने हाथ में रखे और उसे अपने स्वामी के आदेशों और उसकी मर्जी के अनुकूल चलाए, (जैसाकि पिछली वार्ता में विस्तार से बताया जा चुका है)।

ये दोनों आधारभूत वास्तविकताएँ, यदि सामने हों, तो वार्ताधीन प्रश्न कोई प्रश्न नहीं रह जाता और स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि सांसारिक मान, दौलत और सत्ताधिकार हरगिज़ ऐसी चीज़ें नहीं हैं जिनसे सम्बन्ध रखना और लाभ उठाना धर्म और ईमान के प्रतिकूल हो।

क्योंकि जो चीजें “अल्लाह की नेमत” और “अल्लाह का अनुग्रह” हों वे उसके हक़ को पहचानने वाले बन्दों के लिए घृणा योग्य या अनापेक्षित नहीं हो सकतीं। इस प्रकार की चीजों के बारे में अल्लाह तआला का फ़रमान यह है कि –

“कह दो कि समस्त (पवित्र चीजें) सांसारिक जीवन में (भी वस्तुतः) ईमानवालों (ही) के लिए हैं और क्रियामत के दिन तो केवल उन्हीं के लिए होंगी।” (कुरआन, ७:३२)

इसका अर्थ यह हुआ कि उन चीजों के असल हक़दार अल्लाह के आज्ञाकारी बन्दे ही हैं। अब यदि उन चीजों के असल हक़दार अल्लाह के आज्ञाकारी बन्दे ही हैं, तो वे उनके लिए अप्रिय और अनापेक्षित कैसे हो सकती हैं। खुदा का जानने-पहचाननेवाला बन्दा उसकी यातनाओं से भागता है, नेमतों से नहीं भागता।

यह तो हुई सांसारिक इज़्ज़त व दौलत के “नेमत” और “अनुग्रह” होने की अपेक्षा। इसके बाद इनसान के जन्मगत अधिकार और उसकी सृजनात्मक हैसियत को सामने रख कर ग़ौर कीजिए कि उसकी माँग क्या है? ऊपर यह बात विस्तार और दलील के साथ मालूम हो चुकी है कि अल्लाह तआला ने इनसान को इस ज़मीन पर अपना “ख़लीफ़ा” बनाया है अर्थात् उसका अपरिहार्य जीवन-कर्तव्य उसने यह निश्चित किया है कि वह उसके आदेशों और मर्ज़ी के मुताबिक़ अपने अधिकारों को इस्तेमाल करे, ताकि यहाँ भी उसकी मर्ज़ी उसी प्रकार पूरी होती रहे, जिस प्रकार कि शेष ब्रह्माण्ड में पूरी होती रहती है। मानव जाति की इस सृजनात्मक हैसियत और उसके उस जन्मगत कर्तव्यों की खुली हुई माँग यह है कि जब भी अपनी इस हैसियत का ज्ञान और उस पद के प्रति अपने कर्तव्य का सही शऊर व एहसास रखनेवाले लोग मौजूद हों, इस दुनिया की लगाम उन्हीं के हाथों में हो। क्योंकि इसी स्थिति में इनसान को अल्लाह का ख़लीफ़ा बनाकर पैदा किए जाने का प्रयोजन और उद्देश्य पूरा हो सकेगा। दूसरे शब्दों में यह कि यह बात जगत्पालनहार अल्लाह तआला की हिकमत व सूझ-बूझ और उसके न्याय के बिलकुल विरुद्ध होगी कि उन्हें इस ज़मीन के सत्ताधिकार व स्वामित्व से वंचित रखे, और उनके होते हुए यह सत्ताधिकार उन लोगों के सुपुर्द कर दे जो अपने इस पद के प्रति उत्तरदायी न हों और उसके इनकारी हों। अपने सम्बन्ध में “ख़लीफ़ा” और अल्लाह तआला का नायब (उशाशीशार्पाँकींश) होने की स्थिति को स्वीकार ही न करते हों, इस दुनिया में अपने स्वतंत्र प्रभुत्व के या किसी और के प्रभुत्व के दावेदार हों।

दूसरी तरफ़ स्वयं उन लोगों के लिए भी, जो अपने कर्तव्य को जानते हैं और खुदा के फ़रमा बरदार बन्दे हैं, यह बात किसी प्रकार सही न होगी कि वे उस सत्ताधिकार के हासिल करने से लापरवाही बरतें, जिसके बिना वे अपने खिलाफ़त के कर्तव्य से किसी प्रकार मुक्त हो ही नहीं सकते। जिस चीज़ से उनके जीवन का असल फ़र्ज़ जुड़ा हो, वह तो उनके लिए केवल प्रिय ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी ठहरेगी।

इन समस्त पक्षों को सामने रखिए तो यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाएगी कि मुसलमान केवल आख़िरत की सफलता ही का नहीं, बल्कि सांसारिक सफलता का भी हक़दार और आकांक्षी होता है। उसकी यह आकांक्षा उसकी सच्ची दीनदारी (धर्मपरायणता) ही की माँग होती है। यही कारण है कि एक सच्चे, सही सोच रखनेवाले मुसलमान की दुआ अपने खुदा से यह होती है कि –

“परवरदिगार! हमें दुनिया में (दुनिया की) भलाई और आख़िरत में (आख़िरत की) भलाई प्रदान कर।” (कुरआन, २:२०१)

यह दुआ निस्सन्देह स्वीकार होकर रहती है। यदि वह अपने को इसका पात्र साबित कर देता है।

अब विचाराधीन प्रश्न का केवल एक पक्ष और शेष रह जाता है और वह यह कि अगर मुसलमान आख़िरत की सफलता के साथ सांसारिक सफलता का भी हक़दार और याचक हो सकता है, और होता है, तो कुरआन और हदीस में सांसारिक चाह की इतनी निन्दा क्यों की गई है? तथा इस स्थिति में इस बात का अर्थ क्या होगा कि “मुसलमान वह है जो अपनी नज़रें आख़िरत पर जमाए रखे और दुनिया के किसी लाभ को आख़िरत पर प्राथमिकता न दे?”

पहली बात का उत्तर यह है कि जिस संसार व दुनिया को तिरस्कृत और उसकी चाह को निन्दित ठहराया गया है, वह और चीज़ है और वह ‘दुनिया’ जिसकी सफलता का सच्चा मुसलमान हक़दार और आकांक्षी होता है, बिलकुल दूसरी चीज़ है। इस्लाम की दृष्टि में निन्दित और उपेक्षणीय केवल वे चीज़ें हैं, जो इनसान को खुदा से ग़ाफ़िल (लापरवाह) और उसके धर्म की अपेक्षाओं से बेपरवा बना देनेवाली हों और वह दुनिया जिसकी कुरआन और हदीस में निन्दा की गई है, वास्तव में इन्ही चीज़ों का नाम है। किन्तु जो चीज़ें इनसान को खुदा से ग़ाफ़िल न बनाएँ और जो अल्लाह के धर्म की अपेक्षाओं का पूरा करने में रोक बनने के बजाए उलटे मद्दगार साबित हों, वे कभी भी निन्दित और उपेक्षणीय नहीं हैं, बल्कि हर प्रकार से प्रिय और अभीष्ट हैं और उन्हें कुरआन मजीद में निन्दित व तिरस्कृत नहीं, बल्कि “फ़िद्दुन्या ह-स-नः” अर्थात् दुनिया की भलाई, “हयातन् तय्यि-बः” अर्थात् “अच्छी ज़िन्दगी” और “सवा-ब-द्दुन्या” अर्थात् दुनिया का फल कहा गया है। एक मुसलमान के लिए “दुनिया की सफलता” का शब्द जब बोला जाता है, तो इससे अभिप्रेत वस्तुतः ऐसी

ही चीजें होती हैं। कहा जा सकता है कि ख़ुदा से ग़फ़लत और धर्म के तक्राज़ों से बेपरवाही का सम्बन्ध तो वस्तुतः इनसान के अपने मन की सोच से है न कि दुनिया की चीज़ों से। एक ही चीज़ होती है जो एक व्यक्ति की लिए ख़ुदा से ग़ाफ़िल हो जाने का कारण बन जाती है, लेकिन दूसरे के लिए नहीं बनती। आम लोग तो एक मामूली-सी जायदाद पाकर भी आपे से बाहर हो जाते हैं, लेकिन उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ (रह.) जैसे लोगों को तात्कालिक सर्वोच्च सल्तनत का शासन भी ख़ुदा से किंचित्मात्र ग़ाफ़िल न बना सका। इसलिए निश्चित रूप से कोई चीज़ न इस प्रकार की “दुनिया” रही और न उस प्रकार की दुनिया। निस्सन्देह वस्तुस्थिति यही है। दुनिया की दौलत, इज़्जत और सत्ताधिकार अदि चीज़ों में से कोई चीज़ भी स्वयं में बुरी और उपेक्षणीय नहीं है। यह तो वास्तव में मनुष्य की अपनी त्रुटिपूर्ण चिंतन शैली और ग़लत कार्यशैली है जो उन चीज़ों को उसके पक्ष में ज़हर बना देती है। किन्तु ‘सच्चे मुसलमान’ के बारे में चूँकि कुरआन और इस्लाम की अवधारणा यही है कि वह अल्लाह तआला की प्रदान की हुई उन चीज़ों का प्रयोग ग़लत तरीक़े से नहीं करता बल्कि उसकी मर्ज़ी और हिदायत के अनुसार ही करता है। इस लिए उसके लिए ये चीज़ें वह “दुनिया” नहीं हैं, जो तिरस्कृत और निन्दित है, बल्कि वह “दुनिया” है जो प्रिय और अभीष्ट है।

दूसरी बात का उत्तर यह है कि आख़िरत को दुनिया पर प्राथमिकता देने से अभिप्रेत दुनिया से विरक्त हो जाने के नहीं हैं, बल्कि ये हैं कि उसके हासिल करने में और हासिल कर चुकने के बाद उसे क्रियान्वित करने में धर्म के तक्राज़ों को पददलित न किया जाए और आख़िरत के हित को ठेस न लगने दी जाए। धर्म के तक्राज़े और आख़िरत के हित ऐसे तो ज़रूर हैं कि उनसे इनसान की इच्छाओं पर रोक लगती है, वे उसे मानमानी करने से रोकते हैं और उससे उसके सांसारिक हितों की कुरबानियाँ चाहते हैं। लेकिन ऐसे हरगिज़ नहीं हैं कि दुनिया की चीज़ों को हासिल करने के दौरान लाभ प्राप्त करने के प्रति बिलकुल ही उदार न हों। अतः हदीस में मोमिन की मिसाल उस घोड़े-से दी गई है, जो एक सीमित लम्बाई रखनेवाली रस्सी के द्वारा खूँटे से बंधा रहता है। स्पष्ट है कि ऐसे घोड़े की हालत उस घोड़े जैसी नहीं होती, जिसक पावँ खूँटे से बिलकुल मिलाकर इस तरह बांध दिए गए हों कि वह हिल-डुल भी न सके। पहले घोड़े को जहाँ एक ख़ास सीमा तक चलने-फिरने और चरने-चुगने की आज़ादी होगी वहाँ दूसरा घोड़ा इस तरह की किसी आज़ादी से बिलकुल वंचित होगा। इस उदाहरण से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि दुनिया पर आख़िरत को प्राथमिकता देने के बावजूद मोमिन के लिए सांसारिक सफलता व भलाई की राह भी मुनासिब और ज़रूरी सीमा तक बिलकुल खुली ही रहती है। अर्थात् जहाँ वास्तविकता यह है कि मोमिन का असल लक्ष्य आख़िरत की सफलता होती है, वहाँ यह भी एक मान्य सच्चाई ही है कि इस्लाम ने आख़िरत की सफलता का जो मार्ग बताया है वह सांसारिक सफलता से कतरा कर नहीं जाता, बल्कि इसके अन्दर से होकर गुज़रता है। अभी सूरा आले इमरान की जिस आयत का हवाला गुज़र चुका है, उसके शब्दों को फिर ग़ौर से देख लीजिए। यह आयत साफ़-साफ़ कहती है कि जो लोग सच्चे ईमान और अच्छे कर्म करनेवाले होते हैं, उन्हें स्वयं इस ईमान और कर्म के परिणाम में “आख़िरत के सर्वश्रेष्ठ प्रतिफल” के साथ-साथ “सांसारिक प्रतिफल” भी मिला करता है जो ख़ुदा परस्ती (ईशपरापणता) और आख़िरत पसन्दी के “सवाब” (प्रतिफल और बदले) में शामिल है। इसलिए आख़िरत को संसार (दुनिया) पर प्राथमिकता देने का परिणाम स्वयं संसार के सही फ़ायदे व लाभ भी हासिल कर लेना है, उससे वंचित हो जाना हरगिज़ नहीं है।

सांसारिक सफलता की अनिवार्य शर्त

अंत में इस वास्तविकता का याद दिला देना भी उचित होगा कि जिस प्रकार सच्चा ईमान और अच्छा कर्म, आख़िरत की सफलता के लिए अनिवार्य है, उसी प्रकार सांसारिक बरकतों के दरवाज़े भी मुसलमान पर उसी वक्रत खोले जाते हैं जब वह ईमान व कर्म की शर्त पूरी कर देता है। चुनांचे ऊपर की पंक्तियों में आप देख चके हैं कि जिस किसी क्रौम से भी सांसारिक सफलता का वादा किया गया था, ईमान व कर्म की शर्त के साथ ही किया गया था। स्वयं मुस्लिम समुदाय को भी जब सत्य के इनकारियों पर प्रभावी होने की शूभ-सूचना दी गई तो “इन् कुंतुमुअमिनीन” अर्थात् अगर तुम मोमिन हुए (कुरआन, ३:१३९) – की शर्त के साथ ही दी गई थी और जब सत्ताधिकार प्रदान करने का वादा किया गया था तो इस स्पष्टीकरण के साथ किया गया था कि “यह वादा केवल उन लोगों से है जो ईमान व अच्छे कर्म वाले हैं” (कुरआन, २४:५५)। मतलब यह कि जहाँ अल्लाह तआला का यह सर्वसामान्य वादा है कि वह अपने धर्म के माननेवालों को सांसारिक सफलता से भी न वाज़ता है, वहीं उसका यह एक सर्वसामान्य नियम भी है कि यह वादा ईमान और अच्छे कर्म करने की अनिवार्य शर्त के साथ प्रतिबन्धित है। इसका मतलब यह है कि ईमान और कर्म के बिना केवल आख़िरत ही की नहीं, संसार की सफलता भी हाथ नहीं आ सकती, धर्म के बिना सही अर्थों में दुनिया भी नहीं मिल सकती। यह विधान, चाहे मिल्लत के लोग हो, या पूरी मिल्लत व जमाअत, दोनों ही के लिए है। कोई भी उससे विमुक्त नहीं। लोगों को भी अपने वैयक्तिक जीवन की सांसारिक सफलता – उदाहरणतः- अमन व दिल की शांति, इज़्जत व प्रियता और जीवन की आवश्यकताएँ आदि – उसी समय मिलेंगी जब वह अपनी हद तक ऐसे ख़ुदा

शनास और आखिरत पसन्द हों जैसाकि एक मुसलमान को होना चाहिए। नबी (सल्ल.) ने इसी सच्चाई का खुलासा किया था जब आप (सल्ल.) ने यह कहा था कि –

“जिसने अपनी समस्त चिंता, एक ही चिंता – अपनी आखिरत की चिंता को बना लिया, अल्लाह तआला उसकी दुनिया का इन्तिज़ाम कर देने के लिए काफ़ी है और जिसके ज़ेहन को अनगिनत विचारों – दुनिया के विचार व मामलों – ने दूषित कर रखा हो, अल्लाह तआला को उसकी कोई चिंता नहीं कि वह इस दुनिया की किस घाटी में हलाक होकर रहता है।”

(हदीस : इब्ने माजा)

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का एक और फ़रमान है –

“..... जो व्यक्ति आखिरत को अपना लक्ष्य बना लेता है, अल्लाह तआला उसके मामलों को दुरुस्त कर देता और उसके दिल को निस्पृह बना देता है और दुनिया आज्ञानुपालक बनकर उसके समक्ष आ खड़ी होती है।”

(हदीस : इब्ने माजा)

इसी प्रकार पूरे समाज व समुदाय को भी अपने समष्टीय जीवन की सफलता – स्वतन्त्रता, धनसम्पन्नता, प्रतिष्ठा, सत्ताधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान आदि – उसी समय प्राप्त हो सकते हैं; जब वह अपनी सामाजिक हैसियत में वस्तुतः “मुस्लिम समुदाय” हो। यानी एक ओर तो वह ऐसे लोगों पर संगठित हो, जो समष्टीय दृष्टिकोण से ईमान के सच्चे और कर्म के अच्छे हों दूसरी ओर उसमें वह सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था व एकता हो जिसके बिना कोई पार्टी, पार्टी नहीं होती और जिसकी अल्लाह व रसूल की ओर से उसे अत्यन्त चेतावनी दी गई है।

इस विषय में इस समुदाय की दूसरी क्रौमों से तुलना करना सही न होगा। दूसरी क्रौमों तो अपनी सारी नाफ़रमानियों के बावजूद ऊँचे से ऊँचा शासनाधिकार प्राप्त कर सकती हैं, लेकिन मुस्लिम समुदाय के लिए इस प्रकार की कोई सम्भावना नहीं है। उसके लिए तो सम्मान व अधिकार के पाने का बस एक ही रास्ता है, और वह है इस्लाम का रास्ता, इस्लाम की फ़रमांबरदारी का आचरण, हक़ की गवाही का सीधा मार्ग। इस अन्तर का कारण यह है कि मुस्लिम समुदाय के लिए उत्थान और पतन का क़ानून अल्लाह तआला ने वह नहीं रखा है, जो दूसरी क्रौमों के लिए निश्चित है। दूसरी क्रौमों के लिए उसका क़ानून तो यह है कि यदि कुछ भौतिक प्रकार की मानवीय नीतियाँ उनके अन्दर मौजूद हों और उन्नति के अनिवार्य भौतिक उपायों को अपना लें, तो ऊँची उठ सकती हैं। लेकिन जहाँ तक मुस्लिम समुदाय का मामला है, केवल यही चीज़ें उसके लिए उन्नति की सीढ़ी बनने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि यह समुदाय इस दुनिया में अल्लाह के धर्म का ध्वजावाहक और दूसरी क्रौमों के सामने सत्य का गवाह है, दूसरी किसी क्रौम की स्थिति यह नहीं है। स्थिति की यह भिन्नता अनिवार्य करती है कि कुदरत की निगाह में उन दोनों के अधिकार भी और उनकी जिम्मेदारियाँ भी भिन्न हों। फिर अधिकारों और जिम्मेदारियों की भिन्नता अनिवार्य ठहराती है कि उनके विधान व नियम भी भिन्न हों, जिनके मुताबिक़ उनसे मामले हों। दूसरी क्रौमों अगर सत्य का रास्ता छोड़कर चलें तो न्याय कहता है कि उनका यह जुर्म इतना सख़्त और घृणास्पद न होगा जितना सख़्त और घृणास्पद मुस्लिम समुदाय की ओर से घटित होने की शक़ल में हो सकता है। इसलिए दूसरी क्रौमों को ख़ुदा की ओर से अगर यह झूट मिली है कि वे ख़ुदा की फ़रमाबरदारी अपनाए बिना भी दुनिया में फूल-फल सकती हैं और मुस्लिम समुदाय को नहीं मिली है तो ऐसा होना ही चाहिए था। जिसे अल्लाह तआला का विशिष्ट अनुग्रह प्राप्त हो, उसे उस अनुग्रह की नाक़द्री की शक़ल में उसके विशिष्ट प्रकोप का पात्र भी होना चाहिए। क़ुरआन मजीद ने एक जगह नबी (सल्ल.) की पवित्र पत्नियों (रज़ि.) को सम्बोधित करके वार्ता करते हुए सन्दर्भगत अल्लाह के क़ानून की इस ख़ास दफ़ा का भी विस्तार से वर्णन कर दिया है। (क़ुरआन, ३३:३०-३१)

यह बात कि मुस्लिम समुदाय संसार का वास्तविक उत्थान और सत्ताधिकार उसी समय प्राप्त कर सकती है, जब वह वास्तविक रूप में भी “मुस्लिम समुदाय” हो, उसके चौदह सौ वर्षों के इतिहास से भी पूरी तरह स्पष्ट है। जब तक यह समुदाय वास्तव में “मुस्लिम समुदाय” रहा, पूरी सुसभ्य दुनिया में राजनैतिक प्रभाव और इहलौकिक ऐश्वर्य की दृष्टि से उसकी वह स्थिति (ज़ौबान) रही जो अमेरिका और रूस को भी प्राप्त नहीं, लेकिन ज्यों-ज्यों वह “मुस्लिम समुदाय” के बजाय केवल “समुदाय” बनती गई, अपनी इस स्थिति से वंचित होती चली गई। यहाँ तक कि इस दशा को पहुँच गई जहाँ दुनिया में उसका कोई उल्लेखनीय स्थान शेष नहीं रह गया। यह वस्तुस्थिति स्वयं बताती है कि इस समुदाय की यह दशा वास्तविक सम्मान व ऐश्वर्य से उस समय तक नहीं बदल सकती, जब तक कि वह स्वयं अपने को न बदल ले और बदलकर फिर वही न बन जाए जो पहले थी। अहले किताब के बारे में अल्लाह तआला का वह फ़ैसला हमारे सामने मौजूद है, जो अंतिम नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की ज़बान से उसने उन्हें सुनाया था। उसके शब्द ये थे –

“ऐ अहले किताब! तुम्हारी कोई बुनियाद नहीं है जब तक कि तुम तौरात को, इंजील को और उस हिदायत को क़ायम न कर

लो जो तुम्हारे पालनहार की ओर से तुम्हारी तरफ़ उतारी गई है।”

(कुरआन, ५:६८)

यही फ़ैसला “मुस्लिम समुदाय” के भविष्य को भी निश्चित है। यदि उसने कुरआन के लिए हुए सत्य-धर्म को पुनः स्थापित नहीं किया, तो उस खुदा के क़ानून की अपेक्षा यह है कि उसे भी किसी “असल” पर न समझा जाए और न वह उस इज़्जत व सत्ताधिकार का पात्र ठहराया जाए, जिसका वादा अल्लाह तआला ने उससे “मुस्लिम समुदाय” की हैसियत से किया था। इसलिए उसके वर्तमान से उसका भविष्य उसी समय भिन्न हो सकता है जब वह अपने अतीत की ओर वापस जाए और उसे वास्तविक सम्मान तथा सत्ताधिकार की नेमत उसी समय प्राप्त हो सकती है। वह अपने जीवन पर अल्लाह के धर्म को प्रभावी कर ले। यह धर्म उसकी मस्जिदों का भी धर्म हो और उसकी विधान सभाओं और संसदों का भी हो। अल्लाह ‘तआला का “प्रिय वादा” सदैव पूरा होने के लिए तैयार है। मुस्लिम समुदाय जब भी सच्चे दिला से उसकी आकांक्षा करेगा, वह पूरा होकर रहेगा।

इस अवसर पर अल्लाह तआला का एक और क़ानून भी याद रखना चाहिए। वह यह कि सामाजिक स्वतन्त्रता और सम्मान व प्रतिष्ठा “जमाअत” ही को मिल सकती है, व्यक्ति को नहीं अतः उक्त चीज़ों का वादा भी “जमाअत” ही से किया गया है, व्यक्ति से नहीं। इसलिए अगर यह समुदाय कुल मिलाकर उस तरह की जमाअत है जिस तरह की जमाअत अल्ला व रसूल (सल्ल.) को अभीष्ट है, अर्थात् वह जमाअत की हैसियत से “मोमिन” (सच्चा मुस्लिम), “सालेह” (सत्यकर्मनिष्ठ) और शाहिदे हक़ (सत्य की गवाही देनेवाली) जमाअत है, तो वह निस्सन्देह स्वतन्त्र और प्रतिष्ठित होगी, सम्मान उसका क़दम चूमेगा और सत्ताधिकार उसकी रिकाबें थामेगा। अगर यह समुदाय ऐसी ‘जमाअत’ नहीं है, तो चाहे वह संख्या में रेत के ज़रों से भी अधिक हो, अपने लोगों की वैयक्तिक नेकियों की बदौलत इस्लाम की उन सांसारिक बरकतों का कभी भी योग्य न ठहरेगा। और जब ऐसा होगा तो नैसर्गिक रूप से उसके दुर्भाग्य में उसके दुष्कर्मी और अकर्मनिष्ठ लोगों के साथ-साथ कर्मनिष्ठ लोग भी बराबर के शरीक ही होंगे। यह दूसरी बात है कि इन कर्मनिष्ठ और सदाचारी लोगों को उनके वैयक्तिक जीवन की कुछ सांसारिक बरकतें बदस्तूर मिलती रहें। क्योंकि इन बरकतों की हद तक जो शर्त है वह पूरी हो रही है तो समाज की सामूहिक ग़लतकारियाँ और उनके बुरे परिणाम अपनी जगह पर, उन बरकतों को तो प्राप्त होना ही चाहिए। रेत के ढेरों में दबे हुए कुछ सच्चे मोती उस पूरे ढेर को सुसज्जित मुकुट तो न बना देंगे कि वह मानवता के सिर की शोभा बन सके, लेकिन स्वयं में उनका अपना जो मान-सम्मान है रेत कर्णा अधिकता उसे हज़म भी नहीं कर सकती।

एक उलझन और उसका निराकरण

सांसारिक सफलता के सम्बन्ध में यह जो कुछ बताया गया, परिस्थितियों का विहंगम दृष्टि से जायज़ा लेनेवाले उसके बारे में सन्देह और असमंजस की कतिपय उलझनों में पड़ सकते हैं। वे कह सकते हैं कि अवलोकन इस दावे का समर्थन करता दिखाई नहीं देता। क्योंकि ऐसे अनगिनत उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं कि जो लोग अच्छे मुसलमान होते हैं, उनका जीवन बड़ा मोटा-झोटा होता है और कभी-कभी बड़ी तकलीफ़ों के साथ व्यतीत होता है। इसके विपरीत जिन लोगों को इस्लाम से बस यों ही थोड़ा-बहुत लगाव होता है, वे भारी ख़ज़ानों और बड़ी शहरतों के मालिक होते हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे मुस्लिम देश जो अपनी राजनीति और शासन के माथे पर इस्लाम का नाम “तबरूक” के रूप में भी लिखना पसन्द नहीं करते स्वधीनता और सत्ताधिकार प्राप्त हैं। लेकिन वे मुस्लिम हुकूमतें, जिन्होंने अपने यहाँ शरीअत के अहकाम लागू कर रखे हैं दूसरों के चापलूस बने हुए हैं। ऐसे हालत में सांसारिक सफलता के इन वादों और विधानों की बात कुछ समझ में नहीं आती, जिन्हें यहाँ वर्णन किया गया है। अनिवार्य है कि यहाँ उन उलझनों को भी दूर कर दिया जाए। –

जहाँ तक वैयक्तिक सफलता का सम्बन्ध है, यह उलझन केवल उस व्यक्ति के मन को हो सकती है, जिसको “सांसारिक सफलता” की इस्लामी धारण का ज्ञान न हो, जो वस्तुतः आम धारणा से बहुत कुछ भिन्न है। इसलिए इस उलझन का हल यह है कि यह अवधारणा ज्ञात कर ली जाए। इस धारणा की ओर संकेत इन आयतों में किया गया है, जिनमें एक सच्चे मुसलमान को सांसारिक सफलता की शुभ-सूचना दी गई है। उदाहरणतः-

“जो व्यक्ति भी चाहे वह पुरुष हो, चाहे महिला अच्छे कर्म करेगा और वह ईमानवाला भी होगा, हम उसका जीवन अनिवार्यतः अच्छा व्यतीत कराएँगे।” (कुरआन, १६:१७)

“अत जो कोई मेरे मार्गदर्शन का अनुकरण करेगा, वह न गुमराह होगा, न दुर्भाग्यों में फँसेगा, और जो कोई मेरी याद से मुँह मोड़ेगा, उसका जीवन यक्रीनन कठिनाई भरा जीवन होगा।”

(कुरआन, २०:१२३-१२४)

ये आयतें बताती हैं कि ईमान और अच्छे कर्म के परिणाम में इस संसार के अन्दर एक सच्चे मुसलमान को जो सफलता मिलती है वह

“हयातन तय्यि-बः” यानी अच्छा जीवन और “ला य-शक्रा” यानी कठिनाइयों और दुर्भाग्यताओं से सुरक्षित – की सफलता है। दूसरे शब्दों में यह कि इस सफलता का वास्तविक भाव धन-दौलत की तिजोरियाँ, ऊँची-ऊँची कोठियाँ, क्रीमती कारें, नौकरों की फ़ौज, तरह-तरह के भोजन और क्रीमती कपड़े रखना व पहनना नहीं है; बल्कि वस्तुतः अनिवार्य जीवन-सामग्री की उपलब्धता और हृदय-सम्पन्नता है। ऐसी धन-दौलत जिसके द्वारा इनसान को नींद जैसी स्वाभाविक आवश्यकता पूरी करने के लिए भी नींद लानेवाली औषधियाँ लेनी पड़ें, ज़ेहन परेशानियों का स्थायी निवास-स्थल बना रहे, सीने में डर और लालच की भट्टियाँ सुलगती रहें, किसी प्रकार भी सुख-सामग्री नहीं होती बल्कि एक अज़ाब होती है, सफलता नहीं, बल्कि दयनीय दुर्भाग्य होता है और यह एक यक्रीनी बात है कि ख़ुदा की मुहब्बत और आख़िरत की आकांक्षा दिल से निकाल देने के बाद इनसान को केवल ऐसी ही दौलत मिलती है, जिसके होते हुए वह भुखमरों से भी अधिक “ग़रीब” और तबाहहाल बना रहता है। इसके विपरीत जिस किसी का दिल ख़ुदा की मुहब्बत और आख़िरत की चाहत का मधुर-स्वाद ले चुका होता है वह दो वक़्त की रोटी पाकर भी, जो उसे ज़रूर मिलती है, एक धनाढ्य से भी अधिक सन्तुष्ट रहता है। क्योंकि जिस चीज़ का नाम दिल का सकून व इत्मीनान है, उसका स्रोत केवल अल्लाह की याद है।

“और जिनके दिलों को अल्लाह की याद से आराम और चैन मिलता है।” (कुरआन, १३:२८)

और अगर इनसान का दिल अल्लाह की याद से परिपूर्ण हो तो उसके अन्दर अनिवार्य रूप से और निस्सन्देह तक्रवा होगा। और जिस व्यक्ति के अन्दर तक्रवा होगा, अल्लाह तआला का फ़रमाना है कि वह नंगा-भूखा नहीं रह सकता। यह मेरा काम है कि मैं उस तक रोज़ी पहुँचाऊँ –

“जो कोई अल्लाह का डर रखेगा उसके लिए वह (पेशानी से) निकलने की राह पैदा करेगा और उसे वहाँ से रोज़ी देगा, जिसका उसे गुमान भी न होगा।” (कुरआन, ६५:२-३)

रही समष्टीय जीवन की सफलता की बात तो यह उलझन अत्यन्त सतही अवलोकन का नतीजा है। अन्यथा वास्तव में वह इस योग्य भी नहीं कि उसका इज़हार किया जाए। जिन मुसलमान शासनों को ओर आप इस्लाम से असम्बद्धता की उद्घोषणा करने के बावजूद “स्वाधीन” और “सत्ताधिकारी” देखते हैं, उनके चेहरों पर स्वाधीनता और सत्ताधिकार की केवल नक्राब पड़ी हुई है, अन्यथा उनके पास वास्तविक अर्थों में न सत्ताबल है न सत्ताधिकार। उनकी दशा यह है कि उनमें से कोई अमेरिकी ‘बैसाखियों’ के बल पर खड़ा है, तो कोई रूसी “छत्रछाया” में सांस ले रहा है। यह अगर सामुदायिक सम्मान व सत्ताधिकार है तो इस्लाम इस “सम्मान व सत्ताधिकार” से विरक्त है।

इसी प्रकार जिन मुसलमान देशों को अपने यहाँ शरई क़ानून को लागू किए जाने के बावजूद आप कमज़ोर और दूसरों का चापलूस पाते हैं, उनमें से कोई एक भी ऐसा नहीं जहाँ इस्लामी क़ानून के लागू होने की बात पचास क्या पच्चीस प्रतिशत भी सही हो। उनमें से किसी के अन्दर यह साहस और सामर्थ्य नहीं है कि जीवन के महत्वपूर्ण समष्टीय मामलों में इस्लाम के दिए हुए क़ानून और हिदायतों को अपना सकें। अधिक से अधिक जो बात उनके यहाँ पाई जाती है वह केवल यह है कि “धार्मिक कामों” और कुछ दूसरे मामलों की हद तक इस्लामी क़ानून को अपनाए रखा गया है। लेकिन स्पष्ट है कि इस्लामी व्यवस्था के केवल कतिपय अंगों को ले लेना और बाक़ी को छोड़े रखना इस्लाम पर ईमान व यक्रीन का प्रमाण नहीं बल्कि विश्वास-अल्पता का प्रमाण है और इसके लिए वास्तविक परम सत्ताधिकारी अल्लाह की ओर से ज़िल्लत की सज़ा निश्चित की गई है, प्रतिष्ठा प्रदान करने का वादा नहीं किया गया है। इसलिए ये मुस्लिम हुकूमतें अगर दूसरों की चापलूस बनी हुई हैं तो उसी नीति और आधी-तिहाई प्रकार की इस्लाम की पैरवी उन्हें कभी सच्ची आज्ञादी और प्रभु-सम्पन्नता से आलिंगनबद्ध न होने देगी। यह “नेमत” तो इस्लाम की पूर पैरवी और उसकी जीवन-प्रणाली को पूरी तरह लागू किए जाने के बाद ही मिल सकती है। क्योंकि अल्लाह तआला का इहलौकिक सफलता सम्बन्धी वादा केवल उसी संवर्तमान परिस्थिति से सम्बन्ध और उसी शर्त के साथ सम्बन्ध है। इस वादे के सिलसिले में अपने बन्दों से उसका फ़रमाना यह है कि – “तुम मेरे साथ किए हुए वादे को पूरा करो, मैं तुम्हारे साथ किए हुए अपने वादे को पूरा करूँगा।”

(कुरआन, २:४०)

१. कुरआन में है “अल्लाह हर चीज़ का स्रष्टा है सूरा जुमर आयत ६२
१. कुरआन में हैं “उस जैसी कोई चीज़ नहीं।” सूरा शूरा आयत ११
२. सू. नहल, आ. ६०
३. सू. इख्लास, आ. ३

१. आप (सल्ल.) की इस मौलिक स्थिति पर विस्तृत वार्ता एह विशिष्ट शीर्षक “इस्लाम और दूसरे मज़हब” के अंतर्ग आगे आ रही है।

* जिहाद के विषय में विस्तृत जानकारी आगे के पृष्ठों में आ रही है।

१. हज़रत उमर फ़ारूक (रज़ि.) जो अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के दूसरे खलीफ़ा गुज़रे हैं।

१. वास्तविक तर्कवा की यह अवधारणा और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के अपरोक्त समादेश आम धार्मिक मन को बड़े विचित्र मलूम होंगे। किन्तु यही “विचित्रता” वास्तव में सत्य-धर्म का वह विशिष्ट गुण है जो उसे दूसरे धर्मों से अलग करता है और सच तो यह है कि यही आम धार्मिक प्रवृत्ति थी जिसके परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के समादेश इस्लाम के पैगम्बर (सल्ल.) ने दिए हैं। यह फ़रमाते समय आप (सल्ल.) के सामने पिछली उम्मतों का इतिहास था, धर्मों को परिवर्तित कर दिए जाने के अनुभव थे। इच्छाओं (मन) का दमन और संन्यास-सम्बन्धी दर्शन थे। आप (सल्ल.) को मालूम था कि अल्लाह के ‘दीन’ (धर्म) को केवल मन के पुजारी ही नष्ट नहीं करते रहे हैं, बल्कि धर्मात्माओं की अति और कट्टरता भी उसको नया रूप और नया स्वभाव देती रही है और जिस चीज़ और जिस इबादत में कट्टरता की अभिरुचि सबसे ज़्यादा जगह पाती रही है, वह यही रोज़ा है। रोज़े की इबादत को लोगों ने निरन्तर भूखा रहने का रूप दे दिया और इस अबोध आस्था के साथ दे दिया कि निराहार जितना ही अधिक लम्बा होगा रोज़े का उद्देश्य उतना ही अधिक पूर्ण रूप में प्राप्त होगा। फिर यह दृष्टिकोण आगे बढ़ा और मन का दमन और संन्यास-ग्रहण करना धार्मिकता का शिखर कर्म बन गया। यह थी वह पृष्ठभूमि जिसकी मौजूदगी में अल्लाह के अंतिम रसूल होने की हैसियत से आप (सल्ल.) ने उचित रूप से अनिवार्य समझा कि लोगों को अच्छी तरह सचेत कर दें और उन खतरों से इस्लाम को पूरी तरह सुरक्षित रखने पूरा-पूरा प्रबंध कर जाएँ, जो हमेशा से अल्लाह के ‘दीन’ धर्म को पेश आते रहे और उसे बदल कर कुछ-से-कुछ बनाते रहे हैं। इस उद्देश्य से रोज़े को विशेष रूप से इंद्रिय-दमन स्वादों के और संन्यास की मनोहर कल्पनाओं की पनाहगाह बनने से सख्ती के साथ रोक दें। इसलिए यह बात आप (सल्ल.) ने अच्छी तरह लोगों के दिमाग में बिठा दी कि अल्लाह तआला ने रोज़े का जो आरम्भ और अन्त नियत किया है, व्यावहारिकतः भी उन्हें बाक़ी रखा जाए और उसका जो समय निश्चित है उसे अपनी ओर से कदापि न बढ़ाएँ। अन्यथा तुम तो इस भ्रम में पड़े रहोगे कि हमारा यह कर्म तो अल्लाह के लिए है, इसलिए इससे हमारा और अधिक भला होगा। किन्तु सत्य कुछ और ही होगा। क्योंकि तुम्हारा यह काम देखने में तो भलाई का और खुदा के अनुसारेण का काम और नीयत के दृष्टि से अल्लाह ही के लिए सही, मगर इसके साथ यह भी तो होगा कि वह ‘दीन’ की वास्तविक प्रकृति और बन्दगी (उपासना) की वास्तविक धारणा को शेष न रहने देगा और यह एक ऐसा बड़ा अभाव होगा जिसका क्षतिपूर्ति किसी प्रकार न हो सकेगी। धर्म (दीन) का ध्वजाधारी समुदाय अगर यही न जानता हो कि ठीक-ठीक उसका मार्ग और मंज़िल क्या है, तो वह अपने पद की ज़िम्मेदारी को सही तरीक़े से पूरा किस प्रकार कर सकेगा? इस अति महत्वपूर्ण निहित हित को यदि सामने रखा जाए, तो नज़र आएगा कि सहरी और इफ़तार का मसला जो देखने में मामूली-सा है, वास्तव में एक महान मसला है। यह वास्तव में दीन की सही धारणा के संरक्षण का मसला है सहरी और इफ़तार का इन शरई हिदायतों पर अमल करना वस्तुतः दीन की वास्तविक प्रकृति की रक्षा एक अवश्यंभावी उपाय है, और उनकी उपेक्षा उस प्रकृति को विकृत करने का द्वार खोलना है। इस प्रकार दीन की प्रकृति और स्वभाव बदल गया, और यदि अंशतः भी संन्यास का रूप धारण कर लिया तो निस्सन्देह उम्मत का भलाई की स्थिति में होने और ‘दीन’ के प्रभावी और क्रियान्वित रहने का कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाएगा।

१. बैहक़ी (मिशकात के हवाले से, पृ. १७३)

१. मिशकात हदीस,

१. नमाज़ पढ़ने समय की एक विशेष शारीरिक स्थिति। इस स्थिति में नमाज़ी हाथ बांधे या खोले सीधे सामने सजदे की जगह नज़रें किए हुए खड़ा होता है।

—अनुवादक

१. नमाज़ में जब नमाज़ी घुटनों पर हथेली रख कर झुका हुआ होता है अर्थात् कमर से नीचे और कमर से उपरी भाग कोण की दो भुजाओं की भांति झुक कर कमर के बिन्दु पर ९० का कोण (समकोण) बनाता है। इस स्थिति को ‘रुकूअ’ कहते हैं। जब बैठ कर नमाज़ी ज़मीन पर माथा टेके हुए होता है उस स्थिति को ‘सजदा’ कहते हैं।

२. यही कारण है कि दूसरी जगह कहीं भी नमाज़ पढ़ी जाए ज़रूरी है कि मुँह उसी घर की ओर हो, ताकि अगर नमाज़ के असल मक़ाम पर नमाज़ पढ़ने की सुविधा उपलब्ध न हो, तो कम-से-कम चेहरे का रख तो उस ओर अवश्य रहे। “असल मुसल्ला अर्थात् वास्तविक मसजिद यही काबा है और संसार

की अन्य सभी मसजिदें इसकी स्थानापन्न हैं।

१. तकबीर: अल्लाहु अकबर

तहलील: “ला इला-ह इल्लाहु

२. अरबी महीनों में से एक महीने का नाम। अरबी महीनों के क्रमनुसार यह बारहवाँ महीना है। —अनुवादक

१. अल्लाह से गुनाहों की माफी की प्रार्थना

२. एक स्थान का नाम है। यहाँ पहुँचकर हाजी गत शैतान को पत्थर मारते हैं।
